श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिविरचितम्

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्

(श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यकृतसंस्कृतटीकासहितम्)

हिन्दीभाषानुवादकः
पण्डितपन्नालालसाहित्याचार्यः

प्रकाशक
श्री धर्मश्रुत शोध संस्थान, श्री दि० जैन रत्नत्रय मन्दिर नसिया जी,
कोटला रोड, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

कृति - बृहत्स्वम्भूस्तोत्र **पुष्प संख्या** - प्रथम

कृतिकार - स्वामी समन्तभद्राचार्य

संस्कृत टीकाकार - प्रभाचन्द्राचार्य

हिन्दी टीकाकार - पं० पन्नालाल ''साहित्याचार्य'' सागर (म०प्र०)

प्रकाशन प्रेरणा - कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी, श्रीक्षेत्र, श्रवणबेलगोला (कर्ना०)

पावन प्रसङ्ग - बीसवीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र-चक्रवर्ती श्रीशान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि श्रीधर्मसागर जी महाराज के पट्ट शिष्य प्रज्ञाश्रमण, अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी मुनिश्री अमितसागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में गोम्मटेश्वर बाहुबली भगवान के सन् २०१८ के महामस्तिकाभिषेक के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

[पुस्तक प्राप्ति स्थान]

१. चन्द्रा कापी हाऊस, हास्पिटल रोड, आगरा (उ०प्र०) मो०: ०९४१२२६०८७९

२. वास्ट जैन फाउण्डेशन ५९/२ बिरहाना रोड, कानपुर (उ०प्र०)
मो०: ०९४५१८७५४४८

३. आलोक जैन, हनुमानगंज
C/O श्री दिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी, कोटला रोड,
फिरोजाबाद (उ०प्र०) मो०: ०९९९७५४३४१५

४. आचार्य श्री शिवसागर ग्रन्थमाला, श्री शान्तिवीर नगर,
श्री महावीर जी, जिला-करौली (राज०)

५. श्री दिगम्बर जैन अष्टापद तीर्थ, विलासपुर चौक, धारूहेड़ा,
गुडगाँव (हरि०) मो०: ०९३१२८३७२४०

६. प्राचीन आर्ष ग्रन्थालय, जैन बाग, सहारनपुर (उ०प्र०)
मो०: ०९४१०८७४७०३

७. विशुद्ध ग्रन्थालय, सर्वऋतु विलास, उदयपुर (राजस्थान)

८. श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, कीर्तिनगर, टोंक रोड, जयपुर (उ०प्र०)
फोन नं०: ०१४१-२७०१२७९

९. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, कटरा सेवा कली, नया शहर, इटावा (उ०प्र०)

कम्पोजिंग - वर्धमान कम्प्यूटर, फिरोजाबाद (उ०प्र०)

संशोधित संस्करण - पञ्चम, सन् २०१८

प्रतियाँ - १०००

मूल्य - १०० ₹ — तीन बार स्वाध्याय का नियम

मुद्रक - महेन्द्रा पब्लिकेशन प्रा०लि०, ई-मेल-४२, ४३, ४४, सेक्टर ७ नोएडा (उ०प्र०)

प्रज्ञाश्रमण मुनि

मंगल कामना के दो शब्द

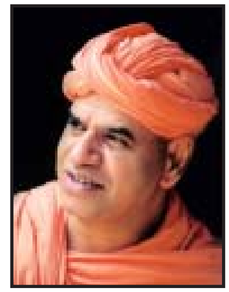

भारतीय संस्कृति में भक्ति का बड़ा ही महत्त्व है, भारत के हर धर्म भगवद् भक्ति पर जोर देते हैं, चाहे भक्ति; भगवान नामरूप हो, जापरूप हो पूजा रूप हो अथवा गुणानुवाद रूप हो; इन अनेक रूपों में अपने इष्ट भगवान की आत्म शक्ति की उपकारों की प्रशंसा करना भक्त का कर्त्तव्य होता है।

भक्ति का महत्त्व तब और भी अधिक बढ़ जाता है, जब भक्त अपने इष्ट प्रभु-परमात्मा के उपकार को; आगम—सिद्धान्त-न्याय व्याकरण की शैली में वर्णित करता है।

ऐसे ही आगम निष्ठ, तार्किक विद्वान, समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित भक्ति पूरित ''बृहद्स्वयम्भूस्तोत्र कृति'' है, जिसमें आचार्यश्री ने चारों अनुयोगों के भावों को गुम्फित किया है, इसका प्रथम संस्करण प्रभाचन्द्राचार्य की टीका सहित, पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा हिन्दी सम्पादन के रूप में श्री शान्तिवीर नगर, अतिशय क्षेत्र महावीर जी से प्रकाशित हुआ था।

इसके बाद अनेक मुनि संघों से इसका प्रकाशन होता रहा है, किन्तु मूल स्तोत्र, संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद में पाठ भेद, प्रूफरीडिंग अथवा व्याकरण की अशुद्धियाँ को निर्नाम ब्रह्मचारियों के सहयोग से दूर कर शुद्ध सम्पादन करने का प्रयास इसमें किया है।

इस कृति का शुद्ध सम्पादन; प्रज्ञाश्रमण मुनिश्री अमितसागर जी द्वारा होकर गोम्मटेश बाहुबली भगवान के सन् २०१८ में होने वाले महामस्तकाभिषेक के उपलक्ष्य में प्रकाशित करने जा रहे हैं।

जगद्गुरु कर्मयोगी
स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी जी
अध्यक्ष - एस.डी.जे.एम.आई एम.सी.ट्रस्ट (रजि०)
जैन मठ, श्रवणबेलगोला, कर्नाटक

प्रज्ञाश्रमण मुनि

प्रकाशकीय

गुरुदेव कहा करते हैं कि दर्पण और दीपक कभी झूठ नहीं बोलते हैं। जलते हुए दीपक को कहीं भी ले जा सकते हैं, किन्तु अँधेरे को कहीं नहीं ले जा सकते हैं।

जैन धर्म का आगम - सिध्दान्त; दर्पण एवं जलते हुए दीपक की तरह है। नकटे या कुरूप को दर्पण दिखाने से उसके कषाय उत्पन्न होती है। चोर-व्यभिचारी-व्यसनी को रोशनी का भय सताता है।

अज्ञानी; ज्ञान-दीपक का सामना नहीं कर सकता है । व्यसनी; दर्पण की झलक को सहन नहीं कर पाता है।

दर्पण; आदर्श को कहते हैं । दर्प जिसमें नहीं हो वह दर्पण है । दर्पण में देखने सब ललकते हैं, किन्तु दर्पण किसी को देखने नहीं ललकता; यही तो उसका आदर्श है।

दर्पण और दीपक को डराने-धमकाने वाले पत्थर और आँधियाँ हैं । जो दर्पण; पत्थर से नहीं डरता वही दर्पण है । जो दीपक; आँधियों से नहीं घबड़ाता वही दीपक है।

हम अपनी बात इन्हीं दो पूर्ण सत्यों के साथ प्रारम्भ करते हैं। पूज्य गुरुदेव से फिरोजाबाद जनपद की जनता; सन् १९९२ से परिचित हैं। परिचित हैं उनके दर्पणवत् स्वभाव से; धनिक-निर्धन, पूजक-निन्दक दोनों समान। परिचित हैं उनके दीपकवत् साहस से। वो कभी अपना परिचय स्वयं इस अन्दाज में देते हैं —

आँधियों के बीच जो जलता हुआ मिल जाएगा ।
उस दिये से पूछना मेरा पता मिल जाएगा ॥

अय ! आँधियों अपनी औकात में रहो ।
हम तो जलते हुए दिये हैं जलते ही रहेंगे ॥

देख चिरागों के शोले मञ्जिल से इशारा करते हैं ।
तू हिम्मत हारा जाता है कहीं हिम्मत हारा करते हैं ?

हम जनपदवासी; सन् १९९२ से इस जलते हुए दीपक को देख रहे हैं, जो व्यक्ति, परिवार, समाज, गाँव, शहर, राज्य, राष्ट्र एवं विश्व के लिए, अपने प्रकाश से मार्गदर्शन कर रहा है।

इस जलते हुए दीपक को; कितनी आँधियों - तूफानों ने बुझाने की कोशिश की, लेकिन यह दीपक बुझने की जगह और भी अधिक प्रकाशमान हो गया और अँधी-आँधियाँ; हार मानकर बैठ गईं ।

इस दर्पण को; कितने ही छोटे-छोटे कङ्कण ही नहीं; पहाड़ जैसे पत्थर भी धमकी देते रहे, लेकिन दर्पण; दर्पण ही रहा, उन वेजान पत्थरों के सामने समर्पण नहीं हुआ ।

बस; इन्हीं दो उपमाओं में ही इस व्यक्ति का व्यक्तित्व समाया है । ख्याति-पूजा-लाभ से दूर, दूरदर्शन के प्रदर्शन एवं पोस्टरों के पोस्ट की परछाईयों से विलग, अनेक उपाधियों और पद-प्रतिष्ठा की होड़ से उदासीन।

एक वैज्ञानिक की तरह वस्तु-तत्त्व की तह में जाकर उसे समझना जिनके स्वभाव में है। बड़े-बड़े

ग्रन्थों के रहस्यों को सरलता से; **स्वरूप भेद और स्वामी भेद की कुञ्जी से; आगम, युक्ति, गुरूपदेश एवं स्वानुभव से सिध्द करना उनका लक्ष्य रहता है ।**

वैसे तो इतिहास में कोई भी आचार्य - गुरुजन अपना भौतिक परिचय लिखकर नहीं गए, किन्तु उनके जीवन्त कृत्य ही उनके अमर परिचय हो गए । गुरु जी कहा करते हैं कि —

अच्छे कार्य स्वयं में प्रशंसनीय हुआ करते हैं, अतः हमें कभी; दूसरों से प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए ।

फिर भी हम भक्त-श्रध्दालुजन अपने इष्ट की आराधना-स्तुति करके पुण्योपार्जन कर लेते हैं, यह एक उद्देश्य है । दूसरा उद्देश्य; सब कोई उनके बारे में; उनके परिचय से सही परिचित हों प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से, अतः इस उद्देश्य से उनका परिचय भी देना अनिवार्य है।

आप में देखा है हम सबने; कुन्दकुन्दाचार्य का अध्यात्म और उनके जैसा धर्मायतनों को बिना हिंसा के बचाने वाला **''बलात्कारगण'',** मैनपुरी एवं फिरोजाबाद इनके उदाहरण हैं।

समन्तभद्राचार्य जैसा शास्त्रार्थ करने का अदम्य साहस एवं फिरोजाबाद जिले के चन्द्रवाड़ के किले में मूर्तियाँ प्रगटाने वाला गौरव पूर्ण अतिशय इसका प्रमाण है।

पूज्यपादाचार्य जैसी आगमोक्त लक्षणावली आप में हैं, क्योंकि आप पूज्यपादाचार्य एवं समन्तभद्राचार्य के आगम को सिराहने रखकर सोते हैं, यह अनुत्तर जिज्ञासा टीका इसका जीवन्त प्रतीक है ।

अकलङ्काचार्य जैसे प्रमाणों की प्रचुरता; उनकी वाणी एवं लेखनी में विराजमान रहती है। आप कहते हैं, एक दर्पण को देखने; दूसरे दर्पण की जरूरत नहीं होती है, अतः एक प्रमाण के लिए दूसरे प्रमाण की जरूरत नहीं होती है। **जिसको जिनवाणी-आगम-सिद्धान्त में ही श्रध्दा नहीं है, उसे कितने ही आगम-सिध्दान्त दिखला दो; मानने वाला नहीं है।**

मानतुङ्गाचार्य जैसी ताले टूटने वाली आश्चर्यकारी घटनाओं से फिरोजाबाद जनपद अनजान नहीं है। वादिराज मुनिराज जैसी आस्था से असाध्य रोग से मुक्ति के चमत्कारी दृश्य जिनके स्वयं पैदा हो गए ।

जिनसेनाचार्य जैसे निर्विकार - अनासक्त भाव; जो कर्त्ता में अकर्त्ता, भोक्ता में अभोक्ता की अनुभूति कराते हैं।

अमृतचन्द्राचार्य जैसे निर्नाम निर्माण — कहीं - किसी भी जगह अपने व्यक्तिगत नाम के कोई आश्रम - मठ - मन्दिर, संस्थान आदि नहीं बनवाये । आप कहते हैं कि —

जिस खुदा ने ये दुनिया बनाई, उसने अपनी फोटो नहीं छपाई ।
दुनिया को बर्वाद करने वाले, अपनी फोटो छपाते फिरते हैं ।।

आपका हमेशा शिक्षा एवं चिकित्सा पर जोर रहता है । शिक्षा चाहे लौकिक हो या पारलौकिक; सभी को प्रोत्साहन देते हैं । छोटे बच्चों से पढ़ाई के लिए पूछते हैं कि तुम्हें क्या बनना है ? **''कुर्सी विछाने वाला चपरासी या कुर्सी पर बैठने वाला ऑफीसर । बड़े बच्चों को कहते हैं कि तुम्हारी चार साल की पढ़ाई का जीवन; तुम्हारे चालीस साल बना देगा, फालतु वातावरण से बचो ।''**

बालकों से लगाव, युवाओं को प्रेरणा, वृध्दों की सेवा-वैय्यावृत्ति, समाधिस्थों की साधना में आपका निर्यापकाचारित्व अनुभूत आदर्श है ।

आपकी प्रथम प्रकाशित कृति मन्दिर है जो अद्यावधि हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं अंग्रेजी

संस्करणों में; लगभग दो लाख प्रतियों से भी अधिक प्रकाशित हो चुकी हैं ।

आपने बाल साहित्य के रूप में बालगीत, बाल कहानियाँ, जैन चित्र कथायें, बाल विज्ञान के क्रमशः पाँच भाग, आसान उच्चारण, सरल उच्चारण, अनुपम पाठसंग्रह, रयणसार, द्रव्य संग्रह द्वारा मूलपाठों को उच्चारण-पढ़ने योग्य बनाया है।

इसी के साथ कई ग्रन्थों के प्रकाशन की प्रेरणा दी; जिनमें धर्म परीक्षा, सम्यक्त्व कौमुदी, दानशासन, दान चिन्तामणि, धर्मध्वज विशेषाङ्क, भक्तामर शतद्वयी, सिरिभूवलय, नाममाला, चौबीस ठाणा, गुरु-शिष्य दर्पण, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, श्री सिध्दचक्र विधान; कवि-सन्तलाल जी, जैन-अभिषेक पाठ संग्रह, चौंतीस स्थान दर्शन आदि कृतियाँ कुछ प्रकाशित हैं, कुछ प्रकाशकाधीन हैं।

प्रवचन सङ्कलन में; आँखिन देखी आत्मा — इसमें उत्तमक्षमादि दशधर्मों के स्वरूप को, आगमिक, वैज्ञानिक आदि के आधार पर विवेचित किया गया है । दशलक्षण पर्वों में विद्वानों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है ।

अन्तरङ्ग के रङ्ग — इसमें षट्लेश्या का वर्णन किया गया है। आप अपने परिणामों का स्वयं निरीक्षण करें । अपने भावों के अच्छे-बुरे की पहचान होती है।

अनुत्तर यात्रा — सोलह कारण भावनाओं का औपन्यासिक विश्लेषण है कि साधारण-सी आत्मा त्रैलोक्य पूज्य तीर्थङ्कर पद तक कैसे पहुँचती है ? कई संस्करणों में प्रकाशित हो चुके हैं।

नीतिशास्त्र; कुरल काव्य कृति — उन नीतियों का संग्रह है जो दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य ने सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय संकलित की थीं । जिनकी आज; व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य एवं राष्ट्र के कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक करने की परम आवश्यकता है। इसका सम्पादन किया जो प्रभात प्रकाशन दिल्ली से २०१० में प्रकाशित हुआ ।

आपकी ''बोलती माटी'' महाकाव्य कृति — सरलतम भाषा की एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसमें एक अकिञ्चन्य माटी को पात्र बनाकर, मद से भरे पात्रों को निर्मद बना दिया । तुच्छ से उच्च बनाने की शिक्षा देने वाली कृति; आज नहीं तो कल इसकी आवश्यकता अवश्य होगी । इसका प्रथम संस्करण; लगभग बाईस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, किन्तु पुनः उसके संशोधित-संस्करण का प्रकाशन अब हो चुका है।

अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वार्थसार कृति — आपके द्वारा सम्पादित आगम की प्रथम कृति है जिसका श्रीधर्मश्रुत ज्ञान, हिन्दी टीका के रूप में सम्पादन; सन् २०१० में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित किया गया।

आज हमें यह परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है कि हम पूज्य मुनिश्री के द्वारा सम्पादित बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र का प्रकाशन कर रहे हैं।

गुरुदेव के द्वारा संकलित, रचित, सम्पादित साहित्य में मुनिश्री की अयाचित वृत्ति से; दान दाता उदार मन से स्वेच्छया राशि से सहयोग करते हैं, उन दानी महानुभावों के हम आभारी हैं।

मुनिश्री द्वारा निर्देशित श्रीधर्मश्रुत शोध संस्थान, श्रीदिगम्बर जैन रत्नत्रय मन्दिर, नसिया जी, कोटला रोड, फिरोजाबाद (उ० प्र०) । जिसमें प्राचीन-हस्तलिखित हजारों पाण्डु लिपियाँ एवं प्राचीन-अर्वाचीन प्रकाशित- उपलब्ध-अनुपलब्ध ग्रन्थ भण्डार में जैन धर्म पर शोध करने वालों के लिए उपलब्ध रहे एवं प्राचीन साहित्य-आगम-सिध्दान्त का संरक्षण-संवर्ध्दन हो । इसके लिए सकल जैन समाज मुनिश्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

प्रस्तावना

स्तुति का स्वरूप तथा प्रयोजन–

जब तक यह जीव शुक्लध्यान की उस भूमिका में नहीं पहुँच जाता, जिसमें कि पूज्य-पूजक, आराध्य-आराधक का विकल्प दूर हो जाता है, तब तक पूज्य के प्रति राग का भाव नियम से होता है। उस भक्ति सम्बन्धी राग को प्रकट करने के लिए यह जीव पूज्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है, कृतज्ञता को प्रकट करने के अनेक मार्गों में स्तुति भी एक मार्ग है। 'णमो अरहंताणं' आदि महामन्त्र इसी स्तुतिमार्ग का एक उद्घोष है। विद्यानन्द स्वामी ने कहा है–'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'- सत्पुरुष किये हुए उपकार को नहीं भूलते। प्राकृत दशभक्तियों के रूप में कुन्दकुन्द स्वामी ने तथा संस्कृत दशभक्तियों के रूप में पूज्यपाद स्वामी ने इसी स्तुतिमार्ग को प्रगट किया है।

स्तुति करने का आन्तरिक प्रयोजन 'तद्गुणलब्धये' है। आराध्य में जो गुण हैं वे मुझ आराधक को भी प्राप्त हो जावें, यही एक प्रयोजन स्तुति करने का रहता है। आराध्य के अनन्तगुणों का समावेश वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता, इन तीनों गुणों में हो जाता है। यह गुणत्रय मुझे प्राप्त हो इसी उद्देश्य से ज्ञानी जीव स्तुति या आराधना करते हैं। इसके सिवाय किसी सांसारिक फल की अभिलाषा से यदि स्तुति होती है तो वह सम्यक् स्तुति नहीं है। जिस स्तुति के अन्दर भोगोपभोग की प्राप्ति का लक्ष्य है, वह वास्तव में शुभोपयोग का भी विषय नहीं है। समन्तभद्र स्वामी के द्वारा रचा हुआ यह स्तोत्र आन्तरिक शुद्धि का प्रमुख कारण है।

स्तोत्र का नाम–

भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्युट पूना से प्राप्त इसकी एक हस्तलिखित प्रति के पुष्पिका वाक्य में लिखा है–'इति श्री समन्तभद्राचार्यविरचितं चतुर्विंशतिजिनस्तोत्रं समाप्तम्' इस पुष्पिका वाक्य से तथा स्तोत्र की रचना से प्रतीत होता है कि इस स्तोत्र का वास्तविक नाम 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र' है। पीछे चलकर जैसे स्तोत्र के प्रथम पद से आदिनाथ स्तोत्र का नाम 'भक्तामर-स्तोत्र' और पार्श्वनाथ-स्तोत्र का नाम 'कल्याणमन्दिर-स्तोत्र' चल पड़ा, उसी प्रकार इस स्तोत्र का नाम 'स्वयम्भू-स्तोत्र' चल पड़ा। एक स्वयम्भू-स्तोत्र आचार्य पद्मनन्दी का भी है, जिसमें चौबीस तीर्थङ्करों के चौबीस श्लोक हैं, उससे पार्थक्य सिद्ध करने के लिए इस स्तोत्र का नाम

'बृहत्स्वयम्भू-स्तोत्र' चल पड़ा। वैसे संस्कृत टीकाकार के इस उल्लेख के अनुसार 'स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुध्य अनुष्ठाय वानन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयम्भूः– स्वयं अर्थात् परोपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जानकर और तदनुरूप अनुष्ठान कर जो अनन्तचतुष्टयरूप से उत्पन्न होते हैं, वे स्वयम्भू कहलाते हैं। यहाँ टीकाकार के मन्तव्यानुसार स्वयम्भू शब्द तीर्थङ्कर का वाचक है, इसलिए 'स्वयम्भू-स्तोत्र' का अर्थ भी तीर्थङ्करों का स्तोत्र होता है। जैनधर्म में ऐसे स्वयम्भू चौबीस माने गये हैं। यह चौबीस तीर्थङ्करों की परम्परा भरत और ऐरावत क्षेत्र में दशकोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण वाले प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में होती है। ऐसे अनन्त चौबीस तीर्थङ्कर भूतकाल में हो चुके हैं और भविष्यत्काल में होते रहेंगे। उन सबका स्मरण रख सकना क्षायोपशमिक ज्ञान के वश की बात नहीं है। संक्षेप में एक भूतकाल की, एक वर्तमान काल की और एक भविष्यत्काल की ऐसी तीन चौबीसियों की नामावली स्मरण में रखी जा सकी है। अढ़ाई द्वीप सम्बन्धी पाँच भरत और पाँच ऐरावत, इस तरह दश क्षेत्रों की त्रिकाल सम्बन्धी चौबीसी की अपेक्षा तीस चौबीसियाँ भी प्रसिद्ध हैं। विदेह क्षेत्र के विद्यमान बीस तीर्थङ्कर अथवा उत्कृष्टता की अपेक्षा १६० तीर्थङ्कर, चौबीसी की उक्त गणना से परे हैं।

स्तोत्र के आराध्य चौबीस तीर्थङ्कर–

वास्तव में तीर्थङ्कर महोपकारी पुरुष हैं। चतुर्गति के चक्र में अनादिकाल से परिभ्रमण करने वाले इस जीव को इस परिभ्रमण से बचाने वाला मार्ग इन तीर्थङ्कर भगवन्तों ने ही बताया है, अतः उनके प्रति भक्ति के उद्गार निकलना स्वाभाविक है। वर्तमानकाल सम्बन्धी चौबीसी में—१. वृषभ, २. अजित, ३. शम्भव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त या सुविधिनाथ, १०. शीतल, ११. श्रेयोनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुन्थु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्व और २४. वर्द्धमान (महावीर, सन्मति, वीर, अतिवीर); ये चौबीस तीर्थङ्कर आते हैं। इनका स्तवन इस 'चतुर्विंशतिजिन-स्तोत्र' में हुआ है। उक्त चौबीस तीर्थङ्कर तीसरे काल के अन्त से लेकर चतुर्थकाल के अन्त तक हुए हैं। सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय वर्ण और लोकप्रख्यात पुरुष थे। भगवान् वृषभदेव का ऋग्वेद की ऋचाओं

तथा भागवत और अन्य अनेक पुराणों में उल्लेख आता है । नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का वर्णन भारतीय साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध है ही । जो तीर्थ–धर्म की आम्नाय चलाते हैं, वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं । इस पद की प्राप्ति के लिए दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तन करना होता है । सम्यग्दर्शन की निर्मलता के साथ लोक कल्याण करने की प्रबल भावना, जब इस कर्मभूमिज मनुष्य के होती है, तब उसे तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है । यह पद महादुर्लभ है तथा अत्यन्त-निकट-भव्यजीवों को ही प्राप्त होता है । इस पद के धारक जीव एक साथ १७० से अधिक नहीं हो सकते ।

स्तोत्र का आन्तरिक परीक्षण–

इस चतुर्विंशति जिनस्तोत्र के संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इस स्तोत्र का 'यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः'–समस्त जैन सिद्धान्त को विषय करने वाला कहा है अर्थात् इसमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग–इन चारों अनुयोगों का मथितार्थ सन्निविष्ट किया गया है । इस स्तोत्र के पाठ से मात्र भगवान् की भक्ति ही प्रकट नहीं होती, परन्तु जैन सिद्धान्त या जैनदर्शन का मौलिकरूप भी सामने आता है । स्तुति किसकी और किस उद्देश्य से करनी चाहिए ? इन सबका समाधान इस स्तोत्र में मिलता है ।

अठारहवें अरनाथ के स्तवन में २०, बाईसवें नेमिनाथ के स्तवन में १०, चौबीसवें वर्धमान स्वामी के स्तवन में ८ और शेष इक्कीस तीर्थङ्करों के स्तवनों में प्रत्येक में पाँच-पाँच श्लोक हैं । सब मिलाकर पूरे स्तोत्र में १४३ श्लोक हैं । ये श्लोक वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र, (अनुष्टुप्) वैतालीय, शिखरिणी, उद्‌गता और आर्यागीति आदि छन्दों में रचे गये हैं । उपमा रूपक आदि अर्थालंकारों तथा अनुप्रास और यमक नामक शब्दालङ्कारों के प्रयोग ने रचना की शोभा में चार चाँद लगा दिये हैं । तात्पर्य यह है कि यह स्तोत्र जहाँ अर्थ की दृष्टि से उच्चकोटि का है, वहाँ भाषा की दृष्टि से भी उच्चकोटि का है ।

इस स्तवन में कितने ही तीर्थङ्करों के स्तवन वर्णनात्मक हैं अर्थात् उनमें तीर्थङ्करों की जीवन घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है, जैसे–प्रथम, सोलहवें, बाईसवें और तेईसवें तीर्थङ्करों के स्तवन तथा कितने ही तीर्थङ्करों के स्तवन, जैनधर्म के सिद्धान्त एवं

दर्शन की विवेचना करने वाले हैं । जैसे—पाँचवें, नौवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और अठारहवें तीर्थङ्करों के स्तवन । समन्तभद्र स्वामी, स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे, न्यायशास्त्र के वे आद्य उपस्कर्ता कहे जाते हैं । उन्होंने अपने देवागम-स्तोत्र (आप्त-मीमांसा) में स्याद्वाद का जो समर्थन किया है, उसकी यथाकथञ्चित् पुट हम इस स्तोत्र में भी प्राप्त करते हैं । अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों की उपादेयता, भवितव्यता का समर्थन, बाह्यतप और अन्तरङ्गतप की उपयोगिता, अहिंसा की आवश्यकता, जैन तपस्या का प्रयोजन और नयों का पारस्परिक अविरोध आदि अनेक विषयों का समन्वयात्मक वर्णन, आचार्य महोदय ने इस स्तोत्र में किया है । स्तवन करते समय किसके लिए ? कब ? कौन ? विशेषण उपयुक्त हो सकता है, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा है ।

(१) ऋषभनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए द्वितीय श्लोक में भगवान् को 'प्रजापति' विशेषण दिया है । 'प्रजापति' विशेषण की सार्थकता को प्रकट करते हुए उन्होंने जो चित्र खींचा है, वह कितना मनोरम है ? कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से उस समय की जनता आजीविका के बिना दुःखी हो गई । भूख-प्यास की बाधा से उस समय की जनता जीवित रह सकेगी, इसका संदेह आ पड़ा । भगवान् वृषभदेव ने जीवित रहने की इच्छुक जनता को असि, मषी, कृषि आदि षट्कर्मों का उपदेश देकर जीवित रखा । उन्होंने राजा, प्रजा, देश, नगर आदि का विभाग कराया । तात्पर्य यह है कि वे सही मायने में प्रजापति हुए । प्रजापति—ब्रह्मा की तरह उन्होंने सृष्टि की तत्कालीन व्यवस्था की । तृतीय श्लोक में भगवान् की तपश्चर्या का वर्णन करते हुए उन्हें 'सहिष्णुः' और 'अच्युतः' इन दो महत्त्वपूर्ण विशेषणों से अलंकृत किया है । इन विशेषणों में उनके तपश्चरण काल की वह घटना छिपी हुई है, जिसमें एक वर्ष तक निराहार रहने का दुःख उन्होंने सहन किया था । छह माह का अनशनयोग तो उन्होंने बुद्धिपूर्वक लिया ही था और छह माह तक आहार की शास्त्रोक्त विधि न मिलने के कारण एक वर्ष तक क्षुधा परिषह की बाधा सहनी पड़ी, परन्तु उन्होंने समताभाव से यह बाधा सहन की । उनके साथ दीक्षा लेने वाले चार हजार राजा भूख-प्यास की बाधा न सह सकने के कारण कुछ ही समय में गृहीतव्रत से च्युत हो गये, पर भगवान् ऋषभदेव अपने व्रत में अच्युत ही रहे । कोई भी बाधा उन्हें गृहीतव्रत से च्युत नहीं कर

सकी। भगवान् ने जनता को हितोपदेश कब दिया ? इसका सुन्दर उत्तर चतुर्थ श्लोक में दिया है—जब उन्होंने आत्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा आत्मदोषों के मूल कारण को भस्म कर दिया अर्थात् अपने आपको जब सर्वथा निर्दोष बना लिया, तब उन्होंने इच्छुकजनों के लिए तत्त्व का उपदेश दिया। आत्मशुद्धि के बिना दूसरों को उपदेश देना उपदेश की बिडम्बना मात्र है। स्तुति के बाद उसके फलस्वरूप आचार्य महाराज किसी लौकिक फल की आकांक्षा न रखकर यह इच्छा प्रकट करते हैं—'पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो' भगवान् वृषभदेव हमारे चित्त को पवित्र कर दें—उसे मोह और ममता से रहित कर दें।

(२) अजितनाथ भगवान् के अजित नाम की सार्थकता बतलाते हुए प्रथम श्लोक में कहा गया है—मित्रों की दो टोलियाँ खेल रही हैं; एक टोली के नेता थे अजितनाथ और दूसरी टोली के दूसरे लोग। जिस टोली के नेता बालक अजितनाथ थे, उस टोली की जीत होती है। उस जीत से उनके साथियों के मुखारविन्द विजयोन्मत्त हो जाते हैं और अपने नेता का अजित नाम रखते हैं। इसी स्तवन के अन्त में अजितनाथ भगवान् की जिन विशेषताओं का वर्णन किया गया है, वे बहुत ही आकर्षक हैं। आचार्य महाराज ने लिखा है—जो ब्रह्मनिष्ठ—आत्मस्वरूप में स्थित हैं, जिन्हें शत्रु और मित्र बराबर हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान से कषाय—रागद्वेषरूपी दोषों को बिलकुल अलग कर दिया है अर्थात् जिनका ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित हो गया है; जिन्होंने आत्मलक्ष्मी—ज्ञानदर्शन के उत्कृष्ट विकासरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है तथा जिनकी आत्मा अजित है—किसी से जीती नहीं जा सकती, वे अजितनाथ भगवान् हमें जिनलक्ष्मी प्रदान करें—हमें तीर्थङ्कर बनावें।

(३) शम्भवनाथ भगवान् के शम्भव नाम की सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि जो अनित्य है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो अहंकार से सना हुआ है, जो मिथ्याध्यवसायरूपी दोषों में आसक्त है और इन सबके कारण जो जन्म, जरा तथा मृत्यु से दुःखी हो रहा है, ऐसे संसार को आपने अविनाशी-निर्दोष शान्ति प्राप्त करायी है, इसलिए आप शंभव हैं। शं—शान्ति अथवा सुख के, भव—उत्पादक हैं। निश्चयनय से आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, कर्मों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब बन्ध नहीं, तब मोक्ष कहाँ से आया ? इस प्रकार निश्चयनय के एकान्त में बन्ध, मोक्ष और उसके

फल की व्यवस्था नहीं बनती, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध और मोक्ष दोनों बन जाते हैं । भगवान् शंभवनाथ ने न केवल निश्चयनय का उपदेश दिया था, किन्तु साथ ही व्यवहारनय का भी उपदेश दिया था, इसलिए उनके मत से दोनों की संगति बैठती है ।

(४) अभिनन्दन जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए आचार्य ने कहा है कि आपने प्रारम्भ में क्षमारूपी सखी से सहित, दयारूपी वधू का आश्रय लिया और अन्त में शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर, निर्ग्रन्थ-वृत्ति धारण की । यहाँ दया को वधू और क्षमा को उसकी सखी बतलाकर आचार्य ने स्पष्ट किया है कि दया की रक्षा, क्षमा के बिना नहीं हो सकती तथा शुक्लध्यान की पूर्णता के लिए निर्ग्रन्थ-वृत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है । इसी स्तवन के अन्त में बताया है कि अनुबन्ध—आसक्तपना मनुष्य के संताप को उत्पन्न करने वाला है, वैषयिक सुख से तृष्णा की वृद्धि होती है, सुख की स्थिति प्राप्त नहीं होती, ऐसा आपका मत है और यही मत लोककल्याणकारी है, इसीलिए सत्पुरुषों की गति—आश्रय आप ही हैं ।

(५) सुमति जिनेन्द्र के स्तवन में दार्शनिक पद्धति को अपनाते हुए कथन किया गया है कि संसार के पदार्थ एक भी हैं, अनेक भी हैं । सत् भी हैं, असत् भी हैं । नित्य भी हैं, अनित्य भी हैं । विधिरूप भी हैं और निषेधरूप भी हैं । विवक्षा से इन सब धर्मों की सिद्धि होती है । यदि पदार्थ को सर्वथा नित्य माना जावे तो उसमें उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते तथा क्रिया और कारक की भी व्यवस्था नहीं बन सकती । असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता । बुझा दिये जाने पर यद्यपि दीपक का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है, परन्तु सर्वथा अभाव हुआ नहीं । जिस पुद्गल का पहले प्रकाश पर्याय में सद्भाव था, उसी पुद्गल का अब अन्धकार पर्याय में सद्भाव है ।

(६) पद्मप्रभ भगवान् के स्तवन में रूपक और उपमालङ्कार की पुट देते हुए कहा है कि जिस प्रकार कमलों को विकसित करने के लिए पद्मबन्धु—सूर्य प्रकट होता है, उसी प्रकार भव्यजीव रूपी कमलों को विकसित—आनन्दित करने के लिए आप प्रकट हुए हैं । पहले आप अटूट लक्ष्मी और अवधिज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते थे, परन्तु बाद में आप सर्वज्ञलक्ष्मी से सुशोभित एक सरस्वती को ही धारण करने वाले

रह गये । यहाँ यह भाव भी तिरोहित है कि आप अरहन्त अवस्था में अष्ट प्रातिहार्यरूपलक्ष्मी और केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते थे, परन्तु विमुक्त होने पर सिर्फ सर्वज्ञता से युक्त केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते हैं, क्योंकि सिद्धावस्था में प्रातिहार्यरूपलक्ष्मी का सद्‌भाव नहीं रहता ।

(७) सुपार्श्वनाथ भगवान् के स्तवन में कितनी ही अनूठी बातें कही गईं हैं । प्रथम तो यह कहा गया है कि स्वास्थ्य वह है जो अन्त से रहित हो । भोग, स्वार्थ–स्वास्थ्य नहीं है, क्योंकि वे भङ्गुर हैं–नश्वर हैं, तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं तथा तृष्णावर्धक होने के कारण उनसे संताप की शान्ति नहीं हो सकती । फिर शरीर की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा कि जिस प्रकार कोई चेतन प्राणी, किसी यन्त्र को लिए फिरता है, उसी प्रकार जीव इस अचेतन शरीररूपी यन्त्र को लिए फिरता है । यह शरीर ग्लानि युक्त है, दुर्गन्धित है, विनाशीक है और संताप करने वाला है, इसलिए इसमें स्नेह करना व्यर्थ है । मनुष्य को सबसे अधिक स्नेह, अपने शरीर से रहता है । उसका स्नेह छूट जाने पर अन्य सबका स्नेह अनायास छूट जाता है । इसी स्तवन में कहा गया है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों से उत्पन्न होने वाली भवितव्यता अलङ्घ्य है–उसे कोई टाल नहीं सकता । अहंकार से पीड़ित संसार का प्राणी अन्य लोगों के साथ मिलकर भी इस भवितव्यता को टाल नहीं सकता । इसी स्तोत्र में यह भी कहा गया है कि संसार का प्राणी मृत्यु से डरता है, पर उससे छुटकारा नहीं होता और नित्य ही मोक्ष की इच्छा करता है, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती । फिर भी अज्ञानी प्राणी भय और काम के वशीभूत हुआ दुःख उठाता रहता है ।

(८) चन्द्रप्रभ भगवान् की वादशक्ति का महत्त्वपूर्ण वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुनकर मदस्रावी हाथी, मद रहित हो जाते हैं । उसी प्रकार उनकी वाणीरूपी सिंह-गर्जना से अपने पक्ष के समर्थन सम्बन्धी गर्व से अवलिप्त वादी भी, मदरहित–गर्वरहित हो जाते थे । अन्त में चन्द्रप्रभ भगवान् को चन्द्रमा की उपमा देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदिनियों को विकसित करता है, उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् भव्यजीव रूप कुमुदिनियों को विकसित करने वाले थे, वर्तमान चन्द्रमा, मेघरूप कलंक के आवरण से आच्छादित हो जाता है, परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् दोषरूपी मेघ कलंक के आवरण से रहित थे । जिस प्रकार चन्द्रमा,

किरणों की माला से युक्त होता है। उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त स्पष्ट वचनों की स्याद्वाद रचनारूप किरणों की माला से युक्त थे, वर्तमान चन्द्रमा कलंक से युक्त होने के कारण कलंकी–अपवित्र कहलाता है, परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् कर्म कलंक से रहित होने के कारण पवित्र थे। ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मन को पवित्र करें– मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम भाव से मेरे मन को सदा दूर रखें।

(९) सुविधि जिनेन्द्र का यह स्तवन दार्शनिक पद्धति से भरा हुआ है। इसमें तद्, अतद्। नित्य, अनित्य। एक, अनेक आदि विरोधीभावों का समन्वय करने के लिए 'स्यात्' इस निपात की महिमा दिखाई गई है। कहा गया है कि पदार्थ नित्य है, क्योंकि उसमें 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति होती रहती है और पदार्थ नित्य नहीं भी है, क्योंकि उसमें 'यह अन्य है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। पदार्थ का यह नित्य और अनित्यपना विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणों से निमित्त-नैमित्तिकभाव इसी प्रकार का है।

(१०) शीतलनाथ भगवान् की वाणी की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे निष्कलङ्क भगवन्! शान्तिरूपी जल से गर्भित आपकी वाणी जितनी शीतल है, उतना शीतल न तो चन्दन है, न चन्द्रमा की किरणें हैं, न गंगा का पानी और न मोतियों की मालाएँ हैं। जैन तपश्चरण का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि कितने ही तपस्वी; सन्तान, धन और उत्तरलोक–मरण के बाद प्राप्त होने वाले स्वर्गादि लोक की आकांक्षा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आपने जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोका है–तपश्चरण किया है।

(११) श्रेयोनाथ भगवान् के स्तवन में गौण और मुख्य की विवक्षा करते हुए दार्शनिक पद्धति से विरोधी भावों का वर्णन किया है। साथ ही यह कहा है कि आप एकान्तदृष्टि का विरोध करने वाली अनेकान्त दृष्टिरूपी बाणों के द्वारा मोहरूपी शत्रु को नष्टकर केवलज्ञानरूपी विभूति के सम्राट् हुए हैं, इसलिए आप मेरे द्वारा स्तुति के योग्य हुए हैं।

(१२) वासुपूज्य भगवान् के स्तवन में उनकी समता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि आप वीतराग हैं, इसलिए पूजा से आपको प्रयोजन नहीं है और वैर से रहित हैं, इसलिए निन्दा से आपको द्वेष नहीं है तथापि आपके पवित्र गुणों का

स्मरण हमारे चित्त को पापरूपी कालिमा से बचा लेता है अर्थात् जब हम आपके माध्यम से अपने वीतराग स्वरूप की ओर लक्ष्य करते हैं, तब स्तुति और निन्दा में हमारे सामने साम्यभाव आ जाता है। इसी स्तवन में कहा गया है कि आपकी पूजा करते समय जो आरम्भजनित अल्प दोष होता है, उससे हानि नहीं होती। जिस प्रकार कि अमृत के समुद्र में विष की कणिका से हानि नहीं होती। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग—उपादान और निमित्त कारण के द्वन्द्व को सुलझाते हुए कहा है—अभ्यन्तर—उपादान जिसका मूलकारण है, ऐसी गुण और दोष की उत्पत्ति का जो बाह्य निमित्त है, वह अध्यात्म में लीन रहने वाले आपके लिए गौणभूत है, आपके लिए तो केवल अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है। कार्य की उत्पत्ति का मूलकारण उपादान है। प्रारम्भ में उपादान की शक्ति को विकसित करने के लिए बाह्य—निमित्तकारण भी अपेक्षित रहता है, परन्तु जब यह जीव अध्यात्मवृत्त हो जाता है—स्वरूपस्थ अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसके लिए उपादान ही पर्याप्त हो जाता है। निमित्त का विकल्प उसकी दृष्टि से हट जाता है, परन्तु इस कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि कार्य की उत्पत्ति मात्र बाह्य या मात्र अभ्यन्तर कारण से होती है, किन्तु दोनों कारणों की समग्रता ही कार्य की जनक होती है। यह द्रव्य का स्वभाव है, इसके बिना मोक्ष की विधि नहीं बन सकती। मोक्ष प्राप्ति के लिए निकट-भव्यपना आदि आत्मा की योग्यतारूप अन्तरङ्ग निमित्त और कर्मभूमिज मनुष्य के द्वारा तपश्चरण आदि बाह्य निमित्त के मिलने पर ही मोक्ष की सिद्धि होती है, किसी एक से नहीं। यह बात जुदी है कि जब इस जीव को मुक्त होने का अवसर आता है, तब यह नियम से कर्मभूमि का मनुष्य ही होता है, पर इतने मात्र से निमित्त कारण की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं हो जाती।

(१३) विमल जिनेन्द्र के स्तवन में नयों की पारस्परिक निरपेक्षता का निरसन करते हुए कहा गया है कि यदि ये नय परस्पर में सापेक्ष रहते हैं तो स्व और पर का उपकार करते हैं। जिस प्रकार रस से—पारे से अनुविद्ध धातुएँ अभिमत फल सिद्ध करती हैं। उसी प्रकार स्याद्वाद से चिह्नित नय, अभिप्रेतगुण को सिद्ध करने वाले होते हैं।

(१४) अनन्तनाथ का वास्तविक नाम आचार्य को 'अनन्तजित्' इष्ट है। उसी की अन्वर्थता बतलाते हुए आपने कहा कि अनन्त दोषों का आश्रय ही जिसका शरीर है तथा जो हृदय में अत्यन्त संसर्ग को प्राप्त हो रहा है, ऐसे मोहरूपी ग्रह को अनन्त

कहते हैं । उसको आपने जीत लिया है, इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं । कषायरूपी शत्रु बड़े प्रभावी हैं–आत्मीयगुणों को नष्ट करने वाले हैं, उनको आपने इस तरह नष्ट किया है कि उनका नाम भी शेष नहीं रहने दिया तथा कामरूपी रोग को जो कि अत्यन्त शोषण करने वाला है, समाधिरूपी औषध के गुणों से विलीन कर दिया है । जिसमें परिश्रम ही पानी है तथा भय ही जिसमें तरङ्गें हैं, ऐसी तृष्णारूपी नदी को आपने अपरिग्रहरूपी ग्रीष्मकालीन सूर्य के तेज से सुखा दिया है, इसलिए ही निर्वृतिधाम–निर्वाणमन्दिर आपको प्राप्त हुआ है । आपके विषय में जो अच्छा अभिप्राय रखता है, वह स्वयं ही सौभाग्य को प्राप्त होता है और जो आपके विषय में द्वेष रखता है, वह व्याकरण में प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों के समान विनाश को प्राप्त हो जाता है । फिर भी आप शत्रु और मित्र दोनों में अत्यन्त समान रहते हैं ।

(१५) धर्मनाथ भगवान् समवसरण में विद्यमान बारह सभाओं में स्थित देव और मनुष्यों के समूह से घिरे हुए ऐसे सुशोभित होते हैं, जैसे–आकाश में ताराओं से घिरा हुआ निर्मल पूर्ण चन्द्र सुशोभित होता है । इस तरह उपमालङ्कार के द्वारा उनकी निःस्पृहता की झाँकी उपस्थित करते हुए कहा है कि यद्यपि आप अष्टप्रातिहार्यरूपी विभव से विभूषित हैं तथापि शरीर से भी विरत हैं । आपने मनुष्य तथा देवों को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया, फिर भी उपदेश का फल प्राप्त करने की इच्छा से आतुर नहीं हैं ।

(१६) शान्तिनाथ भगवान् के स्तवन में उनके गृहस्थ जीवन और मुनि जीवन की पूरी झाँकी एक ही श्लोक में उपस्थित की गई है । जिन्होंने पहले शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले चक्र के द्वारा समस्त राजाओं के चक्र–समूह को जीता था और अब ध्यानरूपी चक्र के द्वारा दुर्जय मोहरूपी चक्र को जीता है तथा उसके फलस्वरूप महोदय को प्राप्त हुए हैं । अन्त में एक बात बहुत सुन्दर कही कि जिन्होंने अपने दोषों को शान्तकर आत्मशक्ति प्राप्त की है और इसके बाद ही जो शरणागत मनुष्यों के लिए शरणदाता हुए हैं, वे शान्तिनाथ भगवान् हमारे सांसारिक क्लेशों का भय शान्त करने के लिए मुझे शरणदाता हों । जिसकी आत्मा स्वयं अशान्त है, वह दूसरों को क्या शान्ति दे सकेगा ?

(१७) कुन्थुनाथ जिनेन्द्र के स्तवन में अनेक मार्मिक सूक्तियाँ हैं, वे कहते हैं कि तृष्णारूपी ज्वालाएँ इस जीव को सब ओर से जला रही हैं, इष्ट इन्द्रियों के विषयों से

इनकी वृद्धि ही होती है, शान्ति नहीं, इसलिए आप विषयसुख से पराङ्मुख हुए हैं। बाह्यतप की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है कि आपने अन्तरङ्गतप की वृद्धि के लिए ही अत्यन्त दुश्चर बाह्यतप किया है। अन्तरङ्गतप की वृद्धि के बिना बाह्यतप कोई विशेष लाभदायक नहीं है—मोक्ष का साधक नहीं है। आपने चार घातियाकर्मों को रत्नत्रयरूपी प्रचण्ड अग्नि में होम दिया है, इसलिए आप मेघ रहित आकाश में सूर्य की तरह सुशोभित हुए थे।

(१८) अरनाथ भगवान् का स्तवन अनेक विचित्रोक्तियों से परिपूर्ण है। प्रारम्भ में ही कहा गया है कि स्तुति तो उसे कहते हैं, जिसमें थोड़े से गुणों को बढ़ाकर कहा जावे, परन्तु भगवन्! आपके गुण अनन्त हैं, वे कहे ही नहीं जा सकते, फिर आपकी स्तुति कैसे हो सकती है? फिर भी चूँकि आपका नाम मात्र लेना पवित्र कर देता है, इसलिए कुछ कहते हैं। जो कषायरूपी योद्धाओं की सेना से सहित है, ऐसे मोहरूपी पापी शत्रु को आपने रत्नत्रयरूप शस्त्रों के द्वारा पराजित किया है। जो आगामी काल और वर्तमान काल में दुःखों की योनि है—कारण है, ऐसी तृष्णारूपी नदी को आपने विद्यारूप नौका के द्वारा पार किया है। अनेकान्त की महिमा का उद्घोष करते हुए कहा है कि जो दूसरे के दोष देखने में जागरूक हैं, पर अपने दोषों के विषय में नेत्र बन्द कर लेते हैं, वे बेचारे क्या कर सकते हैं? वे आपके मत के अपात्र हैं।

(१९) मल्लिनाथ भगवान् का मनोहर छन्द द्वारा स्तवन करते हुए उनकी सर्वज्ञता का जयघोष किया गया है कि जिनकी शुक्लध्यानरूपी अग्नि ने अनन्त पापपुञ्ज को भस्म कर दिया है और इस तरह जो कृतकृत्यता को प्राप्त हो चुके हैं, उन जिनेन्द्र श्रेष्ठ मल्लिनाथ की शरण को मैं प्राप्त हुआ हूँ।

(२०) मुनिसुव्रतनाथ के स्तवन में उनकी शारीरिक सुषमा का वर्णन करने के पश्चात् अन्तिम पद्य में कहा है कि चूँकि आपने निरुपमयोग के बल से—ध्यान की सामर्थ्य से अष्टकर्मरूपी कलङ्क को बिल्कुल दग्ध कर दिया है, इसलिए आप मुक्ति सम्बन्धी सुख से युक्त होते हुए संसार को भी उपशान्त करने वाले हों।

(२१) भगवान् नमिनाथ के स्तवन में अहिंसा की महिमा प्रकट करते हुए कहा है कि संसार में प्राणियों की अहिंसा परमब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है, परन्तु वह अहिंसा उस गृहस्थाश्रम में नहीं होती, जिसमें कि अणुमात्र भी परिग्रह रहता है, इसलिए उस

अहिंसा की सिद्धि के लिए परम दयालु होकर आपने दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया है तथा विकार उत्पन्न करने वाले किसी वेष या उपाधि में आप रत नहीं हुए हैं।

(२२) नेमि जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए कहा गया है कि जिन्हें अनेक महर्षि मन्त्र से मुखर होते हुए प्रणाम करते हैं । नारायण और बलभद्र, स्वजन की भक्ति से प्रसन्नचित्त होकर, जिनके चरणकमलों को प्रणाम करते थे । जो विद्याधरियों से युक्त शिखरों से अलङ्कृत है तथा जिसके तट पर घनघटा छाई हुई है, ऐसे ऊर्जयन्त गिरि पर–गिरनार पर्वत पर, इन्द्र ने जिनकी यशोगाथा लिखी थी, उन नेमिनाथ भगवान् की विरुदावली इस स्तवन में बड़े सुन्दर ढंग से अङ्कित की गई है ।

(२३) पार्श्वनाथ भगवान् के स्तवन में असुरकृत उपसर्ग का ऐसा जीवन्त वर्णन है कि उसका दृश्य आँखों के सामने झूलने लगता है ।

(२४) वर्धमान स्वामी का स्तवन करते हुए आचार्य ने अन्त्य यमक के द्वारा अपनी उस कवित्व शक्ति की, जिसका कि पूरा प्रदर्शन स्तुतिविद्या–जिनशतक में किया गया है अर्थात् थोड़ी-सी वानगी प्रकट कर दी है ।

इस तरह आन्तरिक परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि यह स्तोत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित है । समन्तभद्रस्वामी की विशुद्ध आत्मा से निःसृत एक-एक पद्य हृदय में भारी आनन्द की उद्भूति करता है ।

स्तोत्र के रचयिता श्रीसमन्तभद्रस्वामी–

इस 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र' के रचयिता श्री समन्तभद्रस्वामी हैं । समन्तभद्रस्वामी दिगम्बराचार्यों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र तथा तन्त्र आदि सभी विद्याओं में निपुण होने के साथ ही साथ, आप वादकला में अत्यन्त पटु थे । [1]काशीनरेश के सामने स्वामी समन्तभद्र ने स्वमुख से जो अपना परिचय दिया था, वह मात्र गर्वोक्ति नहीं, किन्तु तथ्योक्ति थी । परिचय देते हुए उन्होंने कहा था– मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थी हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर मुझे वचनसिद्धि है,

---

१. आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम् ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

अधिक क्या कहूँ ? मैं सिद्धसारस्वत हूँ ।

आप परीक्षाप्रधान विद्वान् थे । आप्तमीमांसा के प्रारम्भिक श्लोकों से इस बात की पुष्टि होती है–

देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।।१।।
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि - महोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ।।२।।
तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ।।३।।

यही कारण है कि युक्त्यनुशासन की टीका के अन्त में विद्यानन्द स्वामी ने आपको 'परीक्षेक्षण'–परीक्षारूपीनेत्र से सबको देखने वाला लिखा है । भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में, वादिराजसूरि ने यशोधर चरित्र में, वादीभसिंहसूरि ने गद्यचिन्तामणि में, वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभचरित्र में, शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में और भट्टारक सकलकीर्ति ने पार्श्वनाथ चरित्र में, बड़ी श्रद्धा के साथ आपका स्मरण किया है । इनके सिवाय अन्य, अनेक ग्रन्थकारों ने इनका गुणस्मरण कर अपने ग्रन्थ को गौरवान्वित किया है । श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में आपकी गौरवगाथा अङ्कित की गई है । विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में उसके रचयिता कविवर हस्तिमल्ल ने आपके वादकथा का यशोगान निम्न श्लोक के द्वारा किया है–

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषाम् ।।

वादी समन्तभद्र के रहते हुए, अतिशय वाचाट धूर्जटि नामक विद्वान् की जिह्वा भी जब कण्ठगत का आश्रय लेती है तब दूसरे विद्वानों की तो कथा ही क्या है ?

श्रवणबेलगोला के श्री दोर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्रभण्डार में सुरक्षित आप्तमीमांसा की एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के पुष्पिका वाक्य–

'इति श्री फणिमण्डलालङ्कारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्'

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र, फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा के पुत्र थे । छोटी ही अवस्था में संसार से विरक्त होकर आपने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली थी ।

दुष्कर्म के उदय से आपको तपस्याकाल में भस्मकव्याधि हो गई। निर्ग्रन्थ मुद्रा में उस व्याधि का प्रतिकार न देख, आपने गुरु से सल्लेखना कराने की प्रार्थना की, परन्तु गुरु दीर्घदर्शी थे, वे बुद्धिमान् समन्तभद्र के द्वारा जैनधर्म की महती प्रभावना की आशा रखते थे, अतः उन्होंने सल्लेखना मरण की आज्ञा नहीं दी। फलतः समन्तभद्र ने निर्ग्रन्थ मुद्रा छोड़कर अन्य साधु का वेष रख लिया और स्वेच्छापूर्वक आहार करते हुए विहार करने लगे। विहार करते हुए वे काशी आए। वहाँ शिवमन्दिर में शिवभोग की विशाल अन्नराशि को देखकर, उन्होंने विचार किया कि यदि यह राशि मुझे प्राप्त हो जाए तो इससे मेरी व्याधि शान्त हो सकती है। विचार आते ही वे अपनी चतुराई से शिवमन्दिर में रहने लगे। शिवभोग के उपभोग से धीरे-धीरे उनकी व्याधि शान्त हो गई। अन्त में गुप्तचरों के द्वारा काशीनरेश को जब इस बात का पता चला कि यह न शिवभक्त है और न शिवजी को शिवभोग अर्पित करता है, अपितु स्वयं खा जाता है। तब वह आगबबूला होता हुआ, समन्तभद्र के सामने आया और उनसे उनकी यथार्थता पूछने लगा। समन्तभद्र ने निम्न श्लोक द्वारा अपना परिचय दिया—

'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः ,
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी ,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

कांची में मलिनवेषधारी दिगम्बर रहा, लाम्बुश नगर में पाण्डुवस्त्र धारण किए, पुण्ड्रोण्ड्र में जाकर बौद्धभिक्षु बना, दशपुर नगर में मिष्टभोजन करने वाला संन्यासी बना, वाराणसी में श्वेतवस्त्रधारी तपस्वी बना। राजन्! आपके सामने यह दिगम्बर जैनवादी खड़ा है, जिसकी शक्ति हो मुझसे शास्त्रार्थ कर ले।

राजा ने शिवमूर्ति को नमस्कार करने का आग्रह किया, परन्तु उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि यह मूर्ति समन्तभद्र के नमस्कार को सहन नहीं कर सकती। समन्तभद्र के इस उत्तर से राजा का कौतुक और नमस्कार कराने का आग्रह, दोनों ही चरमसीमा को प्राप्त हो गये। समन्तभद्र आशु कवि तो थे ही, अतः उन्होंने वृषभ आदि चौबीस तीर्थङ्करों का स्तोत्र शुरु किया। जब वे आठवें चन्द्रप्रभ भगवान् का स्तवन कर रहे थे, तब सहसा उसमें से चन्द्रप्रभ भगवान् की मूर्ति निकल पड़ी। उस समय समन्तभद्र-

स्वामी स्तुति में इस प्रकार तल्लीन थे कि उन्हें इसका आभास भी नहीं हुआ और वे आगे पुष्पदन्त भगवान से लेकर महावीर भगवान पर्यन्त तीर्थङ्करों का स्तवन करते रहे तभी यह स्तोत्र पूर्ण हुआ। यही स्तोत्र आज स्वयम्भूस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना से काशीनरेश बहुत प्रभावित हुए और वे जिनधर्म की दीक्षा लेकर समन्तभद्र के शिष्य हो गये। नरेश के साथ अन्य अनेक लोगों ने भी जैनधर्म धारण किया।

समन्तभद्र मात्र संयम से भ्रष्ट हुए थे, सम्यग्दर्शन से नहीं, इसलिए भस्मकव्याधि शान्त होते ही, उन्होंने फिर से निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। निर्ग्रन्थमुद्रा धारणकर आपने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, सर्वत्र विहार कर जिनधर्म की महिमा स्थापित की। करहाटक नगर में पहुँचने पर वहाँ के राजा द्वारा पूछे जाने पर आपने अपना पिछला परिचय देते हुए कहा–

'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥'

राजन्! सबसे पहले मैंने पाटलिपुत्र नगर में शास्त्रार्थ के लिए भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु, ढक्क, काँची, विदिशा आदि स्थानों में जाकर भेरी ताड़ित की। अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूँ। मैं तो शास्त्रार्थ की इच्छा रखता हुआ, सिंह के समान घूमता फिरता हूँ।

समन्तभद्रस्वामी के द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए हैं–

१. स्वयम्भूस्तोत्र, **२.** युक्त्यनुशासन, **३.** आप्तमीमांसा, **४.** स्तुतिविद्या–जिनशतक और **५.** रत्नकरण्डश्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र)।

सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, अतः इनके परिचय की आवश्यकता मालूम नहीं होती। आप विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र पर संस्कृत टीका–

स्वयंभूस्तोत्र पर प्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। संस्कृत टीकाकार ने इस स्तोत्र की महिमा बतलाते हुए ग्रन्थ के अन्त में लिखा है–

यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैः कृतः,
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः।
तद्व्याख्यानमदो यथा ह्यवगतः किञ्चित्कृतं लेशतः,
स्थेयांश्चन्द्र-दिवाकरावधि-बुध-प्रह्लाद-चेतस्यलम् ।।

यह टीका उन्होंने प्रह्लाद नामक विद्वान् के लिए लिखी थी । इस स्तोत्र को संस्कृत टीकाकार ने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित समस्त धर्म को विषय करने वाला तथा निर्दोष एवं प्रसादगुण से युक्त सार्थक पदों के कारण असम–अनुपम कहा है । टीकाकार ने टीका लिखते समय स्तोत्र के कितने ही पाठान्तरों का उल्लेख स्वयं किया है तथा उन पाठान्तरों की व्याख्या भी की है, स्तोत्रगत दर्शन विषय को टीकाकार ने अच्छा स्पष्ट किया है । इस पर एक टीका मराठी में तथा तीन टीकाएँ हिन्दी में देखने में आईं हैं । विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार समन्तभद्र साहित्य के मर्मज्ञ रहे हैं । उन्होंने उनके जीवन तथा साहित्य के उद्धार में बड़ा कार्य किया है । समन्तभद्र का नाम लेते ही वे गद्गद् हो उठते थे । कहने लगते थे कि समन्तभद्र ने जैनधर्म की जितनी सेवा की है, उसकी शतांश कृतज्ञता भी हम उनके प्रति प्रकट नहीं कर सके हैं । स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डश्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र) पर उन्होंने उत्तम टीकाएँ तथा भाष्य लिखे हैं । स्तुतिविद्या की हिन्दी टीका यद्यपि मैंने लिखी है, पर गवेषणापूर्ण भूमिका आपकी ही लिखी हुई है । उन्होंने स्वयम्भूस्तोत्र पर विस्तृत प्रस्तावना लिखी है, जिसमें अनेक बातों पर प्रकाश डाला गया है । इस प्रस्तावना के लेख में भी मैंने उनकी प्रस्तावना से यथेच्छ सामग्री ली है । उनकी प्रस्तावना का अध्ययन करने के लिए विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करता हुआ, उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ ।

स्वयम्भूस्तोत्र का यह संस्करण–

स्वयम्भूस्तोत्र के हिन्दी अनुवाद सहित एक संस्करण में उसके सम्पादक विद्वान् ने वासुपूज्यस्तवन के चतुर्थ श्लोक में 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं न' पाठ रखा था, इस नये पाठ की यथार्थता जानने के लिए कई लोगों के पत्र आए । एतदर्थ स्तोत्र की प्राचीन प्रतियाँ देखनी पड़ीं । साथ ही प्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका का भी आलोडन करने का अवसर आया । सब जगह 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' ही पाठ मिला । निमित्त

और उपादान के चल रहे द्वन्द्व को शमन करने के लिए ही सम्पादक विद्वान् ने उक्त पाठ की स्थापना की होगी, ऐसा जान पड़ता है। संस्कृत टीका का आलोडन करते समय विचार आया कि इसका हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन हो जावे तो उत्तम रहेगा। मराठी अनुवाद के साथ संस्कृत टीका का संस्करण तो देखा था, पर हिन्दी टीका सहित इसका संस्करण देखने का प्रसंग नहीं आया, इसलिए इस पर काम करने का निश्चय किया। इसकी एक हस्तलिखित प्रति पूज्य वर्णीजी के संग्रह की; सागर में थी और एक प्रति श्री पं० हीरालालजी शास्त्री के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावर से प्राप्त हो गई। दोनों प्रतियों के आधार पर संस्कृत टीका का सम्पादन हुआ। हिन्दी अनुवाद करते समय इस बात का ध्यान रहा कि श्लोक का सामान्य शब्दार्थ सरलता से सबके ग्रहण में आ सके, इस उद्देश्य से अन्वय के साथ अर्थ दिया है। भावार्थ, संस्कृत टीका के आधार पर अवलम्बित है, पर उसका अविकल शब्दानुवाद नहीं है। कहीं इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भावार्थ को विस्तृत भी करना पड़ा है। रचनाओं के देखने से विदित होता है कि समन्तभद्रस्वामी विस्तार-प्रिय नहीं थे। किसी बात को वे सारगर्भित-परिमार्जित-नपे-तुले शब्दों में ही प्रकट करना श्रेयस्कर समझते थे। स्वयम्भूस्तोत्र में कुछ पद्य और खासकर दर्शन विषय के पद्य ऐसे हैं, जो शाब्दिक संकोच के कारण दुरुह हो गये हैं, उनकी अर्थ संगति के लिए ऊपर से शब्दों की योजना करनी पड़ती है। क्षयोपशम के अनुसार ऐसे पद्यों का भाव स्पष्ट करने का मैंने प्रयत्न तो किया है, परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान का भरोसा ही क्या है? न चाहते हुए भी त्रुटियाँ रह जाती हैं, अतः उनके लिए मैं विद्वद्वर्ग से क्षमाप्रार्थी हूँ।

जिस समय इसकी पाण्डुलिपि तैयार हुई, उस समय समाधिस्थ आचार्य शिवसागरजी महाराज पपौरा के चार्तुमास के बाद विहार करते-करते श्री महावीर जी पहुँचे थे और पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा के बाद वहीं संघ सहित विराजमान थे।

मैंने वह पाण्डुलिपि उनके पास महावीरजी भेज दी। प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने शान्तिवीर नगर से ही उसके प्रकाशन की व्यवस्था करा दी। पूज्य महाराजश्री के इस प्रवचन वात्सल्य के उपलक्ष्य में उनके प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा प्रकट करता हूँ। अन्यान्य ग्रन्थों का प्रकाशन जारी रहने से इसके प्रकाशन में दो-तीन वर्ष का विलम्ब हो गया। शान्तिवीर नगर के प्रकाशनों की असुन्दरता के बावत

मैंने एक बार श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज से शिकायत की तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि 'अपना बेटा गलती करता है तो पिता उसे बर्दाश्त करता है तथा उसी से काम लेता है'। यह संस्था अपनी है आचार्य शान्तिसागर और वीरसागरजी के नाम इसके साथ जोड़े गये हैं, इसीलिए इसकी सुन्दरता ही नहीं, गलतियों को भी बर्दाश्त करना पड़ता है तथा इसी से काम कराना पड़ता है। काम करते-करते यह भी एक दिन मार्ग पर आ जावेगी।

प्रूफ का अवलोकन श्री अशोक कुमार जी बड़जात्या और संस्था के विद्वान् श्री 'महेश' जी ने किया है, अतः उनके प्रति आभारी हूँ। जिन दान-दाताओं ने समन्तभद्र आचार्य की इस सारगर्भित वाणी को जन-जन तक पहुँचाने में अपने धन का सदुपयोग किया है, उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हुआ, अन्य श्रीमानों से अनुकरणीय पद्धति को अपनाने की प्रार्थना करता हूँ। वस्तुतः हमारे श्रीमानों का लक्ष्य यदि जिनवाणी के प्रसार की ओर आकर्षित हो जावे तो जैन साहित्य के नई साज-सज्जा के साथ प्रकाशित होने में देर न लगे।

आशा है स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव इस संस्करण से लाभ उठावेंगे।

सागर **विनीत**
द्वितीयाषाढ़ वदी १० वीर निर्वाण २४९५ **पन्नालाल जैन**
९-७-१९६९

भक्ति की अभिव्यक्ति

श्रद्धा, प्रत्येक धर्म का मूल है—प्रथम सीढ़ी है । यहाँ तक कि कोई भी व्यक्ति नास्तिकता की श्रद्धा किये बिना, नास्तिक भी नहीं बन सकता है । श्रद्धा का अर्थ है, अपने श्रद्धेय के प्रति अपेक्षा रहित आत्मीय समर्पण । अपने से जो श्रेष्ठ हों, गुणी हों, बुद्धिमान हों, चारित्रवान हों, वे ही हमारे श्रद्धेय हो जाते हैं, क्योंकि श्रद्धा हमेशा समर्थ के प्रति होती है ।

प्रेम, मन से होता है । विश्वास, बुद्धि से उत्पन्न होता है । श्रद्धा, आत्मा से उद्भूत होती है । आज तक हम पक्की श्रद्धा की बात करते आये हैं, लेकिन धर्म; सच्ची श्रद्धा पैदा करने की बात करता है, क्योंकि संसार में प्रायः सभी लोग अपने-अपने धर्म में पक्के होते हैं सच्चे नहीं । जब तक हमारी आस्था के आराध्य सच्चे नहीं होंगे, तब तक हमारी श्रद्धा भी सच्ची नहीं हो सकती है, इसीलिए सच्ची श्रद्धा को स्वामी समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन कहा है । उस सच्ची श्रद्धा को हमें सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों—आठ आयामों—दृष्टिकोणों की कसौटी पर जाँच-परखकर स्वीकार करना चाहिए । जिनके प्रति हमें श्रद्धा करनी है, वे भी निर्दोष व्यक्तित्व के धनी होने चाहिए, क्योंकि पक्की श्रद्धा में जो अपने हैं, वे सब सच्चे हैं, लेकिन सच्ची श्रद्धा में जो सच्चे हैं, वे सब अच्छे हैं, अपने हैं ।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी प्रार्थना में अपने इष्ट की श्रद्धा, भक्ति एवं उसका फल एक कारिका द्वारा प्रस्तुत किया है —

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते ,
हस्तावञ्जलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि सम्प्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते ,
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती ! तेनैव तेजःपते ॥

हे भगवन् ! आपके मत में अथवा आप ही के विषय में मेरी प्रगाढ़ श्रद्धा है, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है अर्थात् आपका स्मरण मेरी आत्मा में सदा बना रहता है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाञ्जलि करने के निमित्त हैं, मेरे कान आपके ही कथा सुनने को तल्लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके अनुपम रूप को देखती हुई नहीं अघाती । मुझे व्यसन है वह भी

आपकी ही गुणावली को स्तुतियों के रूप में रचने का, मेरा मस्तक भी आपको प्रणाम करने में तत्पर रहता है। इस प्रकार मेरी सेवा है, सुश्रुषा है, जिसे मैं निरन्तर किया करता हूँ, इसलिए हे तेजपते! मैं तपस्वी हूँ, सुजन हूँ और पुण्यवान हूँ अर्थात् हे प्रभो! जो कुछ भी मेरी आत्मा में अतिशय प्राप्त हुआ है, वह सब आपकी भक्ति का ही माहात्म्य है।

आपने अपनी अपूर्व भक्ति की शक्ति द्वारा लोह-शृङ्खलाओं से वेष्ठित शिव पिण्डि से, आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ भगवान की मूर्ति को प्रकट करके जैनशासन की अभूतपूर्व प्रभावना की; लौकिक और अलौकिक चमत्कार प्रकट किये। अपने सच्चे इष्ट के प्रति सच्ची श्रद्धा, विश्व की समस्त चुनौतियों को स्वीकार करती है एवं दूसरों को भी चुनौती देकर अपनी सच्ची श्रद्धा का इजहार–प्रकटीकरण भी करती है। इस सच्ची श्रद्धा के प्रतिरूप आदर्श थे स्वामी समन्तभद्राचार्य, जिन्होंने डंके की चोट से कुवादियों को चुनौतियाँ दीं और उनकी चुनौतियों को भी स्वीकार किया।

श्रद्धा और श्रद्धेय के बीच होने वाले आकर्षण को भक्ति कहते हैं। ज्ञानधारा, कर्मधारा एवं भक्तिधारा; तीन धाराओं में भक्तिधारा आत्महित का सरलतम उपाय है। निश्छल प्रेम, निर्विकार प्यार की अनुभूति ही भक्ति है। भक्त और भगवान के बीच जलते हुए दीपक के प्रकाश को भक्ति कहते हैं, जहाँ न भक्त अन्धकार में होता है न भगवान अन्धकार में; शायद इसीलिए ही भगवान की अर्चना में दीपक का महत्त्व होता है।

तन-मन-वचन एवं आत्मा के समीकरण को भक्ति कहते हैं। भक्ति ऐसा संगीत है जो हृदयतंत्री पर बजता है। चित्त की चंचलता को रोकने के लिए भक्ति सबसे सुन्दर उपक्रम है। लय-छन्द-राग भक्ति को व्यक्त करने की प्रक्रिया है, जैसे–तानसेन दीपक-राग गाता था तब दीपक स्वतः ही जल उठते थे, मल्हार-राग गाने से पानी बरसने लग जाता था। पट्टमहादेवी शान्तला जब तन्मय होकर वीणा-वादन करती थी तब दूसरे कोने में रखी हुई वीणा के तार भी उसी राग में झंकृत हो; बजने लगते थे।

मन वीणा पर बज उठता जब भक्ति का संगीत।
अधर नाचते जिह्वा गाती काया बनती मीत॥

जैसे–नृत्य और नृत्यकार दो रूप नहीं हैं; एक ही हैं, क्योंकि नृत्य को नृत्यकार

से अलग नहीं दिखा सकते, नृत्यकार में ही नृत्य एकाकार होकर समाहित रहता है, वैसे ही भक्त और भक्ति का सम्बन्ध है। भक्ति में आगम, सिद्धांत, न्याय, व्याकरण आदि के विशेष नियम से अनभिज्ञ व्यक्ति भी भक्तिमार्ग का अनुकरण करते हैं—कर सकते हैं।

भक्ति का हिसाब बीजगणित का है; अंकगणित का नहीं, क्योंकि अंकों में हानि-लाभ, गुणा-भाग का हिसाब आने-पाई का होता है, लेकिन बीजगणित में उपमान देकर हिसाब को निपटा दिया जाता है, इसीलिए तुलसीदास जी ने कहा है कि—

तुलसी अपने राम को, रीझ भजो कि खीज ।
उल्टो सीधो ऊँगहै, खेत पड़े को बीज ॥

भक्ति में लिखीं गालियाँ भी स्तुतियाँ होती हैं एवं बिना भक्ति के स्तुतियाँ भी गालियाँ प्रतीत होती हैं। अपने इष्ट से लड़ने की सामर्थ्य का नाम ही भक्ति है।

भारतीय संस्कृति में भक्ति द्वारा भगवान को अनेक रूपों में; अनेक विधाओं में पुकारने की परम्परा रही है, जिस कारण से भक्ति में वाचालता—मौखर्य या ढीठता का भाव भी परिलक्षित होता रहा है, ऐसे भावों की अभिव्यक्ति करने वालों की बदनामी करने वाले लोग भी रहे हैं, लेकिन वे लोग अपने इष्ट-आराधना से विचलित नहीं हुए, अतः भक्ति का मतलब एक यह भी निकलता है कि अपने इष्ट की आराधना में "बदनामी सिर पर मोल लेना"। भक्ति के भावों को भी तुलसीदास जी ने निम्न प्रकार से उपमित करके दर्शाया है—

ज्यों गरीब की देह में, जड़कारे को घाम ।
ऐसे तुम कब लाग हो, तुलसी के चित राम ॥

जैसे—शीतकाल में गरीब व्यक्ति के शरीर को सूर्य का तेज आकर्षक होता है, उसी प्रकार मन में ईश्वर—प्रभो—परमात्मा के प्रति खिचाव—लगाव होता है, होना चाहिए। पुनश्च अपने भक्ति के परिणामों की परीक्षा में तुलसीदास जी कहते हैं कि—

जो मोहि राम हैं लगते मीठे। नव-षट्-रस अनरस सब सीठे ॥

यदि मुझे राम मीठे लगने लगते, तो दुनियाँ के सभी रस फीके भासने लगते। पूज्यपादाचार्य भी इष्टोपदेश में कहते हैं कि—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्व-मुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्व-मुत्तमम् ।।

जैसे-जैसे उत्तम-तत्त्व–आत्मतत्त्व का संवेदन होता है, वैसे-वैसे संसार के सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं लगते हैं तथा जैसे-जैसे इस जीव को संसार के विषय भी रुचिकर नहीं लगते हैं, वैसे-वैसे उत्तम-तत्त्व का संवेदन होता है । सोलह कारण भावना के अन्तर्गत अर्हद्भक्ति के स्वरूप में कहा है कि–''जो अरहन्त भगति मन आने, सो जन विषय-कषाय न जाने । कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वरुचि या अर्हद्भक्ति; व्यक्ति को संसार, शरीर और भोगों से विरक्त–उदासीन अवश्य बनाती है ।

भक्त और भगवान से अनन्य सम्बन्ध का नाम भक्ति है । ''गुणानुरागो भक्तिः'' अथवा ''गुणेषु अनुरागः भक्तिः'' अपने इष्ट-आराध्य देव के गुणों में जो अनुराग होता है, उसे ही भक्ति कहते हैं । जैसे–

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणै-रशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त - विविधाश्रय - जात - गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ।।

हे मुनिनाथ ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भूमण्डल के सम्पूर्ण गुणों ने सघनता से तथा भले प्रकार से जो आपका आश्रय ग्रहण किया है, उसका कारण यही है कि उन्हें अन्य आश्रय स्थल ही प्राप्त नहीं हुआ, इसीलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आपमें गुण ही गुण विद्यमान हैं, दोष या अवगुण एक भी नहीं है । इसके विपरीत दोषों को–अवगुणों को इस बात का घमण्ड है कि न सही एक व्यक्ति का आश्रय ! हमें तो विविध संसारी लोगों का आश्रय अनायास ही प्राप्त है, अतएव उन दोषों ने आश्रय पाने के लिये आपकी ओर भूलकर भी–स्वप्न में भी, कभी देखने की इच्छा नहीं की; फलस्वरूप अन्य संसारी जीवों में दोष ही दोष रहे, परन्तु आपमें केवल गुणों का आश्रय रहा, इसी से हमें आपमें विशेष भक्ति है ।

सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपादाचार्य ने भक्ति के विषय में परिभाषा की है–''अर्हदाचार्य-बहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः'' अर्थात् अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुज्ञानी-सन्तों और जिनवाणी में भावों की विशुद्धिपूर्वक जो अनुराग होता है, उसे

भक्ति कहते हैं। भगवद्भक्ति में लीन भक्त के जो विकारमुक्ति एवं आत्मोत्थान होता है, वह भक्ति का तत्काल एवं प्रत्यक्ष फल है और उस काल में भावों में कषायों की जो मन्दता एवं शुभरागरूप प्रवृत्ति रहती है, उससे उत्तम सातिशय पुण्य बन्ध होता है, जो कालान्तर में लौकिक-अभ्युदय का और परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है। जैसा कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ में कहा है—

जिणवर-चरणंबुरुहं, णमंति जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्म-वेल्लिमूलं, खयंति वरभावसत्थेण ॥

जो व्यक्ति परमभक्तिरूपी अनुरागपूर्वक जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों में नत रहते हैं, वे जन्म-मरणरूपी संसार बेलि का उत्कृष्ट भक्तिरूप शस्त्र द्वारा समूल उच्छेद कर देते हैं—मोक्ष प्राप्तकर लेते हैं। मानतुंग आचार्य भी कहते हैं कि—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्त-मभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥

हे भुवनभूषण! जगन्नाथ! इसमें आश्चर्य ही क्या? यदि आपके यथार्थ गुणों के गानरूप स्तवन द्वारा भव्यजन आपके ही समान बन जाते हैं, क्योंकि वह स्वामी ही क्या जो अपने आश्रितों—सेवकों को अपने समान न बना ले? इस पद्य में कवि ने भक्ति के आवेश में भगवान में कर्तृत्त्व के आरोप का समर्थन किया और भक्ति को किंचित् सकाम भी बना दिया, किन्तु जैनाचार्य यह जानते हैं कि अरिहन्त भगवान; वीतरागी होते हैं, किसी का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते, न कुछ लेते या देते हैं।

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

हे नाथ! न आपको पूजा-स्तुति से कोई प्रयोजन है और न निन्दा से, क्योंकि आप समस्त वैर-विरोध का परित्याग करके परम वीतराग हो गये हैं तथापि आपके पुण्यगुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप-मलों से मुक्त करके पवित्र कर देता है। ऐसा भाव; स्वामी समन्तभद्राचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र में स्पष्ट किया है।

महाकवि धनञ्जय भी इसी तथ्य की पुष्टि निम्न पद द्वारा करते हैं—

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि, त्वयि स्वभाद्विमुखश्च दुःखम् ।
सदावदात-द्युतिरेकरूपस्तयोस्त्व-मादर्श इवावभासि ॥

हे भगवन्! आप तो निर्मल दर्पण के समान हमेशा स्वभावतः स्वच्छ हो, जो व्यक्ति निष्कपट भक्ति में निमग्न होकर आपमें दर्पण के समान अपना मुख देखता है, उसे सुखद-सुमुख के दर्शन होते हैं और जो स्वभाव से विमुख होकर विकृत करके उसमें अपना मुख देखता है, उसे दुःख ही प्राप्त होता है। भक्ति, भगवान से इच्छित फल माँगने का एक निश्छल–सहज शिशु की भाँति निवेदन पत्र है। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान से कुछ माँगना मिथ्यात्व है, अतः भगवान से कुछ नहीं माँगना चाहिए, क्योंकि भगवान तो वीतरागी हैं, अतः वे कुछ दे भी नहीं सकते हैं? आगम, सिद्धान्त की भाषा में कथञ्चित्, भगवान कुछ नहीं देते हैं, अतः हमें भगवान से कुछ नहीं माँगना चाहिए, लेकिन यदि भगवान में कुछ देने की शक्ति नहीं है तब लोग उनकी विभिन्न प्रकार से आराधना क्यों करते हैं? जिस प्रकार लोक-व्यवहार में वृक्ष; छाया, फल, ओषधि आदि देते हैं। जड़-गृह आश्रय-सुरक्षा देता है। जड़-रत्न धनी होने का भाव उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान वीतरागी होते हुए भी हमें इह-परलोक के सुख-साधन में निमित्त होते हैं, क्योंकि भगवान; वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जैसे विशुद्ध-गुणों से सहित हैं। "वन्दे तद्‌गुणलब्धये" नमस्कार, भक्ति, पूजा, प्रार्थना, स्तुति आदि अपने इष्ट के समीप आने का एक माध्यम है।

वीरसेनाचार्य जी धवला-टीका में कहते हैं कि अरहन्त भगवान के चार घातिया-कर्म नष्ट हुए, जिसमें अन्तरायकर्म के नाश से अनन्तदान शक्ति भी उत्पन्न हुई है। अब प्रश्न यह है कि यदि भगवान अनन्तदान देते हैं तो सभी उपासकों को मिलना चाहिए, यदि नहीं देते हैं तो उनके अनन्तदान गुण का कोई महत्त्व नहीं है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि भगवान के अनन्तदान गुण के प्रकट होने से अनन्तदान देते हैं, तो भी जिनके लाभान्तरायकर्म का क्षयोपशम नहीं हैं, उन्हें दान नहीं मिलता है।

तब पुनः यही प्रश्न होगा कि जब अपने भाग्य–कर्म से ही वस्तु मिलना है तब फिर हम भगवान की स्तुति क्यों करें? जिस प्रकार शुद्ध लोहे का पिण्ड; पारस पत्थर को छूने मात्र से स्वर्ण-भाव को प्राप्त हो जाता है, चुम्बक के सम्पर्क से चुम्बकत्व गुण को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अनन्तगुणों के पुञ्ज भगवान की भावपूर्ण भक्ति से आत्मा के गुण; परमात्मपने को प्राप्त हो जाते हैं।

इन्हीं सब कारणों से समस्त आचार्य भगवन्तों ने अपने इष्ट का स्मरण–स्तुति कर अपने इष्टफल की सिद्धि का संकल्प लिया है। अध्यात्म के महान आचार्य अमृतचन्द्र

स्वामी ने आत्मख्याति टीका के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में कहा है कि–

परपरिणतिहेतो-र्मोहनाम्नोऽनुभावा-दविरतमनुभाव्य-व्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ।।

'शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु' इस कलश में 'भवतु' क्रिया से यही ध्वनित होता है कि इस क्रिया का फल शुद्धात्मा की अनुभूति होवे ।

इन सभी भावों का निष्कर्ष यही है कि प्रत्येक अच्छे-बुरे कर्म के उपार्जन में नोकर्म (सहायक कर्म) निमित्त होता है । जैसे-तीर्थङ्कर नामकर्म प्रकृति के उपार्जन में केवली या श्रुतकेवली के पादमूल का निमित्त ही सोलहकारण भावनाओं का यथार्थ फल देता है, उसी प्रकार भगवान की थोड़ी भी भावपूर्ण भक्ति हमारे इष्ट कार्य का सम्पादन करती है, अतः सबसे सरलतम उपाय भक्ति कहा है ।

भक्ति में अद्भुत शक्ति है, लेकिन दिखावे की भावशून्य भक्ति-क्रिया प्रतिफलित नहीं होती है, ऐसा कुमुदचन्द्राचार्य कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहते हैं कि–

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।३८।।

हे प्रभो ! आपको सुना, आपकी पूजा की, आपका दर्शन किया, लेकिन निश्चय से भक्तिपूर्वक अपने हृदय में धारण नहीं किया, इसीलिए हे जगद्बन्धु ! मैं दुःखों का पात्र बना हुआ हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रियायें फल नहीं देती हैं ।

भक्ति का मूलरूप स्तुति–स्तोत्र या स्तवन है । प्रारम्भ अवस्था में जब साधक शुभराग में प्रवृत्त होता है तो परावलम्बी ध्यान के रूप में वह अपने इष्ट के गुणों में अनुरक्त होकर उनका गुणगान करता है । यह भक्ति-प्रसून प्रशस्त-गुणगान ही भावभीने ललित स्तुति-स्तोत्र या स्तवन का रूप ले लेता है ।

''भूताभूतगुणोद्भावनं स्तुतिः'' अपने आराध्य में जो गुण हैं और जो नहीं भी हैं उन गुणों के उद्भावन का नाम है स्तुति । भक्ति के आवेग में भक्त बहुधा ऐसे गुणों का भी आरोप कर बैठता है जो उनमें वर्तमान अवस्था में नहीं हैं, लेकिन उन्होंने जो अपने गृहस्थ या संयमी जीवन में जगहित एवं आत्महित का मार्ग प्रशस्त किया था, उस गुण या उपकार को भी भक्ति–स्तुति, स्तोत्र–स्तवन के माध्यम से उद्घाटित कर देते हैं,

क्योंकि ऐसा करने से भक्त का मन संतुष्ट होता है। जैसे—दुःखहर्त्ता-सुखकर्त्ता मानकर उनमें कर्त्तापने का आरोप करके उनके कृतकृत्य गुण को प्रश्नचिन्हित कर देते हैं? जिस प्रकार लोक-व्यवहार में हीरा आदि रत्न बहुमूल्य हैं, लेकिन वे रत्न किसी से राग नहीं करते हैं; फिर भी वे रत्न जिनके भी पास रहेंगे उनकी दरिद्रता दूर करके उसे धनवान होने का आभास कराते हैं। ठीक उसी प्रकार अपने इष्टदेव का अचेतन नाम भी भक्त के दुख दूरकर, सुखी होने का अनुभव कराता है, अतः वीतरागी प्रभु में दुःखहर्त्ता-सुखकर्त्ता का आरोप विरोधाभास अलंकार से सिद्ध हो जाता है। उसी तरह 'प्रजापालक' आपके लिए यह विशेषण इसलिए सार्थक है कि आपने राज्यावस्था में प्रजा को आजीविका आदि के साधनों का उपदेश देकर प्रजा की पालना की थी।

भक्त; अपने आराध्य को माता-पिता जैसा आदर देकर अपने को सनाथ होने का परिचय देता है। भक्त; आदेश प्रतीक्षक होकर अपने इष्ट को स्वामी एवं स्वयं को सेवक की भूमिका में प्रस्तुत करता है। भक्त; अपने आराध्य को सम्बन्धियों की तरह सम्मान देने और उन्हें अधीर करने के लिये तत्पर रहता है। भक्त; अपने इष्ट में भाई-बन्धुओं की तरह अपार स्नेह प्रकटकर अपनत्व का अहसास करता है। भक्त; मित्रों की तरह अपने मन की अच्छी-बुरी बात कहने का साहस रखता है। भक्त; अपने प्रभु के प्रति प्रेमी की तरह समर्पण करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

नाराज या रूठे हुए व्यक्ति को मनाने की कला की तरह, भगवान को उलाहना देकर, अपना काम सिद्ध करा लेना, भक्त की चतुराई का नमूना है। वस्तुतः ऐसे औपचारिक उद्‌गार जब तक हम श्रद्धा में संजोये हुये रहते हैं, निर्दोष ही होते हैं, भक्ति की विह्वलता में ही उनका औचित्य सिद्ध है। इस प्रकार भक्त और भगवान के सम्बन्ध का सेतु भक्त हृदय से प्रस्फुटित भक्ति-प्रवण स्तोत्र होते हैं। इष्ट की औपचारिक पूजा से; कोटि गुणा प्रभावक, स्तोत्र पाठ बताया है।

कोटिपूजा-समं स्तोत्रं, कोटिस्तोत्र-समं जपः।
कोटिजप-समं भक्तिः कोटिभक्ति-समं क्षमा॥

जब से मानव-हृदय में धर्मभाव का उदय होता है अथवा जब से भी भक्त और भगवान का सम्बन्ध है; भक्तों द्वारा भगवद्-भक्ति के स्तोत्र रचे गये हैं और गाये जाते रहे हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश से लेकर लोक भाषाओं तक गुणानुवाद होता रहा है। भक्त, जितना भक्तिरस में सरावोर होगा/डूबेगा, जितना अधिक मन्द कषायी होगा,

निश्छल और निष्काम होगा, जितना अधिक ज्ञानी एवं प्रतिभा सम्पन्न होगा और उसका इष्ट-आराध्य भी जितना अधिक परमोत्कृष्ट, लोकोत्तर-अक्षयगुणों का निधान होगा, स्तोत्र भी उतना ही अधिक मनोहारी, प्रभावपूर्ण तथा चमत्कारी होगा ।

आज तक भक्ति के बिना कोई भी भगवान नहीं बना, यहाँ तक कि स्वयम्बुद्ध तीर्थङ्कर भी जब दीक्षा लेते हैं तब सिद्धों को गुरु बनाकर अर्थात् सिद्ध साक्षी में ''नमः सिद्धेभ्यः'' बोलकर सिद्धों की भक्ति करते हैं । मोक्षमार्ग में श्रद्धा से भक्ति, भक्ति से शक्ति, शक्ति से युक्ति और युक्ति से मुक्ति की यात्रा का क्रम जारी रहेगा, ऐसी उद्घोषणा वादिराज मुनिराज ने अपने एकीभावस्तोत्र में की है; यथा–

शुद्धे ज्ञाने, शुचिनि चरिते, सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चे-दनवधि-सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम् ।
शक्योद्धाटं, भवति हि कथं, मुक्ति-कामस्य पुंसो,
मुक्ति-द्वारं, परिदृढ-महा-मोह-मुद्रा-कवाटम् ।।

समन्तभद्राचार्य की भक्ति में अपने ही नाम के अनुरूप चारों अनुयोगों की अभिव्यक्ति के साथ ही न्याय, दर्शन, व्याकरण का समन्वय प्रत्येक तीर्थङ्कर की स्तुति के साथ परिलक्षित होता है । स्वामी समन्तभद्राचार्य का अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्रथमानुयोग आदर्श विषय रहा है । रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ के सम्यग्ज्ञान अधिकार में प्रथमानुयोग को भी सम्यग्ज्ञान का भेद स्वीकार करके प्रथमानुयोग को बहुमान दिया है । सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग, पाँच पाप एवं पञ्चाणुव्रत, चार प्रकार के दान में प्रसिद्ध व्यक्ति के साथ ही, अर्हत्पूजा से प्रकृष्ट पुण्य सम्पादक मेंढक जैसे तुच्छ जीव को; पुण्य-धर्म के माहात्म्य से स्वर्ग सम्पादित श्वान जैसे हिंसक प्राणी को; प्रमादी गृहस्थ पुरुषों के लिए आदर्श बना दिया । आचार्य भगवन्त हमेशा उलझे हुये पुरुषों को सुलझे हुये पशुओं के उदाहरण देते हैं तथा उलझे हुये साधुओं को सुलझे हुये गृहस्थों के उदाहरण देते हैं ।

समन्तभद्राचार्य के स्वयम्भूस्तोत्र में सभी तीर्थङ्करों की स्तुति में प्रायः चारों अनुयोगों तथा न्याय-दर्शन आदि का विषय समन्वित है ।

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।।

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥

हरिवंशकेतु - रनवद्य - विनय - दम - तीर्थनायकः ।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥
स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ॥

यहाँ उक्त पदों में प्रथमानुयोग की उद्घोषणा है । इन पदों से फलित होता है कि स्वामी समन्तभद्राचार्य जाति-कुल आदि की शुद्धता के प्रबल पक्षधर थे, अन्यथा वे इन तीर्थङ्करों के जाति-कुल, राज्य-वैभव आदि की व्यवस्था का वर्णन कदापि नहीं करते । करणानुयोग में अपने कर्म शत्रुओं को जीतने की विधि को बड़ी ही मनोवैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्रतिपादन किया है । प्रत्येक स्तोत्र की पूर्णता बिना चरणानुयोग की चमक से नहीं हो सकती है, अतः किसी न किसी रूप में चाहे तप, दान, व्रत, संयम के रूप में घुमा-फिराकर बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं का प्रयोग—महत्त्व प्रदर्शित किया है । द्रव्यानुयोग, स्तोत्र का परम-चरम लक्ष्य है, समस्त तत्त्वों का निरालोच्य, तुलनात्मक अध्ययन, अन्य दर्शनों की समीक्षा के साथ आत्मस्वभाव की प्राप्ति होवे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥५॥

इस पद से ही आध्यात्मिकता ध्वनित हो रही है, अतः सम्पूर्ण स्वयम्भूस्तोत्र चारों अनुयोगमय है । न्याय और व्याकरण के साथ छन्दालङ्कार की छटा प्रत्येक स्तुति के प्रत्येक पद में विद्यमान है, जिसे पं० पन्नालाल साहित्याचार्य जी ने अपनी बृहद् प्रस्तावना में खोला ही है ।

इस स्वयम्भूस्तोत्र का परिष्कृत-संपादन पं० पन्नालाल साहित्याचार्य जी ने सन् १९६९ में किया था । जिसका प्रकाशन बीसवीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज के द्वितीय पट्टाधीश, तपोनिधि आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की प्रेरणा से स्थापित संस्था, श्रीशान्तिवीर नगर, श्रीमहावीरजी, अतिशय क्षेत्र, (राज०) से, उत्कृष्ट बारहवर्षीय यम सल्लेखना साधक, बहुश्रुतज्ञानी आचार्यकल्प श्रीश्रुतसागरजी महाराज की प्रेरणा से हुआ था । इसी संस्करण को देखकर इस संस्करण को तैयार किया है, जिससे गृहस्थ, पण्डित, विद्वान्, त्यागी-व्रती, महाव्रती भी इससे यथार्थ लाभ ले सकें ।

इस संस्करण को तैयार करने में ब्र.लखमीचन्द जी ७८६९४६८०२०; ब्र.डॉ० राजेन्द्र जैन पठा मो० नं० ८३४९५४२७५४, (संघस्थ मुनिश्री मार्दवसागर जी); ब्र. चेतन (एम.ए.) विद्यासागर तपोवन तारंगाजी सिद्धक्षेत्र ''आदिनाथ राइस मिल'' सलाल फोन नं० ०२७६१-२९५४३० २९५४८५; सुरेश पटवारी, सुरेश गोधा, पप्पू गोधा; बिजौलिया; ब्र० अशोक भाई जैन ''श्रीमद्राजचन्द्र'' आश्रम अगास, डिस्केन कम्प्यूटर्स, आणंद, गुजरात, ब्र० संदीप 'सरल' अनेकान्त ज्ञानमन्दिर बीना का विशेष सहयोग रहा है । इस संस्करण के दानदाता एवं प्रकाशक धन्यवाद–आशीर्वाद के पात्र हैं ।

आचार्य, साधु-मुनिराजों एवं आर्यिका सङ्घों में प्रायः स्वयम्भूस्तोत्र का पाठ अपने स्तवन आवश्यक में होता ही रहता है, इसलिए ही इसके साथ, बहुश्रुत विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार 'वीर सेवा मन्दिर ट्रष्ट' द्वारा संशोधित, स्वयम्भूस्तोत्र के मूलपाठ का संकलन इस संस्करण के अन्त में किया है । मूलपाठ के शुद्ध उच्चारण की सुगमता के लिए कहीं-कहीं योजक-चिह्न लगाया है, जो समय की आवश्यकता है ।

आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस कृति का साधुसंघ एवं समाज में बहुमान से पठन-पाठन होगा ।

प्रज्ञात्मा मुनि

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमत्समन्तभद्राचार्य-विरचितम्

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्

श्री वृषभजिनस्तवनम्

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

स्वयम्भुवेत्यादि—वंशस्थछन्दः[1] । स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्यानुष्ठाय वानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयम्भूस्तेन स्वयम्भुवा, विराजितं शोभितं, क्व ? भूतले पृथ्वीतले, कथंभूतेन ? भूतहितेन भूतानि प्राणिनस्तेभ्यो हितं हितस्य मोक्षसौख्यस्य प्राप्त्युपायप्रदर्शकत्वेन प्रापकत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च तेन पुनरपि कथंभूतेन ? समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा सङ्गतं सर्वपदार्थैः सह ग्राहकत्वेन संबद्धं अञ्जसमवितथं तच्च तत् ज्ञानं च तस्य विशिष्टा परमातिशयप्राप्ता भूतिरुत्पत्तिर्यदि वा विभूतिर्यथावत्सकलपदार्थसाक्षात्कारित्वश्रीः सैव चक्षुर्यस्य तेन, किं कुर्वता तेन चक्षुर्लब्धमित्याह—विधुन्वता, किं तत् ? तमः तमो ज्ञानावरणादिकर्म तत् विधुन्वता विशेषेण निराकुर्वता, कैः ? करैः करा रश्मयः सम्यग्दर्शनादिलक्षणाः[2] करा अत्र गृह्यन्ते, तैः किंविशिष्टैः ? गुणोत्करैः गुणाः स्वर्गापवर्गप्राप्तिहेतुत्वादयस्तेषामुत्करः समूहो येषां ते तैः, केनेव तमो विधुन्वता निराकुर्वता, किं तत्तमः विराजितमित्याह—क्षपाकरेणेव क्षपां रात्रिं करोतीति क्षपाकरश्चन्द्रस्तेनेव, अथवा किं कुर्वता भगवता भूतले विराजितमित्याह—विधुन्वता निराकुर्वता किं तत् ? तमः प्राणिनामज्ञानलक्षणमन्धकारं, कैः ? करैः परप्रबोधविधानसाधर्म्यादिह करशब्देन वचनानि गृह्यन्ते, कथंभूतैस्तैः ? गुणोत्करैः गुणा अबाधितत्वयथावस्थितार्थप्रकाशकत्वादयस्तेषामुत्करो येषां ते तैः, केनेव कैः ? क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः यथा क्षपाकरेण यथावस्थितार्थप्रकाशकत्वादिगुणोत्करैः करैः [3]रश्मिभिस्तमो विधुन्वता भूतले विराजितं तथा भगवता वचनकरैः प्राणिगणाज्ञानतमो विधुन्वतेति ॥१॥

---

१. 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण हों उसे वंशस्थ छन्द कहते हैं । २. सम्यग्ज्ञानादिलक्षणाः ३. अंशुभिः ख-प्रतौ ।

भगवान् के स्वयंभू नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(स्वयंभुवा) जो स्वयंभू थे—दूसरे के उपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जानकर तथा उस रूप आचरण कर अनन्तचतुष्टयस्वरूप हुए थे, (भूतहितेन) प्राणियों के लिए हितकारक थे, (समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा) सम्यग्ज्ञान की विभूतिरूप नेत्र से युक्त थे और (गुणोत्करैः करैः) स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत गुणों के समूह से युक्त वचनों के द्वारा (तमः) ज्ञानावरणादि कर्मरूप एवं अज्ञानरूप अन्धकार को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (येन) जो (भूतले) पृथ्वीतल पर (गुणोत्करैः करैः) अर्थप्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा (तमः) अन्धकार को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (क्षपाकरेणेव) चन्द्रमा के समान (विराजितम्) सुशोभित होते थे ॥१॥

भावार्थ—पूर्वभव में भावित षोडश कारणभावनाओं के अन्तर्गत अभीक्षणज्ञानोपयोग भावना के फलस्वरूप प्रत्येक तीर्थङ्कर को परोपदेश के बिना ही समस्त विद्याओं का परिज्ञान हो जाता है और दीक्षा के पूर्व किसी की प्रेरणा के बिना ही किसी प्रसंग को पाकर वे मोक्षमार्ग को जान लेते हैं तथा उसका आचरण कर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं, इसलिए उन्हें स्वयंभू कहते हैं। यहाँ भगवान् वृषभदेव का स्तवन करते हुए उन्हें भी स्वयंभू कहा गया है, वे भी किसी गुरु के बिना ही समस्त विद्याओं के पारगामी हुए थे तथा दीक्षा के पूर्व नीलाञ्जना के विलय का प्रसंग पाकर स्वयं ही दीक्षित हो, तपश्चरण के द्वारा अनन्त चतुष्टय से युक्त अरहन्त पद को प्राप्त हुए थे। रागादिक विकारी भावों का सर्वथा नाश हो जाने से भगवान् प्राणिमात्र का हित करने वाले थे, इसलिए उन्हें भूतहित कहा है। वे समस्त पदार्थों से संबद्ध—समस्त पदार्थों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट सीमा स्वरूप केवलज्ञान से युक्त थे अर्थात् सर्वज्ञ थे और अनेक गुणों से युक्त वचनों के द्वारा लोगों का अज्ञानान्धकार दूर करते थे अर्थात् हितोपदेशकत्वगुण से युक्त थे, इसलिए जिस प्रकार आह्लादकत्व तथा प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा अन्धकार को नष्ट करता हुआ चन्द्रमा पृथिवीतल पर सुशोभित होता है, उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी अबाधितत्व आदि गुणों से युक्त वचनों के द्वारा लोगों के अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हुए सुशोभित होते थे ॥१॥

गृहस्थावस्थायामित्थंभूतः सन् भगवान् वैराग्यं गत इत्याह—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्‌भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

प्रजापतिरित्यादि—प्रजानां त्रिलोकसकललोकानां पतिः स्वामी यो बभूवेति पदघटना[1] । कदा ? प्रथमम्, इदानींतनावसर्पिणीचतुर्थकालवर्त्तिनां[2] सर्वतत्पतीनामादौ [अ] पश्चात् शशास शिष्टवान् नियोजितवान् । काः ? प्रजाः, कथंभूताः ? जिजीविषूः जीवितुमिच्छूः, क्व ? कर्मसु, केषु ? कृष्यादिषु, कृषिरादिर्येषां कर्मणां सेवादीनां तानि यथोक्तानि तेषु, कथंभूतः सन्नसौ ताः शशासेत्याह—प्रबुद्धतत्त्वः प्रकर्षेण बुद्धं ज्ञातं प्रजानां तददृष्टं तत्फलानां तत्त्वं स्वरूपं येन [3]सहजविशिष्टमतिश्रुतावधिज्ञानेन प्रजास्तददृष्टं तत्फलमन्यच्च सर्वं ज्ञात्वा इदमनेनेत्थं कर्तव्यमिदं वानेनेति नियोजितवान् । ताश्च योजयित्वा पुनः पश्चात् प्रबुद्धतत्त्वः परिज्ञातहेयोपादेयस्वरूपः अद्भुतोदयः अद्भुतोऽचिन्त्य उदयो गर्भावतार[4]प्रभृतितः शक्रादिसंपादितो विभूतिविशेषो यस्य स, इत्थंभूतो भगवान् निर्विविदे निर्विण्णवान्, कस्मात् ? ममत्वतः, ममेति षष्ठ्यन्तप्रतिरूपको निपातो ममेत्यस्य भावो ममत्वं तस्मात् । यतः इत्थंभूतः संपन्नो भगवान् तत एवासौ विदां तत्त्ववेदिनां विपश्चितां वरः प्रधानः ॥२॥

गृहस्थ-अवस्था में ऐसे होते हुए, भगवान् वैराग्य को प्राप्त हुए, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः प्रजापतिः 'बभूव') जो तीन लोक की समस्त जनता के स्वामी थे, जिन्होंने (प्रथमं) कर्मभूमि के प्रारम्भ में (प्रबुद्धतत्त्वः) मति, श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा लोगों के कर्म तथा उनके फलों को जानकर (जिजीविषूः प्रजाः) जीवित रहने की इच्छुक जनता को (कृष्यादिषु कर्मसु) खेती आदि आजीविका के उपयोगी छह कार्यों में (शशास) शिक्षित किया था और (पुनः) फिर (प्रबुद्धतत्त्वः) हेय-उपादेय तत्त्व को अच्छी तरह जानकर (अद्‌भुतोदयः) इन्द्र आदि के द्वारा की हुई आश्चर्य-कारी विशिष्ट विभूति को प्राप्त होते हुए जो (ममत्वतः) ममता भाव से—परिग्रह विषयक आसक्ति से (निर्विविदे) विरक्त हो गये थे तथा इन सब कारणों से जो (विदांवरः) श्रेष्ठ ज्ञानी हुए थे ॥२॥

भावार्थ—तृतीयकाल में जब पल्य का आठवाँ भाग बाकी रह गया, तब क्रम-क्रम

---

१. पदघटनात् ख-प्रतौ २. भगवान् वृषभनाथ तृतीय काल में उत्पन्न हुए थे और तृतीय काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहने पर मोक्ष चले गये थे इसलिए यहाँ चतुर्थ काल का उपलक्षण कर्मभूमि का प्रारम्भ समझना चाहिये । ३. स यतः ४. गर्भावतारात् ख-प्रतौ ।

से भोगभूमि नष्ट होकर कर्मभूमि प्रारम्भ हुई। भगवान् वृषभदेव के होते-होते कल्पवृक्ष नष्ट हो गये तथा बिना बोये अर्थात् अपने आप उत्पन्न होनेवाली धान्य का उपजना बन्द हो गया। आजीविका के बिना लोग दुखी होने लगे, तब सब लोग अन्तिम कुलकर नाभिराज की सम्मति से भगवान् वृषभदेव के पास गये। सबने अपना दुःख प्रगट किया, उसी समय भगवान् ने अवधिज्ञान से विदेहक्षेत्र की कर्मभूमि की व्यवस्था को जानकर भरतक्षेत्र में भी वही व्यवस्था चालू की। सबके लिए कृषि–खेती करना, मषी–लेखन कार्य करना, असि–शस्त्र चलाना, विद्या–गायन वादन आदि मनोरंजन के कार्य करना, शिल्प–कलाकौशल के द्वारा वस्तुओं का निर्माण करना और वाणिज्य–व्यापार करना इन छह कार्यों का उपदेश दिया। नगरी आदि की रचना कर, राजा प्रजा का विभाग स्थिर किया। इन सब व्यवस्थाओं के कारण भगवान् प्रजापति–तीन लोक की समस्त प्रजा के स्वामी हुए और बाद में हेय–छोड़ने योग्य तथा उपादेय–ग्रहण करने योग्य तत्त्वों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्तकर, वे संसार से विरक्त हो गये, इन्द्र आदि देवों ने उनके दीक्षाकल्याणक आदि आश्चर्यकारी उत्सव किये तथा केवलज्ञान प्राप्तकर, वे ज्ञानियों में श्रेष्ठ बन गये। इन्हीं सब घटनाओं का वर्णन इस पद्य में किया गया है ॥२॥

निर्विण्णः सन् भगवान् किं कृतवानित्याह—

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

विहायेत्यादि—यो विनिर्विण्णो नाभिनन्दनः स प्रवव्राज प्रव्रज्यां गृहीतवान्। किं कृत्वा ? विहाय त्यक्त्वा कां ? वसुधावधूं वसु द्रव्यं दधातीति वसुधा सैव वधूर्महिला ताम्, नारकादिवसुधा तेन त्यक्ता भविष्यतीत्याह—इमां दृश्यमानां, किंविशिष्टां ? सागरवारि-वाससं सागरः समुद्रस्तस्य वारि पानीयं तदेव वासः परिधानं यस्यास्तां सकलसमुद्रपर्यन्तां पृथ्वीं त्यक्त्वेत्यर्थः। पुनरपि कथंभूतां ? सतीम्, अन्येनाभुक्तां, कामिव ? वधूमिव तथा नि-र्विण्णेन भगवता सती वधूः अन्तःपुरमहिला परित्यक्ता यथा सापीत्यर्थः। किंविशिष्टोऽसौ तां विहाय प्रवव्राजेत्याह—मुमुक्षुर्मोक्तुमिच्छुर्मुमुक्षुः संसारसमुद्रादुत्तितीर्षुरित्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टः ? इक्ष्वाकुकुलादिः इक्ष्वाकवो राजानस्तेषां कुलं वंशस्तस्यादिः, आत्मवान् वश्येन्द्रियः अतएव प्रभुः स्वतन्त्रः, सहिष्णुः परीषहैरपराजितस्तान् सोढुं समर्थ इत्यर्थः, अतएवाच्युतो दुःसहपरीषहक्लेशोपनिपाते प्रतिज्ञातव्रतादनपसृतत्वात् अचलितत्वात् ॥३॥

विरक्त होते हुए भगवान् ने क्या किया ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः) जो (मुमुक्षुः) मोक्ष के अभिलाषी अथवा संसार-समुद्र से पार उतरने के इच्छुक थे, (आत्मवान्) जितेन्द्रिय थे, (प्रभुः) सामर्थ्यवान् अथवा स्वतन्त्र थे, (सहिष्णुः) परीषह आदि की बाधाओं को सहन करने वाले थे, (अच्युतः) गृहीत व्रत से अविचलित रहने वाले थे, (इक्ष्वाकुकुलादिः) इक्ष्वाकु-कुल अथवा समस्त राज-वंशों में आदि पुरुष थे और जिन्होंने (सतीम्) किसी अन्य राजा के द्वारा अभुक्त होने से पतिव्रता (इमाम्) इस (सागरवारिवाससम्) समुद्र के जलरूप वस्त्र को धारण करने वाली—समुद्रान्त, (वसुधावधूम्) धनधान्य से परिपूर्ण पृथिवीरूपी स्त्री को (सतीं वधूमिव) पतिव्रता स्त्री के समान (विहाय) छोड़कर (प्रवव्राज) दीक्षा धारण की थी ।।३।।

भावार्थ—भगवान् वृषभदेव कर्मभूमि के प्रथम राजा थे, इनके पहले भरतक्षेत्र में भोगभूमि की व्यवस्था रहने से कोई राजा नहीं था, इन्द्र ने प्रथम राज्याभिषेक इन्हीं का किया था और उस समय की पृथिवी सचमुच ही वसुधा अर्थात् वसु—धन को धारण करने वाली थी, फिर भी विरक्त होकर भगवान् ने इस समुद्रान्त पृथिवी को इस प्रकार छोड़ दिया, जिस प्रकार कि अन्तःपुर की स्त्री सुनन्दा और यशस्वती को छोड़ दिया था । इस पृथिवी को छोड़ने का मूल कारण यही था कि भगवान् मुमुक्षु थे, संसार के बन्धन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक थे । वे जितेन्द्रिय थे, इसलिए संसार के प्रलोभन उन्हें लुभा नहीं सके, वे स्वतंत्र थे, इसलिए दो स्त्रियों, एक सौ एक पुत्रों तथा दो पुत्रियों का विशाल परिवार उन्हें रोकने में समर्थ नहीं हो सका, वे सहनशील थे इसलिए लगातार एक वर्ष तक क्षुधा-तृषा आदि परीषहों की बाधा सहन करते रहे और अच्युत थे—गृहीत व्रत से विचलित होनेवाले नहीं थे, इसीलिए देखा-सीखी साथ में दीक्षा लेने वाले चार हजार राजाओं के विचलित हो जाने पर भी वे अपने पथ पर अडिग बने रहे ।।३।।

प्रव्रज्यामादाय भगवान् किं कृतवानित्याह—

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।४।।

स्वदोषेत्यादि—स्वस्यात्मनो दोषा रागादयस्तेषां मूलं कारणं घातिकर्मचतुष्टयं तत्

निनाय नीतवान् । कां ? निर्दयभस्मसात्क्रियाम् दयातो निष्क्रान्ता निर्दया सा चासौ भस्मसात्क्रिया च कात्स्न्र्येन भस्मकरणं भस्मसात्क्रिया ताम् । केन ? स्वसमाधितेजसा स्वस्य समाधिः परमशुक्लध्यानं स एव तेजोऽग्निस्तेन तत्क्रियां तन्नयन् स किं कृतवा-नित्याह—जगाद कथितवान् किं ? तत्त्वं जीवादिस्वरूपं, कस्मै ? जगते प्राणिगणाय, कथं-भूताय ? अर्थिने तत्त्वपरिज्ञानाभिलाषिणे । सुगतवत् [1]बुद्धवत् परप्रतारकत्वेनासौ तत्त्वं कथितवानित्याह—अञ्जसा परमार्थेन । ननु बुभुक्षादिदुःखपीडितः कदाचिद्वितथमपि कथ-यिष्यत्यतोऽञ्जसेत्ययुक्तमित्यत्राह—बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः बभूव च संजातवांश्च कथंभूतो ब्रह्मपदामृतेश्वरः ब्रह्मपदं मोक्षस्थानं तस्यामृतमनन्तं सुखं तस्येश्वरः स्वामी अतः कथं तत्र भगवति [2]क्षुद्दुःखलेशोऽपि यतः केवलिभुक्तिपरिकल्पना श्रेयसी स्यात् ।।४।।

दीक्षा लेकर भगवान् ने क्या किया ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वदोषमूलम्) अपने काम-क्रोध आदि समस्त दोषों के मूल कारण—चार घातिया कर्मों को (स्वसमाधितेजसा) परम शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा (निर्दयभस्मसात्क्रियां निनाय) निर्दयतापूर्वक भस्मभाव को प्राप्त कराया—समूल नष्ट कर दिया तथा जिन्होंने (अर्थिने जगते) तत्त्वज्ञान के अभिलाषी प्राणिसमूह के लिये (अञ्जसा) वास्तविक (तत्त्वं) जीवादि तत्त्वों का स्वरूप (जगाद) कहा (च) और अन्त में जो (ब्रह्मपदामृतेश्वरः) मोक्षस्थान के अविनाशी-अनन्तसुख के स्वामी (बभूव) हुए ।।४।।

भावार्थ—भगवान् वृषभदेव ने दीक्षा लेकर एक हजार वर्ष तक कठिन तपश्चर्या की और उसकी साधना के फलस्वरूप शुक्लध्यान के द्वारा अपने काम-क्रोधादि समस्त विकारी-भावों के मूल कारण चार घातिया कर्मों को नष्टकर, अरहन्त अवस्था प्राप्त की । समवसरण की रचना हुई और गन्धकुटी में विराजमान होकर, उन्होंने तत्त्वज्ञान के अभिलाषी प्राणियों को समीचीन उपदेश दिया । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भगवान् ने दूसरों को उपदेश तब दिया जब अपने विकारी-भावों को पहले स्वयं नष्ट कर लिया और यथार्थ में क्रम भी यही है कि जब तक मनुष्य अपने दोषों का शमन न कर ले, तब तक उसे दूसरों के लिए उपदेश देना शोभास्पद नहीं होता । प्रत्येक तीर्थङ्कर दीक्षा लेने के बाद, जब तक दोषों का शमन कर सर्वज्ञ नहीं बन जाते तब तक का समय मौन से ही व्यतीत करते हैं । अरहन्त भगवान्, वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं, इसलिए उनका उपदेश यथार्थ ही होता है । अरहन्त अवस्था में तथा उसके

१. ख-पुस्तके 'बुद्धवत्' नास्ति २. क्षुद्र क्षुद्-ख-प्रतौ ।

बाद प्रकट होनेवाली सिद्ध अवस्था में वे भगवान् अनन्तसुख के स्वामी थे, इसलिए क्षुधा-तृषा आदि सम्बन्धी दुःख दूर करने के लिए केवली कवलाहार करते हैं, ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है ॥४॥

अत्राह मीमांसको, भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानविकलतया सकलपदार्थपरिज्ञानासंभवात् कथमञ्जसा तत्त्वप्रतिपादनं घटेतेत्याह—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥५॥

स विश्वचक्षुरित्यादि—प्रागुक्तविशेषणविशिष्टो भगवान् विश्वचक्षुः चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं पदार्थप्रकाशनहेतुत्वात् विश्वस्मिन् त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुसंघाते चक्षुःप्रकाशकत्वेन प्रवृत्तं केवलज्ञानं यस्य सः । किन्नामासौ ? वृषभो वृषो धर्मस्तेन भाति शोभते स वा भाति प्रकटीभवति यस्मादसौ वृषभः । कथंभूतः ? अर्चितः पूजितः, केषां ? सतां विपश्चितामिन्द्रादीनाम् । ननु सकलकर्मक्षयात्पूर्वमसौ विश्वचक्षुरस्तु तत्प्रक्षये तु जडो भवति बुद्ध्यादिविशेषगुणादीनामत्यन्तोच्छेदादिति यौगाः । चैतन्यमात्ररूप इति सांख्याः । अत्राह—समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः अञ्जनात् ज्ञानावरणादिकर्मणो निष्क्रान्तो निरञ्जनः सकलकर्मविप्रमुक्तः सन् आत्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जडो नापि चैतन्यमात्ररूपः समग्राः सम्पूर्णा जीवाद्यशेष[१]वस्तुविषया विद्या बुद्धिरात्मनो वपुः स्वरूपं यस्य सः । इत्थंभूतो भगवान् किं करोतु ? पुनातु पवित्रीकरोतु सकलदोषविशुद्धं करोत्वित्यर्थः । किं तत् ? चित्तमात्मस्वरूपं, कस्य ? मम स्तुतिकर्तुः, पुनरपि कथंभूतो वृषभः ? नाभिनन्दनः नाभेश्चतुर्दशकुलकरस्य नन्दनः सुतः । जिनो निखिलबाह्याभ्यन्तरशत्रुनिर्मूलोन्मूलकः । जितक्षुल्लकवादिशासनः क्षुल्लकानि लघूनि क्षुद्राणि विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वाभावात् तानि च तानि वादिशासनानि च परस्परविरुद्धं सर्वथानित्यक्षणिकादितत्त्वं वदन्तीति वादिनः कपिलेश्वरसुगतादयस्तेषां शासनानि मतानि जितानि क्षुल्लकवादिशासनानि येनेति । अजितक्षुल्लकवादिशासनः इति च पाठः[२], न जितं क्षुल्लकवादिभिः शासनं यस्य ॥५॥

यहाँ मीमांसक कहता है कि चूँकि भगवान् को अतीन्द्रिय-ज्ञान का अभाव होने से समस्त पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है, अतः तत्त्वों का यथार्थ प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विश्वचक्षुः) जिनका केवलज्ञानरूप चक्षु समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है, जो (सताम्) इन्द्र आदि सत्पुरुषों के (अर्चितः) पूजित हैं, (समग्र-

१. जीवाद्यशेषविषया ख-प्रतौ । २. पाठे तु ख-प्रतौ ।

विद्यात्मवपुः) जीवाजीवादि समस्त पदार्थों को विषय करने वाली बुद्धि ही जिनकी आत्मा का स्वरूप है, (निरञ्जनः) ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित होने के कारण जो निर्मल हैं, (नाभिनन्दनः) चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र हैं, (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं और (जितक्षुल्लकवादिशासनः) जिन्होंने क्षुद्रवादियों के शासन को जीत लिया है अथवा (अजितक्षुल्लकवादिशासनः) जिनका शासन क्षुद्रवादियों के द्वारा नहीं जीता जा सका है (सः) वे (वृषभः) धर्म से सुशोभित रहने वाले अथवा धर्म को सुशोभित करने वाले वृषभनाथ भगवान् (मम) मेरे (चेतः) चित्त को (पुनातु) पवित्र करें—रागादि विकारीभावों से रहित कर निर्मल बनावें ।।५।।

भावार्थ—मीमांसक; सर्वज्ञ को नहीं मानता, इसलिए उसने कहा था कि अतीन्द्रियज्ञान से रहित होने के कारण भगवान् को समस्त पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है और इस दशा में वे यथार्थ ही तत्त्व का प्रतिपादन करेंगे यह नहीं कहा जा सकता.... इसका समाधान करने के लिए इस पद्य में कहा गया है कि भगवान् वृषभदेव विश्वचक्षु हैं । यहाँ चक्षु का अर्थ पदार्थ-प्रकाशक होने के कारण केवलज्ञान लिया है अर्थात् भगवान् का केवलज्ञानरूप चक्षु समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है । फलतः वे सर्वज्ञ हैं और साथ ही निरञ्जन भी हैं—कर्ममल कलंक से रहित हैं, इसलिए उनके द्वारा पदार्थों का प्रतिपादन यथार्थ ही संभव है; अयथार्थ नहीं । भगवान् की आत्मा; ज्ञान आदि गुणों से तन्मय रहती है, इसलिए यौगों के समान बुद्धि आदि गुणों के सर्वथा उच्छेद की आशंका और सांख्यों के समान पदार्थ ग्रहण की शक्ति के अभाव की कल्पना श्रेयस्करी नहीं है । यहाँ स्तुतिकर्ता स्तुति के फलस्वरूप किसी सांसारिक-भौतिक फल की चाह न कर; मात्र यह इच्छा प्रकट करते हैं कि भगवान् मेरे हृदय को पवित्र करें—रागादि विकारों से उसे मलिन नहीं होने दें, मैं निरञ्जन—कर्म कलङ्क से रहित जिनेन्द्र की उपासना कर रहा हूँ, इसलिए उसके फलस्वरूप हृदय में निरञ्जनता—कर्म कलङ्क रहितता होनी ही चाहिए ।।५।।

इति वृषभजिनस्तवनम्

श्री अजितजिनस्तवनम्

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्दः ।
अजेय-शक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यवन्ध्यम् ॥१॥

यस्य प्रभावादित्यादि—उपजातिच्छन्दः[१]। यस्य नाम चकार कृतवान् । कोऽसौ ? बन्धुवर्गः, कथंभूतस्य ? त्रिदिवच्युतस्य त्रिदिवात्स्वर्गात् च्युतोऽवतीर्णस्तस्य, किंविशिष्टो बन्धुवर्गः ? अजेयशक्तिः न जीयत इत्यजेया शक्तिः सामर्थ्यं यस्य, क्व ? क्रीडास्वपि न केवलं महायुद्धेषु, कुतः ? प्रभावान्माहात्म्याद्यस्येत्येतदत्राप्यभिसम्बद्ध्यते, पुनरपि किंविशिष्टोऽसौ ? क्षीवमुखारविन्दः मुखमेवारविन्दं कमलं मुखारविन्दं क्षीवं समदं हर्षितं मुखारविन्दं यस्य इत्थंभूतो बन्धुवर्गो बन्धुसमूहः, तस्य नाम चकार कृतवान्, क्व भुवि पृथिव्यां, कथंभूतं नाम ? अजित इति न केनचिज्जीयत इत्यजितः, अत एवावन्ध्यमन्वर्थम् ।

भगवान् के अजित नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(त्रिदिवच्युतस्य) स्वर्ग से अवतीर्ण हुए (यस्य) जिनके (प्रभावात्) प्रभाव से उनका (बन्धुवर्गः) कुटुम्बि-समूह (क्रीडास्वपि) बालक्रीड़ाओं में भी (क्षीवमुखारविन्दः) हर्षोन्मत्त मुखकमल से युक्त हो जाता था तथा जिनके प्रभाव से वह बन्धुवर्ग (भुवि) पृथिवी पर (अजेयशक्तिः) अजेय शक्ति का धारक रहता था, इसीलिए उस बन्धुवर्ग ने (यस्य) जिनका (अजितः) अजित (इति) यह (अवन्ध्यम्) सार्थक (नाम) नाम (चकार) रखा था ॥१॥

भावार्थ—भगवान् अजितनाथ विजय नामक अनुत्तर विमान से च्युत होकर अयोध्या के राजा जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । वे इतने प्रभावशाली थे कि उनके उत्पन्न होते ही कुटुम्बिजनों का समूह उनके प्रभाव से बड़े-बड़े युद्धों की बात दूर रहे, बालक्रीड़ाओं में भी कभी किसी से पराजित नहीं होता था। अपनी इस अजेय शक्ति के कारण उसका मुखकमल सदा विजय के गर्व से उल्लसित रहता था, इसीलिए उसने उनका 'अजित' जो किसी के द्वारा जीता न जावे ऐसा सार्थक नाम रखा था ॥१॥

---

१. 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' जिसके चरण इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा से मिश्रित हों उसे उपजाति कहते हैं । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' जिसमें दो तगण एक जगण और दो गुरु हों वह इन्द्रवज्रा है । 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' जिसमें जगण तगण जगण और दो गुरु हों उसे उपेन्द्रवज्रा कहते हैं । इन दोनों के मेल से उपजाति के १४ भेद हो जाते हैं । तथा च वृद्धाः—एकत्र पादे चरणद्वये वा पादत्रये वान्यतरस्थितिश्चेत् । तयोरिहान्यत्र तदोहनीयाश्चतुर्दशोक्ता उपजातिभेदाः ।

—वृत्तरत्नाकरस्य नारायणी टीका ।

अत एवेष्टप्रयोजनसिद्ध्यर्थं भव्यजनैरिदानीमपि तदुच्चार्यत इत्याह—

अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥२॥

अद्यापीत्यादि—अद्यापि इदानीमपि न केवलं तत्काले यस्याजितस्य भगवतः, कथंभूतस्य ? अजितशासनस्य अजितमनिराकृतं परवादिभिः शासनमनेकान्तमतं यस्य तस्य, कथंभूतस्य ? सतां प्रणेतुः सतां भव्यानां प्रणेतुः सन्मार्गे प्रवर्त्तकस्य नाम प्रगृह्यते उच्चार्यते, परमुत्कृष्टं पवित्रं सकलमलविलयकारणं, केन ? जनेन, कथंभूतेन ? स्वसिद्धि-कामेन स्वस्य सिद्धिः पराभिभवेनात्मनोऽभिप्रेतप्रयोजननिष्पत्तिस्तत्र कामो यस्य तेनात्म-जयाभिलाषिणेत्यर्थः, किमर्थं ? प्रतिमङ्गलार्थं प्रतिमङ्गलाय प्रतिमङ्गलार्थं मङ्गलं मङ्गलं प्रति सिद्धिनिमित्तमित्यर्थः । क्व ? लोके ।

इसलिए इष्टसिद्धि के अर्थ भव्यजन अब भी उनके नाम का उच्चारण करते हैं, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अजितशासनस्य) परवादियों के द्वारा अविजित अनेकान्तमत से युक्त तथा (सतां प्रणेतुः) सत्पुरुषों के प्रधान नायक (यस्य) जिन अजितनाथ भगवान् का (परं पवित्रं) अत्यन्त पवित्र (नाम) नाम (अद्यापि) आज भी (लोके) लोक में (स्वसिद्धिकामेन) अपने मनोरथों की सिद्धि के इच्छुक (जनेन) जन समूह के द्वारा (प्रतिमङ्गलार्थम्) प्रत्येक मङ्गल के लिये (प्रगृह्यते) सादर ग्रहण किया जाता है ।

भावार्थ—भगवान् अजितनाथ का अनेकान्तमतरूप शासन सर्वथा एकान्तवादियों के द्वारा सदा अविजित रहता था और वे भव्य पुरुषों के प्रधान नेता थे—स्वयं समीचीन मार्ग पर चलकर उन्हें समीचीन मार्ग में—मोक्षपथ में चलाने वाले थे, इसलिए उनका लोकोत्तर माहात्म्य न केवल उस समय था किन्तु आज भी वैसा ही माहात्म्य बना हुआ है, इसीलिए अपने मनोरथों की सिद्धि चाहने वाले मनुष्य आज भी प्रत्येक मङ्गल के निमित्त उनके पवित्र नाम का उच्चारण बड़ी श्रद्धा के साथ किया करते हैं ॥२॥

यस्य[१] भगवतो नाम गृह्यते स किमर्थं प्रतिबन्धकप्रक्षयं कृत्वा सर्वज्ञः प्रादुर्भूत इत्याह—

यः प्रादुरासीत् प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥३॥

यः प्रादुरासीदित्यादि—यो भगवान् प्रादुरासीत् प्रादुर्भूतवान्, किमर्थं ? भव्याशया-

१. यस्य इतोऽग्रे मङ्गलवतः ख-प्रतौ ।

लीनकलङ्कशान्त्यै भव्यानामाशयः चित्तं चिद्रूपमात्मस्वरूपं तत्रालीनो लग्नः स चासौ कलङ्कश्च अज्ञानं तत्कारणं ज्ञानावरणादिकर्म च तस्य शान्त्यै विनाशाय भव्यप्रतिबोधनायेत्यर्थः । केन? प्रभुशक्तिभूम्ना प्रभवति समर्थो भवत्युपकारं कर्तुमिति प्रभुर्जगतामुपकारको भगवान् तस्य शक्तिर्वाणी यया तेषामुपकारं कर्तुं शक्नोति तस्या भूमा जीवाद्यर्थप्ररूपणे माहात्म्यविशेषः प्राचुर्यं वा तेन, कथंभूतोऽसौ? महामुनिः गणधरदेवादिमुनीनां प्रधानः प्रत्यक्षज्ञानी वा, क इव कस्मै प्रादुरासीदित्याह—मुक्त इत्यादि—यथा भास्वानादित्यः प्रादुरासीत् किमर्थं? अरविन्दाभ्युदयाय अरविन्दानां पद्मानामभ्युदयो विकासलक्षणा विभूतिस्तस्मै, किंविशिष्टो भास्वान्? मुक्तघनोपदेहः मुक्तो घनैर्मेघैरुपदेह उपलेपः प्रच्छादनं यस्य ॥३॥

जिन भगवान् का नाम लिया जाता है, वे किस प्रकार प्रतिबन्धकों का क्षय करके सर्वज्ञ हुए थे? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मुक्तघनोपदेहः) ज्ञानावरणादि कर्मरूप सघन आवरण से रहित (यः) जो (महामुनिः) गणधरादि देवों में प्रधान अथवा प्रत्यक्षज्ञानी अजितनाथ भगवान् (भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै) भव्यजनों के हृदय में संलग्न अज्ञान अथवा उसके कारणभूत ज्ञानावरणादि कर्मरूप कलङ्क की शान्ति के लिये (प्रभुशक्तिभूम्ना) जगत् का उपकार करने में समर्थ वाणी के माहात्म्य विशेष अथवा प्रभुत्वशक्ति की प्रचुरता से ('तथा' प्रादुरासीत्) उस तरह प्रकट हुए थे (यथा) जिस तरह कि (मुक्तघनोपदेहः) मेघरूप आच्छादन से मुक्त (भास्वान्) सूर्य (अरविन्दाभ्युदयाय) कमलों के विकासरूप अभ्युदय के लिये प्रकट होता है।

भावार्थ—भगवान् अजितनाथ, गणधरादि मुनियों में प्रधान होने के कारण अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त होने के कारण महामुनि कहलाते थे। जिस प्रकार सूर्य, मेघों के आवरण को चीरकर अपने प्रखर प्रताप से कमलों के आह्लाद का कारण होता है, उसी प्रकार भगवान् अजितनाथ भी घातियाकर्मरूप आवरण को छिन्न-भिन्न कर केवलज्ञान से युक्त हो अपनी लोकोपकारक दिव्यध्वनि की महिमा से भव्यजीवों के हृदय में विद्यमान अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले हुए थे ॥३॥

तदर्थं प्रादुर्भूतेन च तेन किं कृतमित्याह—

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं[1] जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥४॥

१. अतिशयेन प्रशस्यं ज्येष्ठं, 'प्रशस्य श्रा' इति श्रा आदेशे श्रेष्ठ 'ज्या च' इति ज्या आदेशे ज्येष्ठं भवति ।

येनेत्यादि—येनाजितनाम्ना तीर्थङ्करदेवेन प्रणीतं प्रकाशितं किं? धर्मतीर्थं धर्मस्योत्तम-क्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य च प्रतिपादकं तीर्थं श्रुतं, कथंभूतं? पृथु महत् सकल-पदार्थविषयतया ज्येष्ठं सकलधर्मतीर्थप्रधानं पुनरपि कथंभूतं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखं यदित्यध्याहार्यं यद्धर्मतीर्थं प्राप्य लब्ध्वा जनाः भव्याः जयन्ति निराकुर्वन्ति दुःखं संसार-परिभ्रमणक्लेशं, किमिव कथंभूतं के? इत्याह—गाङ्गमित्यादि—गङ्गाया अयं गाङ्गो ह्रदस्तं, कथंभूतं? चन्दनपङ्कशीतं चन्दनस्य पङ्को जलकर्दमस्तस्य शीतमिव शीतं यस्य तं प्राप्य गजप्रवेका इव गजानां प्रवेकाः प्रवराः यथा घर्मेण तप्ता घर्मतप्ताः जयन्ति दुःखमिति ॥४॥

उत्पन्न हुए भगवान् ने क्या किया? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(येन) जिन अजितनाथ भगवान् के द्वारा (प्रणीतं) प्रकाशित (पृथु) अत्यन्त विस्तृत एवं (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म के प्रतिपादक श्रुत को (प्राप्य) पाकर (जनाः) भव्यजीव (दुःखं) संसार परिभ्रमणरूप क्लेश को उस तरह (जयन्ति) जीत लेते हैं जिस तरह कि (घर्मतप्ताः) सूर्य के आताप से पीड़ित (गजप्रवेकाः) बड़े-बड़े हाथी (चन्दनपङ्कशीतं) चन्दन के द्रव के समान शीतल (गाङ्गं ह्रदं) गङ्गा नदी के द्रह—अगाध जल को पाकर सूर्य के संताप से उत्पन्न दुःख को जीत लेते हैं।

भावार्थ—उत्तमक्षमा आदि दशलक्षण-धर्मरूप आत्मा की परिणति अथवा चारित्र को धर्म कहते हैं। इस धर्म का प्रतिपादन करने वाला परमागम तीर्थ कहलाता है। भगवान् अजितनाथ ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जिस परमागमरूप धर्मतीर्थ का प्रकाश किया था, वह द्वादशाङ्ग में विस्तृत होने के कारण अत्यन्त महान् है और समस्त धर्मतीर्थों में प्रधान होने के कारण अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस परमागम की शरण पाकर भव्यजीव चतुर्गति के परिभ्रमणजन्य क्लेश से उस तरह छूट जाते हैं, जिस तरह कि घाम से पीड़ित हाथी, गङ्गा नदी के अत्यन्त शीतल, अगाध जल को पाकर गर्मी के दुःख से छूट जाते हैं ॥४॥

ननु किं फलमुद्दिश्य भगवता धर्मतीर्थं प्रणीतमित्याह—

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु-र्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥५॥

स ब्रह्मनिष्ठ इत्यादि—सोऽजितो भगवान् ब्रह्मनिष्ठः ब्रह्मणि सकलदोषरहिते परमात्मस्वरूपे निष्ठा परिसमाप्तिर्यस्य, अतो न किञ्चित् तत्प्रणयने फलमसावपेक्षते कृतकृत्यत्वात् केवलं परार्थैवास्य प्रवृत्तिः। अतएव सममित्रशत्रुः मित्राणि च शत्रवश्च

मित्रशत्रवस्ते समा यस्य, कथमसौ ब्रह्मनिष्ठः कथं वा सममित्रशत्रुरित्याह—विद्येत्यादि—विद्यया परमागमज्ञानं तदर्थानुष्ठानलक्षणया विशेषेण निर्वान्ताः सुत्यक्ताः कषाया द्रव्य-क्रोधादयो दोषा भावक्रोधादयो वा येन निराकृतद्रव्यभावरूपघातिकर्ममलकलङ्क इत्यर्थः । यत एवंविधोऽसौ ततो ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुश्च भवति । भवतु तथाविधोऽसौ तन्निष्ठस्तथापि तदा चैतन्यमात्रस्वरूपः किञ्चिज्ज्ञो वा भविष्यति अतः कथं धर्मतीर्थं प्रणीतवानित्याह—लब्धात्मलक्ष्मीरिति—आत्मनो लक्ष्मीरनन्तज्ञानादिलक्षणा लब्धा प्राप्ता सा येनासौ लब्धात्म-लक्ष्मीः, 'समासान्तो विधिरनित्य' इति वचनात् 'ऋन्मोः' इति कः प्रत्ययो न भवति इत्थंभूतः अजितः अन्तरङ्गैर्बाह्यैश्च शत्रुभिर्न जीयत इत्यजितः जितात्मा जित आत्मा येनासौ जितात्मा आत्मवान् इत्यर्थः इन्द्रियाधीनो न भवतीति यावत् । भगवान् विशिष्टज्ञानवान् पूज्यो वा विधत्ताम् करोतु, कां ? जिनश्रियं जिनस्य श्रीरनन्तज्ञानादिविभूतिस्तां मे मह्यम् ॥५॥

किस फल का लक्ष्य कर भगवान् ने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विद्याविनिर्वान्त-कषाय-दोषः) जिन्होंने परमागम के ज्ञान और उसमें प्रतिपादित मोक्षमार्ग के अनुष्ठानरूप विद्या के द्वारा कषायरूपी दोषों को अथवा द्रव्यक्रोधादिरूप कषाय और भावक्रोधादिरूप दोषों को बिल्कुल नष्ट कर दिया है, जो (ब्रह्मनिष्ठः) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हैं, (सममित्रशत्रुः) जिन्हें मित्र और शत्रु समान हैं, (लब्धात्मलक्ष्मीः) जो आत्मा की अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर चुके हैं, और (जितात्मा) जिन्होंने अपने आपको जीत लिया है अर्थात् जो इन्द्रियों के आधीन नहीं हैं (सः) वे (अजितः भगवान्) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओं के द्वारा अपराजित अजितनाथ भगवान् (मह्यम्) मेरे लिये (जिनश्रियम्) आर्हन्त्यलक्ष्मी—अनन्तज्ञानादि विभूति (विधत्ताम्) प्रदान करें ।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान और तदनुरूप आचरण से जिनके क्रोधादि कषाय नष्ट हो गये हैं तथा इसके फलस्वरूप जिनका उपयोग बाह्य पदार्थों में न जाकर शुद्ध आत्म स्वरूप में लग रहा है । क्रोधादि कषायों के नष्ट हो जाने से जिन्हें शत्रु और मित्र समान प्रतिभासित होने लगे हैं, जिन्हें राग-द्वेष से रहित शुद्ध आत्मलक्ष्मी—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य की प्राप्ति हो चुकी है तथा कषाय के नष्ट हो जाने से जिनका विषयानुराग समाप्त हो गया है, इसीलिए विषयों में प्रवर्तक इन्द्रियाँ जिन्हें अपने आधीन नहीं कर सकी हैं, वे उत्कृष्ट ज्ञान अथवा अचिन्त्य ऐश्वर्य के धारक अजितनाथ तीर्थङ्कर मेरे लिए जिनलक्ष्मी—अनन्तचतुष्टयरूप विभूति प्रदान करें ॥५॥

इत्यजितजिनस्तवनम्

श्री शम्भवजिनस्तवनम्

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

त्वं शम्भवेत्यादि—इन्द्रवज्राछन्दः[1] । समन्तभद्रस्वामी तृतीयतीर्थङ्करदेवं चेतसि प्रत्यक्षरूपतया व्यवस्थाप्य त्वमित्याद्याह । शम्भव इत्यन्वर्था संज्ञेयम्, शं सुखं भवत्यस्माद् भव्यानामिति शंभवः । एतदेव दर्शयन्नाह—संभवेत्यादि—सं सुखं भवति येभ्यस्ते सम्भवाः स्रग्वनितादयः, यदि वा संगतोऽत्रुट्यद्रूपो भवः प्रादुर्भावो यत्रासौ सम्भवः संसारस्तत्र तर्षास्तृष्णास्ता एव रोगा दुःखहेतुत्वात् तैः संतप्तमानस्य पीड्यमानस्य जनस्य प्राणिगणस्य आसीरभूर्वैद्यः । क्व ? इह लोके इह जगति । कथंभूतः ? आकस्मिक एव तत्फलनिरपेक्ष एव । अत्र दृष्टान्तमाह—वैद्यो यथेत्यादि—वैद्यश्चिकित्सकः यथा येन फलानपेक्षप्रकारेण अनाथरुजां अनाथा अशरणा द्रव्यसहायहीनास्तेषां रुजो व्याधयस्तासां प्रशान्त्यै उपशमनाय आकस्मिक एव वैद्योऽभूत् तथा त्वमप्यासीः ॥१॥

भगवान् के शंभव नाम की सार्थकता बतलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वं शंभवः) आपसे भव्य जीवों को सुख प्राप्त होता है इसलिए आप 'शंभव' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले हैं । आप (इह लोके) इस संसार में (संभवतर्षरोगैः) सांसारिक भोग तृष्णारूप रोगों से (संतप्यमानस्य) अतिशय पीड़ित (जनस्य) जन समूह के लिए (तथा) उस तरह (आकस्मिक एव) फल की अपेक्षा से रहित (वैद्यः) वैद्य (आसीः) हुए थे (यथा) जिस तरह कि (अनाथरुजाम्) अशरण मनुष्यों के रोगों की (प्रशान्त्यै) शान्ति के लिए (वैद्यः) धनादि की इच्छा से रहित वैद्य होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस संसार के भीतर प्राणी भोगोपभोगों की तृष्णारूपी रोगों से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, उन सबका दुःख दूर करने के लिए आप प्रतिफल की इच्छा से रहित एक उत्तम वैद्य के समान प्रकट हुए थे । जिस प्रकार द्रव्य तथा सहायकों से रहित, अनाथ मनुष्यों के रोगों को प्रशान्त करने के लिए कोई कृपालु, निःस्पृह वैद्य प्रकट होता है, उसी प्रकार आप भी प्रकट हुए थे, अतः आपका 'शंभव' यह नाम अत्यन्त सार्थक है ॥१॥

१.'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' जिसके प्रत्येक चरण में तगण, तगण, जगण, गुरु और गुरु, इस प्रकार ग्यारह अक्षर हों उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं ।

यस्य जगतो भगवानाकस्मिको वैद्यः सम्पन्नस्तत्कीदृशमित्याह—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्त्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ।।२।।

अनित्यमित्यादि—उपेन्द्रवज्राछन्दः[1] । इदं प्रतीयमानं जगत् प्राणिसंघातः, कथंभूतम् ? अनित्यं विनश्वरम्, अनेन सर्वमाविर्भावतिरोभाववदिति सांख्यमतं प्रत्युक्तम् । पुनरपि कथंभूतं ? अत्राणं न विद्यते त्राणं रक्षणमस्येत्यत्राणमशरणमित्यर्थः, अनेनेश्वरो वा विष्णुर्वा तस्य त्रातेति यौगमीमांसकमतं निरस्तम् । कथं तदत्राणमित्याह—अहंक्रियाभिरित्यादि—अहमस्य सर्वस्य स्त्र्यादिविषयस्य स्वामीतिक्रियाः अहंक्रियास्ताभिः, प्रसक्तः संलग्नः प्रवृत्तो वा मिथ्या असत्योऽध्यवसायोऽभिनिवेशः स एव दोषो यस्य तत्तथोक्तं । अतएव जन्म-जरान्तकार्त्तं तत् जन्म प्रादुर्भावो जरा वृद्धत्वं अन्तको मरणं तैरार्त्तं पीडितं तदित्थंभूतं जगत् किं कृतवान् भवानित्याह—निरञ्जनामित्यादि—शान्तिं परमकल्याणं अजीगमस्त्वं इदं जगत्प्रापितवांस्त्वम् । कथंभूतां ? निरञ्जनां अञ्जनात्कर्ममलान्निष्क्रान्तं[2] यस्याः सा निरञ्जना तां मुक्तिरूपामित्यर्थः ।।२।।

जिस संसार के भगवान् आकस्मिक वैद्य हुए, वह कैसा है ? यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनित्यम्) विनश्वर, (अत्राणम्) रक्षक रहित, (अहंक्रियाभिः) 'मैं' ही सब पदार्थों का कर्त्ता-धर्त्ता हूँ, इस प्रकार अहंकार-ममकार की क्रियाओं से (प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्) संलग्न मिथ्याभिनिवेशरूप दोष से दूषित तथा (जन्मजरान्तकार्त्तं) जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु से पीड़ित (इदं जगत्) इस जगत् को (त्वम्) आपने (निरञ्जनां) कर्मकलङ्क से रहित मुक्तिरूप (शान्तिं) शान्ति को (अजीगमः) प्राप्त कराया है ।।२।।

भावार्थ—यह संसार विनाशीक है, रक्षक से रहित है, मिथ्या अभिप्राय के कारण बाह्य पदार्थों का कर्त्ता-धर्त्ता बनकर दुःखी हो रहा है तथा इसके फलस्वरूप जन्म-जरा और मरणरूप दुःख से निरन्तर पीड़ित हो रहा है । हे भगवन् जिस कारण विपन्न संसार को आपने कर्ममल कलङ्क से रहित अविनाशी, मोक्षरूपी शान्ति का स्वरूप बताकर उसे सुख सम्पन्न किया है, इसलिए आप आकस्मिक वैद्य हैं ।।२।।

१.'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और दो गुरु हों उसे उपेन्द्रवज्रा कहते हैं । २. अञ्जनात्कर्ममलान्निष्क्रान्तं तद्वा निष्क्रान्तं ।

अपरं च किं कृतवांस्त्वमित्याह—

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

शतह्रदोन्मेषेत्यादि—उपजातिच्छन्दः । शतह्रदा विद्युत् तस्या उन्मेष उन्मीलनं स इव चलं अस्थिरं सौख्यं इन्द्रियसुखं । कथंभूतं तदित्याह—तृष्णेत्यादि—तृष्णा संसारसुखाभिलाषः सैव आमयो व्याधिः तस्याप्यायनमात्रं पुष्टिमात्रं तस्य हेतुः । तत्पुष्टिश्च किं करोतीत्याह—तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं । तृष्णाया अभिवृद्धिः पुष्टिः तपति संतापयति अजस्रं अनवरतं तज्जनिततापो जगतः किं करोति, तदाह—ताप इत्यादि—तापस्तज्जगदायासयति अनेकदुःख-परम्परया क्लेशयति । सेवादिक्रियासु वा प्रवर्तयति इति एवं जगतः संबोधनार्थं त्वमेव अवादीः ।

इसके सिवाय आपने क्या किया, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (सौख्यं) इन्द्रियजन्य सुख (शतह्रदोन्मेषचलं) बिजली की कौंध के समान चञ्चल है तथा (तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः) तृष्णारूपी रोग की पुष्टि मात्र का कारण है । (च) और (तृष्णाभिवृद्धिः) तृष्णा की चौमुखी वृद्धि (अजस्रं) निरन्तर (तपति) ताप उत्पन्न करती है, एवं वह (तापः) ताप (तत्) जगत् को (आयासयति) क्लेशों की परम्परा द्वारा दुखी करता है (इति अवादीः) ऐसा आपने कहा था ।

भावार्थ—संसार के प्राणी जिस इन्द्रियजन्य सुख के पीछे पड़ रहे हैं, वह सुख बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है, तृष्णारूपी रोगों को बढ़ाने वाला है, तृष्णा की वृद्धि निरन्तर संताप—आकुलता को बढ़ाती रहती है और वह संताप प्राणियों को सेवा, कृषि आदि कार्यों में संलग्न कर दुःखी करता रहता है । इस तरह दुःख का यथार्थ निदान शंभवनाथ भगवान् ने संसार के प्राणियों को बताया था ॥३॥

ननु सुगतादिभिरपि तत्सम्बोधनार्थं बन्धाद्युपदेशः कृतोऽतस्त्वमेवावादीरित्ययुक्तमिति चेत् ? तन्न तन्मते बन्धमोक्षादेरेवासम्भवात् । एतदेवाह—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

बन्धश्चेत्यादि—इन्द्रवज्राछन्दः । जीवस्य कर्मणा संश्लेषो बन्धः, विश्लेषो मोक्षः चकारः परस्परसमुच्चये तयोर्बन्धमोक्षयोर्हेतू च, बन्धस्य हेतुर्मिथ्यात्वादिः मोक्षस्य हेतुः

सम्यग्दर्शनादिः । न केवलमेतत् किन्त्वन्यदपि, बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः—य एव पूर्वं बद्धः स एव पश्चात् मुक्तः, तस्यैव च मुक्तेः फलमनन्तज्ञानादिलक्षणसम्पन्नमित्येतत्सर्वं तवैव शंभवस्यैव कथंभूतस्य ? स्याद्वादिनोऽनेकान्तवादिनो मते युक्तमुपपन्नं नैकान्तदृष्टेः सुगतादेर्मते । न हि क्षणिकैकान्तवादिनो मते तत् घटते तत्र हि अन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते क्षणिकत्वात्, अन्यस्य बन्धकारणानुष्ठानमन्यस्य च बन्धः, अन्यस्य मुक्तिकारणानुष्ठान-मन्यस्य च मुक्तिरिति । नापि नित्यैकान्तवादिनो मते एतद् घटते तत्र हि यदि बद्धस्तदा बद्ध एव स्यादात्मा न मुक्तः, अथ मुक्तस्तदा मुक्त एव स्यान्न बद्धः सर्वथैकरूपत्वात् अन्यथा नित्यैकान्तविरोधः अतः सर्वथैकान्तवादिमते बन्धमोक्षादेरनुपपत्तेः । हे नाथ स्वामिन् ! त्वमेव असि भवसि शास्ता तत्त्वोपदेष्टा ॥४॥

आगे बन्ध, मोक्ष की व्यवस्था आपके ही मत में बनती है, सुगत आदि के मत में नहीं, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् (बन्धश्च) बन्ध, (मोक्षश्च) मोक्ष, (तयोर्हेतू च) बन्ध और मोक्ष के हेतु (बद्धश्च) बद्ध आत्मा (मुक्तश्च) मुक्त आत्मा (च) और (मुक्तेः) मुक्ति का (फलं) फल....यह सब (स्याद्वादिनः) अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले (तवैव) आपके ही (मते) मत में (युक्तं) ठीक होता है । (एकान्तदृष्टेः न) एकान्तदृष्टि रखने वाले बौद्ध अथवा सांख्य आदि के मत में ठीक नहीं होता (अतः) इसलिए (त्वम्) आप ही (शास्ता) तत्त्वोपदेष्टा (असि) हैं ।

भावार्थ—जीव का कर्मों के साथ जो एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है, वह बन्ध कहलाता है । जीव का कर्म के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का छूट जाना मोक्ष कहा जाता है । मिथ्यादर्शन आदि विकारीभाव बन्ध के कारण हैं । सम्यग्दर्शन आदि आत्मीयगुण मोक्ष के कारण हैं । कर्मपिण्ड से युक्त आत्मा बद्ध है । कर्मपिण्ड से रहित आत्मा मुक्त है तथा अनन्तज्ञान आदि आठ गुणों का प्रकट हो जाना मुक्ति का फल है । इन सबकी व्यवस्था; हे शंभवजिनेन्द्र ! आपके ही मत में बनती है, क्योंकि आप स्याद्वादी हैं—अनेकान्त की दृष्टि से पदार्थ का निरूपण करते हैं । आत्मा, द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा नित्य है और पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा अनित्य है, इसलिए द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा यह बात संगत हो जाती है कि जिस आत्मा ने पहले कर्म-बन्ध किया था वही आत्मा, सम्यग्दर्शनादि अन्तरङ्ग और तपश्चरण आदि बहिरङ्ग कारण के मिलने पर मुक्त हो जाता है तथा पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा आत्मा की बद्ध और मुक्त दशा संगत हो जाती है । बौद्ध, आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं

इसलिए उनके मत में बन्ध किसी का होता है तो मोक्ष किसी दूसरे का होता है, क्योंकि बन्ध करने वाला आत्मा सर्वथा क्षणिक होने से बन्ध करते ही नष्ट हो जाता है, अतः मोक्ष किसी दूसरे का होता है। सांख्यमत वाले आत्मा को सर्वथा नित्य मानते हैं, इसलिए उनके मतानुसार जो आत्मा बद्ध है, वह बद्ध ही रहेगा और जो मुक्त है, वह मुक्त ही रहेगा, क्योंकि एक ही आत्मा की क्रम से बद्ध और मुक्त दशा मानने पर आत्मा में अनित्यता आ जाने से सर्वथा नित्य का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यौगदर्शन—नैयायिक और वैशेषिकमत वाले मानते हैं कि मुक्ति में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार आदि विशिष्ट गुणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जबकि आपका कथन है कि जिस पदार्थ का जो गुण है, उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता, अतः मुक्त अवस्था में बुद्धि एवं सुख आदि का सर्वथा नाश नहीं होता, किन्तु बुद्धि अर्थात् ज्ञानगुण की जो क्षायोपशमिक अवस्था थी वह नष्ट होकर क्षायिक अवस्था हो जाती है। इसी तरह सुख की जो विषयजन्य अवस्था थी, वह नष्ट होकर अव्याबाध सुखरूप अवस्था हो जाती है। इसी तरह अन्य गुणों में समझना चाहिए। इस प्रकार मुक्ति का फल अनन्तज्ञानादि गुणों का प्रकट होना है। यह सब व्यवस्था आपके ही मत से ठीक बैठती है, इसलिए यथार्थ उपदेष्टा आप ही हैं ॥४॥

स्तोता स्वात्मनः औद्धत्यं परिहरन्नाह—

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥५॥

शक्रोऽपीत्यादि—उपजातिच्छन्दः। शक्रः इन्द्रः सोऽपि अवधिज्ञानसंपन्नः सकलश्रुतधरोऽप्यशक्तोऽसमर्थः कथंभूतः? स्तुत्यां स्तवने प्रवृत्तः सन् कस्य? तव शंभवतीर्थकरदेवस्य, कथंभूतस्य? पुण्यकीर्तेः पुण्या प्रशस्ता निर्मला कीर्तिः ख्यातिः वाणी वा 'कीर्त्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते जीवाद्यर्था ययेति' व्युत्पत्तेः, पुण्याय वा पुण्यनिमित्ता कीर्तिः कीर्तनं स्तुतिर्यस्य तस्य। किं पुनः मादृशो मनुष्यमात्रोऽज्ञो बुद्ध्यादिविशिष्टज्ञानविकलः शक्तो भविष्यति। तथापि अशक्तेनापि मया भक्त्यानुरागेण स्तुतपादपद्मः पादावेव पद्मौ पादपद्मौ स्तुतौ पादपद्मौ यस्य। गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यते समाश्रियते इत्यार्यः तस्य सम्बोधनं हे आर्य! मम स्तावकस्य देयाः दद्यास्त्वं भगवान् कां? शिवतातिं, तायृ सन्तानपालनयोः तायनं तातिः शिवस्य सौख्यस्य तातिः सन्तानः शिवतातिस्तामुच्चैः परमातिशयप्राप्तां मोक्षसौख्यसन्ततिरूपाम् ॥५॥

आगे स्तुतिकर्ता अपने गर्व का परिहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे आर्य !) गुणों अथवा गुणवानों के द्वारा सेव्य; हे शंभवजिनेन्द्र ! (पुण्यकीर्तेः) पवित्र ख्याति, पवित्र वाणी अथवा पुण्यवर्धक स्तुति से युक्त (तव) आपकी (स्तुत्यां) स्तुति में (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ (शक्रः अपि) अवधिज्ञानी और समस्त श्रुत का धारक इन्द्र भी जब (अशक्तः) असमर्थ रहा है तब (मादृशः अज्ञः किमु) मेरे जैसा अज्ञानी पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है ? यद्यपि यह बात है (तथापि) तो भी (भक्त्या) तीव्र अनुराग द्वारा (स्तुतपादपद्मः) स्तुत चरणकमलों से युक्त आप (मम) मेरे लिए (उच्चैः) उत्कृष्ट (शिवतातिम्) यथार्थ सुख की सन्तति को (देयाः) प्रदान करें ॥५॥

भावार्थ—हे भगवन् ! जब शक्ति का पुञ्ज, अवधिज्ञानी इन्द्र भी आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हो सका है तब मेरे जैसा अज्ञानी मानव कैसे समर्थ हो सकता है ? इस तरह असमर्थता की दशा में भी तीव्र अनुराग वश मैं आपके चरणकमलों की स्तुति कर रहा हूँ, सो इसके फलस्वरूप आप मुझे उत्कृष्ट आत्मसुख की सन्तति प्रदान करें, मुझे सांसारिक सुखों की चाह नहीं है ॥५॥

इति शम्भवजिनस्तवनम्

प्रशमश्रमण मुनि

श्री अभिनन्दनजिनस्तवनम्

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥

गुणाभिनन्दादित्यादि—वंशस्थछन्दः[१] । भवान् चतुर्थतीर्थङ्करदेवोऽभिनन्दनोऽभिनन्दननामा, कस्मात्? गुणाभिनन्दात् गुणानामन्तरङ्गानन्तज्ञानादीनां बहिश्च सकललक्ष्म्यादीनामभिनन्दोऽभिवृद्धिस्तस्मात् । उत्पन्ने हि भगवति सकलप्राणिनां ज्ञानादयः सकलसम्पदश्च वृद्धिङ्गता इति इत्थमेतल्लब्धनामा भवान् किं कृतवान्? अशिश्रियत् समाश्रितवान्, कां? दयावधूं, दयैव वधूः प्रियतमा तां, कथंभूतां? क्षान्तिसखीं क्षान्तिः क्षमा सखी यस्यास्ताम् । अनेन सुगतस्य मात्रुदरं विपाट्य निर्गतस्य ईश्वरस्य च त्रिपुरदहनादौ प्रवृत्तस्य क्षान्तिदययोरभावादाप्तत्वं प्रत्याख्यातं । ततः किंविशिष्टोऽसौ सम्पन्नः? समाधितन्त्रः धर्म्यं शुक्लं च ध्याने समाधिः स तन्त्रः प्रधानं यस्य । यदि तत्तन्त्रोऽसौ तदा किमिति नैर्ग्रन्थ्ये कृतादर इत्याह—तदित्यादि—तस्य समाधेरुपोपपत्तिर्घटना तस्यै च तदुपोपपत्तये 'प्रोपोत्समां पादपूरणे' इति द्वित्वम् । अयुजत् युक्तः । केन? नैर्ग्रन्थ्यगुणेन, कथंभूतेन? द्वयेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागरूपेण । अनेन श्वेतपटाः प्रत्युक्ताः परिग्रहवतामेकाग्रतालक्षणध्यानानुपपत्तेः परिग्रहस्य व्यग्रताहेतुत्वात् ॥१॥

भगवान् के अभिनन्दन नाम की सार्थकता कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (गुणाभिनन्दात्) अनन्तज्ञानादि अन्तरङ्ग और सकल लक्ष्मी आदि बहिरङ्ग गुणों की वृद्धि होने से (अभिनन्दनः) अभिनन्दन इस सार्थक नाम को धारण करने वाले (भवान्) आपने (क्षान्तिसखीं) क्षमारूप सखी से सहित (दयावधूम्) दयारूप स्त्री का (अशिश्रियत्) आश्रय लिया था तथा (समाधितन्त्रः) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानरूप समाधि को प्रधान लक्ष्य बनाकर (तदुपोपपत्तये) उसकी सिद्धि के लिए आप (द्वयेन) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से दोनों प्रकार के (नैर्ग्रन्थ्यगुणेन) निष्परिग्रहतारूप गुण से (अयुजत्) युक्त हुए थे ।

भावार्थ—भगवान् अभिनन्दननाथ के उत्पन्न होते ही समस्त प्राणियों के ज्ञान आदि गुण तथा सम्पदाएँ वृद्धि को प्राप्त हुई थीं, इसलिए उनका अभिनन्दन नाम सार्थक था । दूसरे जीवों का दुःख दूर करने का शुभरागमिश्रित जो भाव है उसे दया

१. 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण जगण और रगण इस प्रकार बारह अक्षर हों उसे वंशस्थ छन्द कहते हैं ।

कहते हैं तथा क्रोधादि कषायों के अभाव में प्रकट होने वाली आत्मा की जो शान्ति-रूप परिणति है, उसे क्षान्ति या क्षमा कहते हैं। 'रागादि भावों का उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है'[1] इस लक्षण के अनुसार इस क्षमा को अहिंसा कह सकते हैं, इस तरह भगवान् ने दया और क्षमा दोनों को अपनाया था अर्थात् प्रारम्भ में अपायविचय नामक धर्म्यध्यान में लीन होकर दया को आश्रय दिया था और पश्चात् शुक्लध्यान में लीन होकर क्षमारूप वीतराग परिणति को आश्रय दिया था। कर्मक्षय का साक्षात् कारण शुक्लध्यान है और उसकी प्राप्ति, बिना निष्परिग्रह दशा के नहीं हो सकती, क्योंकि परिग्रह व्यग्रता का कारण माना गया है, इसीलिए उन्होंने बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागकर पूर्ण निर्ग्रन्थता से अपने आपको युक्त किया था ॥१॥

दयावधूं समाश्रित्य भगवान् लोके किं कृतवानित्याह—

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात् ।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥२॥

अचेतन इत्यादि—जगत्तत्त्वमजिग्रहदिति सम्बन्धः। कथंभूतं जगत्? क्षतं नष्टं कुत इत्याह—अचेतने इत्यादि, अचेतने शरीरे तत्कृतबन्धजेऽपि च तेनाचेतनेन शरीरेण सह यः कृतः कर्मवशादात्मनो बन्धस्तस्माज्ञातं यत्सुखदुःखादि पुत्रकलत्रादि च तस्मिन्नपि सम्भावने च समुच्चये, तस्मिन् योऽसौ ममेदं शरीरादिकमहमस्य स्वामीत्यभिनिवेशस्तस्मिन् भव आभिनिवेशिकः स चासौ ग्रहश्च ग्रहणं तस्मात् क्षतं नष्टं जगत् प्राणिसंघातः, न केवलमेतस्मात् क्षतं नष्टं प्रभङ्गुरे कथञ्चिदनित्ये च स्थावरनिश्चयेन च नित्यत्वाध्यवसायेन च क्षतं जगत्। अतस्तत्त्वं यथावज्जीवादिस्वरूपं अजिग्रहद् ग्राहितवान्, भवानभिनन्दन-स्वामी ॥२॥

अब दयारूप वधू को प्राप्तकर भगवान् ने क्या किया? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अचेतने) अचेतन शरीर में (च) और (तत्कृतबन्धजेऽपि) उस अचेतन शरीर के द्वारा किये हुए कर्मबन्ध से उत्पन्न सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिक परपदार्थों में (ममेदम्) यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ (इति) इस प्रकार के (आभिनिवेशिकग्रहात्) मिथ्या अभिप्राय को स्वीकार करने से अथवा मिथ्या अभिप्राय रूप पिशाच से (च) तथा (प्रभङ्गुरे) विनश्वर शरीर आदि परपदार्थ में (स्थावर-

---

१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

निश्चयेन) स्थायित्व के निश्चय से (क्षतं) नष्ट हुए (जगत्) जगत् को (भवान्) आपने (तत्त्वं) जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप (अजिग्रहत्) ग्रहण कराया है—समझाया है।

भावार्थ—यह शरीर पुद्‌गलकृत होने से अचेतन है, अचेतन शरीर की प्रवृत्तिरूप योग से होने वाला द्रव्यकर्मों का बन्ध अचेतन है और उस द्रव्यबन्ध के फलस्वरूप होने वाला सुख-दुःखादि तथा स्त्री-पुत्रादि में जो रागभाव है, वह निमित्त कारण की अपेक्षा अचेतन—चेतन से भिन्न है और उपादान कारण की अपेक्षा चेतन है । शरीररूप नोकर्म, द्रव्यबन्धरूप द्रव्यकर्म और रागादिरूप भावकर्म ये तीनों ही ज्ञानानन्दरूप आत्मस्वरूप से भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु अनादिकाल से लगे हुए मिथ्यात्व के प्रकोप से यह जीव उन्हें आत्मा समझ रहा है तथा इसी विपरीत अभिप्राय के कारण उन शरीरादि परपदार्थों की इष्ट-अनिष्ट परिणति से सुखी-दुखी होता है । इसके सिवाय ये शरीरादिक परपदार्थ भङ्गुर—विनाशीक हैं, परन्तु यह जगत् उन्हें नित्य समझकर उन्हीं में आसक्त होकर आत्मा की सँभाल से दूर रहता है । हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! अपनी उपर्युक्त मिथ्याबुद्धि के कारण दुखी होते हुए इस जगत् को आपने जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझाया है । आपने उन्हें बताया है कि ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा ही तुम्हारा निजद्रव्य है उसे छोड़कर परपदार्थों से ममता भाव को दूर करो तथा शरीरादिक परपदार्थों को विनश्वर समझकर उनकी ओर से आसक्ति को हटाओ तथा स्वरूप की ओर सुरुचि बढ़ाओ ॥२॥

केन रूपेण तत्त्वमजिग्रहदित्याह—

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥३॥

क्षुदादीत्यादि—क्षुद् बुभुक्षा आदिर्यस्य पिपासादिस्तदेव दुःखं तस्माद्वा दुःखं तस्य प्रतिकारो भोजनादिना उपशमनं तृप्तिः सुखोत्पाद इत्यर्थः । तस्मात्ततः स्थितिः देहदेहिनोस्तृप्तिसुखसमन्वितयोः सर्वदा अवस्थानं न च नैव, कुतः? पुनरपि क्षुदादि-पीडोपलम्भात् तर्हि मनोज्ञरूपशब्दादिविषयप्रभवसुखात् तयोः सुखेनावस्थानं भविष्यतीत्याह—न चेत्यादि—इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि अर्थास्तद्विषयाः स्पर्शादयस्तेभ्यः प्रभवत्युत्पद्यते इतीन्द्रियार्थप्रभवं तच्च तदल्पसौख्यं च सुखलवमात्रं तस्मात्ततः न च नैव स्थितिः सुखेनावस्थानं देहदेहिनोरिति सम्बन्धः । यत एवं ततः कारणाद् गुणोपकारो नास्ति च न

विद्यते । एवं क्षुदादिप्रतिकारादिभ्यः, कयोर्देहदेहिनोः इति हेतोः । एवं इदं जगत् इत्थमनेन प्रकारेण भगवानभिनन्दनः तीर्थङ्करदेवो व्यजिज्ञपत् ज्ञापितवान् ।।३।।

आगे आपने किस रूप से तत्त्व ग्रहण कराया ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः) क्षुधा-तृषा आदि के दुःख का प्रतिकार करने से—भोजनपान ग्रहण करने से (च) और (इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः) स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न अल्प सुख से (देहदेहिनोः) शरीर और शरीरधारी आत्मा की (स्थितिः) सदा स्थिति (न) नहीं रहती (ततः) इसलिए उनसे उनका कुछ (गुणः) उपकार (नास्ति) नहीं है (इत्थम्) इस तरह (इदम्) इस जगत् को (भगवान्) भगवान् अभिनन्दन जिनेन्द्र ने (इति) यह परमार्थ तत्त्व (व्यजिज्ञपत्) बतलाया है ।

भावार्थ—संसार के प्राणी भूख-प्यास आदि के दुःखों से दुखी होकर रात-दिन भोजन-पान में प्रवृत्त रहते हैं और सोचते हैं कि भोजन-पान से शरीर स्थिर रहेगा तथा शरीर की स्थिरता से आत्मा भी स्थिर रहेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं है । भोजन-पान ग्रहण करते-करते शरीर नष्ट हो जाता है और शरीर के नष्ट होने से आत्मा अन्य पर्याय में चला जाता है । इसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों के सेवन से जो अल्पसुख होता है—क्षणिक तृप्ति होती है, उससे भी शरीर और आत्मा की सदा स्थिति नहीं रहती । ये इन्द्रियजन्य सुख, तृप्ति उत्पन्न न कर विषयाभिलाषा को पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रदीप्त कर देते हैं, इनसे शरीर और आत्मा को कोई लाभ नहीं है, इसलिए इनसे राग हटाकर आत्मस्वरूप की ओर ही दृष्टि देना चाहिये । हे अभिनन्दनजिनेन्द्र ! जगत् के जीवों को आपने यह यथार्थ तत्त्व समझाया है ।।३।।

इदं च परमकारुणिको जगदुपकारार्थं भगवानवादीदित्याह—

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो, भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ।।४।।

जनोऽतिलोल इत्यादि—जनो लोको अतिलोलोऽप्यतिविषयासक्तोऽपि अनुबन्धः आसक्तिः स एव दोषः ऐहिकपारत्रिकापायहेतुत्वात्तस्मादनुबन्धदोषतः परमासक्तिवशादपि अकार्येषु अकृत्येषु परस्त्रीगमनादिषु इह लोके न प्रवर्तते, कस्मात्? भयाद् राजादि-त्रासात् । यस्तु जन इहास्मिन्नपि जन्मनि अमुत्रापि च परलोकेऽपि च अनुबन्धदोषवित् विषयासक्तिदोषवेदकः स कथं सुखे वैषयिके संसजति सम्बन्धमुपयातीति आश्चर्यमिति चाब्रवीत् उक्तवान् ।।४।।

परम दयालु भगवान् ने जगत् के उपकार के लिये यह कहा, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जनः) मनुष्य (अतिलोलः अपि 'सन्') अत्यन्त आसक्त होता हुआ भी (अनुबन्धदोषतः) आसक्तिरूप दोष से (भयात्) राजा आदि के भय के कारण (इह) इस संसार में (अकार्येषु) परस्त्री-सेवन आदि अकरणीय कार्यों में (न प्रवर्तते) प्रवृत्त नहीं होता है फिर (इहापि अमुत्रापि) इस लोक और परलोक दोनों ही जगह (अनुबन्धदोषवित्) आसक्ति के दोष को जानने वाला मनुष्य (सुखे) विषयसुख में (कथं संसजति) कैसे आसक्त होता है, यह आश्चर्य की बात है (इति च अब्रवीत्) हे अभिनन्दनजिनेन्द्र ! जगत् के जीवों को आपने यह भी बतलाया है ।

भावार्थ—विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखने वाला मनुष्य भी आसक्ति के दोष को जानता है, इसलिए राजा आदि के भय से वह कभी न करने योग्य कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता फिर जो मनुष्य यह समझता है कि विषयासक्ति से इस जन्म में अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और पर जन्म में भी नरकादि गतियों के दुःख सहन करने पड़ते हैं, वह क्षणिक तृप्ति करने वाले इन्द्रियसुख में कैसे आसक्त हो जाता है यह आश्चर्य की बात है । हे भगवन् ! आपने जगत् के जीवों को यह परमार्थ समझाकर इन्द्रियसुख से विरक्त किया था ॥४॥

अत्रैवानुबन्ध[1]दोषान्तरं दर्शयन्नाह—

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्[2] तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥

स चानुबन्ध इत्यादि—चकारो भिन्नप्रक्रमस्तृषोऽभिवृद्धिरित्यस्यानन्तरं दृष्टव्यः । सोऽनन्तरोक्तोऽनुबन्धोऽस्य विषयातिलोलस्य जनस्य तापकः क्लेशप्रदः, न केवलमनुबन्धस्तापकः तृषोऽभिवृद्धिश्च । यावति स्त्र्यादिविषये सुवर्णाद्यर्थे वा आसक्तिलक्षणोऽनुबन्धः संजातः, तस्मिन् संपन्नेऽपि इतोऽप्यपरं यदि मम स्यात्ततोऽपरमित्युत्तरोत्तराङ्काक्षा तृषोऽभिवृद्धिः सा च तापिका तदलाभे तत्प्राप्त्यर्थं तल्लाभे तत्संरक्षणाद्यर्थं च संतापप्रबन्धस्य प्रवृत्तेः । ननु विषयसुखं प्राप्य संतापविवर्जिता जनस्य स्थितिर्भविष्यतीत्याह—सुखतो न च स्थितिः सुखतः संप्राप्तविषयसुखलवमात्रादस्य जनस्य न च नैव स्थितिः सुखेनावस्थानं पुनः संतापप्रबन्धप्रवृत्तेः । इति एवं प्रभोऽभिनन्दनस्वामिन् लोकहितं लोकेभ्यो हितमुपकारकं यतो यस्मात्कारणात् त्वदीयं मतं ततः कारणाद् भवानेव गतिः

१. बन्धे ख-प्रतौ । २. तापकः

शरणं सतां विवेकिनां मुक्त्यर्थिनां मतः सद्भिरभिप्रेत इत्यर्थः 'मतिबुद्धिपूजार्थाच्च' इति संप्रति क्तः तद्योगे सतामित्यत्र भवतीत्यनेन कर्तृतां कर्तरि क्तः ॥५॥

विषयासक्तिरूप अनुबन्ध में और भी दोष दिखलाते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सः अनुबन्धः) वह आसक्तता (च) और आसक्तता से उत्पन्न होने वाली (तृषोऽभिवृद्धिः) उत्तरोत्तर तृष्णा की वृद्धि दोनों ही (अस्य जनस्य) इस विषयासक्त मनुष्य के लिए (तापकृत्) संताप उत्पन्न करने वाली है (सुखतः) प्राप्त हुए अल्पमात्र विषय सुख से (न च स्थितिः) जीव की सुख से स्थिति नहीं होती अर्थात् अल्प सुख से जीव संतुष्ट नहीं होता (इति) इस तरह (प्रभो !) हे स्वामिन् (यतः) चूँकि (मतं) आपका मत (लोकहितं) लोक कल्याणकारी है (ततः) इसलिए (भवानेव) आप ही (सतां) विवेकशाली सत्पुरुषों के (गतिः) शरण (मतः) माने गये हैं ।

भावार्थ—पहले जिस विषयासक्ति का वर्णन किया जा चुका है, वह इस विषयलम्पट मनुष्य के लिये संताप उत्पन्न करने वाली है और विषयासक्ति से न केवल संताप उत्पन्न होता है, किन्तु आगे-आगे तृष्णा की और भी वृद्धि होती जाती है । विषयलम्पट मनुष्य को जो थोड़ा सुख प्राप्त होता है, उससे इसकी स्थिति नहीं होती अर्थात् उससे सन्तुष्ट होकर नहीं बैठता । हे भगवन् ! आपका मत लोकहितकारी है, क्योंकि आपके मत में यह उद्घोषित किया गया है कि विषयासक्ति से आज तक कोई सुखी नहीं हुआ है, यदि हुआ है तो विषयेच्छाओं की निवृत्ति से ही सुखी हुआ है, इसलिए सुख के अभिलाषी मनुष्य विषयासक्ति को छोड़कर विषयेच्छाओं की निवृत्ति करो । ऐसा उपदेश देने से आप ही सत्पुरुषों के लिये शरण हैं—उनके परमार्थरक्षक हैं ।

इति अभिनन्दनजिनस्तवनम्

श्री सुमतिजिनस्तवनम्

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥१॥

अन्वर्थसंज्ञ इत्यादि–उपजातिच्छन्दः । अन्वर्था अनुगतार्था संज्ञा नाम यस्यासावन्वर्थसंज्ञो यथार्थनामेत्यर्थः । कासौ संज्ञा अन्वर्था तस्येत्याह–सुमतिरिति–शोभना मतिर्यस्यासौ सुमतिः, कथंभूतः ? मुनिः प्रत्यक्षवेदी, कथं शोभना मतिरस्य सिद्धा यतोऽन्वर्थसंज्ञत्वं स्यादित्याह–स्वयमित्यादि–स्वयमात्मना मतमङ्गीकृतं तत्त्वं येन कारणेन सुयुक्तिनीतं शोभना युक्तिरुपपत्तिः सुयुक्तिस्तया नीतं प्रणीतं तस्यां वा नीतं प्रापितं अनेकधर्मात्मकं जीवादितत्त्वं विवक्षिताविवक्षितधर्मगुणप्रधानभावेन प्रतिपादितं प्रमाणगोचरचारितया वा व्यवस्थापितमित्यर्थः । न केवलमेतस्मात्कारणात्त्वं सुमतिः किन्त्वेतस्मादपीत्याह–यतश्चेत्यादि–यतश्च यस्माच्च कारणात् शेषेषु मतेषु त्वन्मतादन्येषु मतेषु नास्ति न विद्यते, कासावित्याह–सर्वेत्यादि–क्रियाश्च कारकाणि च क्रियाकारकाणि सर्वाणि च तानि क्रियाकारकाणि च तेषां तत्त्वं स्वरूपं तस्य सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । न हि क्षणिकैकान्ते उत्पत्तिर्घटते कारणत्वेनाभिमतक्षणस्य क्षणिकत्वेन सर्वथा नष्टत्वात्, कार्यत्वेनाभिमतक्षणस्य च सर्वथालब्धात्मलाभतयासत्त्वात् । न चासत्खरविषाणतुल्यं कस्यचित्कारणं कार्यं वा युक्तमतिप्रसङ्गात् । नापि नित्यैकान्ते सा घटते सर्वथा अविकारिणः खपुष्पवत् कार्यकारणभावाभावात् उत्पत्त्यनुपपत्तेः । अतएव ज्ञप्तिरपि क्षणिकाद्येकान्ते दुर्घटा, उत्पन्ने हि प्रमाणं ज्ञापकं भवति न च तदेकान्ते उत्पत्तिः सम्भवतीत्युक्तम् ॥१॥

भगवान् 'सुमति' इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ–हे भगवन् ! (त्वम्) आप (मुनिः) प्रत्यक्षज्ञानी हैं तथा (सुमतिः अन्वर्थसंज्ञः) सुमति इस सार्थक संज्ञा से युक्त है–उत्तम बुद्धि से सहित होने के कारण आपका 'सुमति' नाम सार्थक है (येन) क्योंकि आपने (सुयुक्तिनीतं) उत्तम युक्तियों से युक्त (तत्त्वं) तत्त्व (स्वयं मतं) स्वीकृत किया है (च) और (यतः) जिस (शेषेषु मतेषु) आपके मत से शेष अन्य मतों में (सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः) सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों की तत्त्वसिद्धि (नास्ति) नहीं है ।

भावार्थ–'सुष्ठु शोभना वा मतिर्यस्य स सुमतिः' जिसकी बुद्धि अच्छी हो वह सुमति है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार; हे भगवन् ! आपका यह 'सुमति' नाम सार्थक है । सार्थक नाम से युक्त होने के साथ-साथ आप मुनि भी हैं, प्रत्यक्षज्ञानी भी हैं । आपका

नाम सार्थक होने का कारण यह है कि आपने स्वयं ही बिना किसी की प्रेरणा से उस मत–धर्म को अङ्गीकृत किया है जो उत्तम युक्तियों से सहित है तथा आपके मत के सिवाय अन्य मतों में क्रियाकारक भाव की सिद्धि बिल्कुल ही नहीं होती, क्योंकि सर्वथा क्षणिकवादी बौद्धों के मत में पदार्थ की न उत्पत्ति बनती है और न ज्ञप्ति ही। उसका कारण है कि जिस क्षण को कारणरूप से स्वीकृत किया जायेगा वह सर्वथा नष्ट हो जाने से असत् रूप हो जावेगा और असत् से सत् की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार नित्यैकान्त पक्ष में भी क्रियाकारक भाव की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सर्वथा अविकारी पदार्थों से कार्य की उत्पत्ति, गगन कुसुम के समान है ॥१॥

तदेव स्वयमङ्गीकृततत्त्वस्य सुयुक्तिनीतत्वं प्रदर्शयन्नाह—

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२॥

अनेकमित्यादि—तदेव जीवादिलक्षणं तत्त्वं अनेकमनेकस्वभावं सुखदुःखादिबालकुमारादिपर्यायापेक्षया, तदेव चैकं सकलपर्यायान्वयार्थैकद्रव्यापेक्षया, कथंभूतं सत्तदनेकमेकं च स्यादित्याह—भेदान्वयज्ञानं भेदान्वययोर्ज्ञानं ग्राहकं प्रमाणं यत्र जीवादितत्त्वे हि सुखादिभेदप्रतीतिर्भेदज्ञानं सुखादौ बालकुमारादौ च स एवाहमित्यात्मद्रव्यस्याभेदप्रतीतिरभेदज्ञानं । ननु पर्यायमात्रमेव वास्तवं तत्त्वं न द्रव्यं तस्यानाद्यविद्याकल्पितत्वादतो भेदज्ञानमेव सत्यमिति सौगताः । जीवादिद्रव्यमेव वास्तवं न सुखादिपर्यायास्तेषामौपाधिकत्वादिति सांख्याः । अत्राह—इदं हि सत्यमिति, इदं भेदान्वयग्राहिज्ञानं हि स्फुटं सत्यं सकलप्रमाणबाधकवैधुर्यात् क्षणिकचित्तादिक्षणेष्वेकत्वमेकसन्ततिपतितत्वेनारोपितमिति बौद्धाः । जीवादिद्रव्येष्वनेकत्वमुपचारात्ततोऽत्यन्तभिन्नैरनेकसुखादिपर्यायैः सम्बन्धेन तत्रानेकत्वव्यवहारादिति नैयायिकादयः । अत्राह—मृषोपचार इत्यादि—मृषा असत्यः कः ? उपचारो भेदान्वयज्ञानादस्खलद्रूपात्तत्र भेदाभेदयोः वास्तवयोः प्रसिद्धेः । तदन्यतरापह्नवे दूषणमाह—अन्यतरेत्यादि—अन्यतरस्यैकत्वस्यानेकत्वस्य वा लोपेऽभावे तच्छेषलोपोऽपि तस्माल्लुप्ताच्छेषस्यान्यस्यापि लोपः स्यात् द्रव्यपर्याययोरन्योन्याविनाभावित्वात् । ततोऽनुपाख्यं तत् स्यात् उपाख्या एकत्वानेकत्वादिस्वभावः, सा न विद्यते यस्य तदनुपाख्यं निःस्वभावमिति यावत् । तथा च अवाच्यं तत् स्यात् स्वभावाभावे केनचिद्रूपेण तस्य वक्तुमशक्यत्वात् ॥२॥

आगे तत्त्व की सुयुक्तियुक्तता दिखलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तदेव तत्त्वं) वही सुयुक्तिनीत तत्त्व (अनेकं च एकं) अनेक तथा एक

रूप है । (हि) निश्चय से (इदं भेदान्वयज्ञानं) अनेक को विषय करने वाला यह भेदज्ञान और एक को विषय करने वाला यह अन्वयज्ञान (सत्यम्) यथार्थ है । इनमें से किसी एक को (उपचारः) उपचाररूप कल्पित मानना (मृषा) मिथ्या है क्योंकि (अन्यतरस्य) दो में से किसी एक का (लोपे) लोप–अभाव होने पर (तच्छेषलोपोऽपि) उससे शेष अन्य धर्म का भी अभाव हो जाता है और (ततः) दोनों का अभाव हो जाने से तत्त्व (अनुपाख्यम्) निःस्वभाव होने से अवाच्य हो जाता है ।

भावार्थ–जीवादि-तत्त्व सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है । तत्त्व के इन दोनों अंशों को ग्रहण करने के लिए जैनागम में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस तरह दो नय स्वीकृत किये गये हैं । पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा जीव तत्त्व का आभ्यन्तररूप सुख-दुःख आदि के भेद से अनेकरूप है और बाह्यरूप बाल, कुमार, तरुण तथा वृद्ध आदि के भेद से अनेकरूप है, परन्तु द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर तथा बाल, कुमार आदि बाह्यरूपों में 'यह वही है' इस तरह एकत्व की प्रतीति होने से तत्त्व एकरूप है । तत्त्व की यह द्विविधता सत्य है, इसलिए उसे ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सत्य है । यद्यपि बौद्धों का कहना है कि पर्यायमात्र ही वास्तविक तत्त्व है, द्रव्य वास्तविक तत्त्व नहीं है, क्योंकि वह अनादि अविद्या से कल्पित है और सांख्यों का कहना है कि जीवादि द्रव्य ही वास्तविक हैं, सुखादि पर्याय वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वे उपाधिजन्य हैं । बौद्ध, द्रव्य को उपचार–कल्पित मानते हैं और सांख्य, पर्याय को उपचार मानते हैं, परन्तु जैन, द्रव्य और पर्याय दोनों अंशों को वास्तविक मानते हैं, इनमें से किसी को उपचार मानकर उसका सर्वथा अभाव जैनदर्शन में स्वीकृत नहीं किया गया है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों ही एक दूसरे से अविनाभूत हैं, इनमें से एक का अभाव मानने पर, दूसरे का अभाव स्वतः हो जाता है और जब दोनों का अभाव हो जाता है, तब तत्त्व में रह ही क्या जाता है ? वह अवाच्य या अभावरूप हो जाता है । इस प्रकार; हे सुमतिजिनेन्द्र ! सुयुक्तियों से युक्त तत्त्व का निरूपण आपने ही किया है ।।२।।

एवं द्रव्यपर्यायात्मकत्वं जीवादितत्त्वस्य प्रदर्श्येदानीं भावाभावात्मकत्वं प्रदर्शयितु-माह—

सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ।।३।।

सतः कथञ्चिदित्यादि–सतो विद्यमानस्यात्मादितत्त्वस्य स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्त्व-शक्तिः कथञ्चित् पररूपादिचतुष्टयप्रकारेण तस्यासत्त्वशक्तिस्तथा प्रतीतेः । अत्र निदर्शनमाह–खे नास्तीत्यादि–खे आकाशे नास्ति पुष्पं तरुषु पुनः प्रसिद्धं प्रकर्षेण वादिप्रति-वादिनोरविप्रतिपत्त्या सिद्धं प्रमाणविषयतां गतं । यदि हि सत्त्वमेव वस्तुनः स्वरूपं स्यात्तदा स्वरूपादिनेव पररूपादिनापि तस्य सत्त्वं स्यात्तथा च तद्वत् खेऽपि पुष्पस्य सत्त्वं स्यात्, न चैतद्युक्तम् प्रतीतिविरोधादतः सत्त्वाद्वैतवादिनो मतमयुक्तमेव । यदि पुनरसत्त्वमेव वस्तुनः स्वरूपमिष्यते तदा पररूपादिचतुष्टयेनेव स्वरूपादिचतुष्टयेनापि असत्त्वं स्यात्तथा च खे इव तरुष्वपि पुष्पस्यासत्त्वं स्यात् न चैवमस्ति प्रतीतिविरोधादतः शून्यतैकान्तमतमप्यनुपपन्नम् । एतदेवाह–सर्वेत्यादि–सर्वे च ते स्वभावाश्च अस्तित्वनास्तित्वादिसकलरूपाणि तेभ्यश्च्युतं अपगतं तानि वा च्युतानि यस्मात्तदेवंविधमसत्त्वाद्वैतरूपं सकलशून्यतालक्षणं वा तत्त्वं अप्रमाणं, न विद्यते व्यवस्थापकं प्रमाणमस्य । कुतस्तस्य व्यवस्थापकं तन्नास्तीति चेत् ? अत्राह–स्ववागित्यादि–तव दृष्टिः सर्वं जीवादितत्त्वमनेकान्तात्मकमिति मतं ततोऽन्यत् सत्ताद्वैतलक्षणं शून्यतैकान्तस्वभावं वा तत्त्वं तत्प्रमाणमभ्युपगच्छतां तद्वादिनां स्ववाचा विरुद्धं स्यात् माता मे वन्ध्येत्यादिवत् । यदि हि अद्वैतं कथं प्रमाणं द्वैतप्रसङ्गात् । यदि च शून्यतैकान्तः कथं प्रमाणं तत्सद्भावतस्तदैकान्तविरोधानुषङ्गात् ।

इस प्रकार जीवादि पदार्थों की द्रव्य और पर्यायरूपता दिखलाकर, अब भावाभावात्मकता दिखलाते हैं–

अन्वयार्थ–(सतः) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सद्‌रूप जीवादि पदार्थ के (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा (असत्त्वशक्तिः) असद्‌रूपता है जैसे कि (पुष्पं) फूल (तरुषु) वृक्षों पर (प्रसिद्धं) प्रसिद्ध है और (खे) आकाश में (नास्ति) नहीं है । यदि तत्त्व को (सर्वस्वभावच्युतं) सत्त्व और असत्त्व दोनों प्रकार के स्वभाव से च्युत माना जावेगा तो वह (अप्रमाणं) प्रमाण रहित हो जायेगा । हे भगवन् ! (तव दृष्टितः अन्यत्) तुम्हारे दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शन (स्ववाग्विरुद्धं) स्ववाणी से विरुद्ध हैं अर्थात् स्ववचनबाधित हैं ।

भावार्थ–पदार्थ में सत्-असत्, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि अनेक विरोधी धर्म अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं । उनमें यहाँ मात्र सत् धर्म की द्विविधरूपता का वर्णन किया गया है । संसार का प्रत्येक पदार्थ; स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सत्‌रूप है–विद्यमान है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असत्‌रूप है–अविद्यमान है ।

यहाँ दृष्टान्त है कि जिस प्रकार फूल का अस्तित्व वृक्ष पर है अर्थात् वृक्षाधिकरण की अपेक्षा फूल अस्तिरूप है, परन्तु आकाश में फूल नहीं है अर्थात् आकाशाधिकरण की अपेक्षा फूल अस्तिरूप नहीं है। इस तरह पदार्थ में परस्पर-विरोधी सदसद्भाव–सद्-असद्रूपता स्वभाव से ही विद्यमान है, परन्तु एक सत्ता ही के अद्वैत को स्वीकृत करने वाले लोग असत्त्व के पक्ष का निषेध करते हैं और असत्त्व के अद्वैत को स्वीकृत करने वाले लोग सत्त्व के पक्ष का निषेध करते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका ऐसा मानना अप्रमाण है, क्योंकि जब दोनों धर्म कथञ्चित्–विवक्षाभेद से परस्पर अविनाभूत हैं, तब एक का अभाव मानने पर, दूसरे का अभाव स्वयं हो जायेगा और इस स्थिति में प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु का अपलाप करना 'मेरी माता वन्ध्या है' इस वाक्य के समान स्ववचन बाधित होने से अप्रमाण–प्रमाण रहित माना जायेगा ॥३॥

एवं युगपज्जीवादितत्त्वस्य सदसद्रूपतां प्रतिपाद्य विपक्षे दूषणपुरःसरतया क्रमेणापि तस्य तां प्ररूपयन्नाह—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥४॥

न सर्वथेत्यादि–यौगसांख्यमीमांसकैर्यदि सर्वथा–द्रव्यप्रकारेणेव पर्यायप्रकारेणापि नित्यं तत्त्वं परिकल्प्यते तदा तत्तथाविधं न तावदुदेति उत्पद्यते उत्तराकारस्वीकारं करोति न तथा अपैति पूर्वाकारपरित्यागं करोति। पूर्वाकारपरित्यागोत्तराकारस्वीकारयोः सर्वथा नित्ये विरोधात्। किञ्च क्रियाकारकसद्भावे सिद्धे उदयो व्ययो वा चिन्त्यते न च सर्वथा नित्ये वस्तुनि तत्सद्भावः संभवतीत्याह–न चेत्यादि–न च नैव अत्र सर्वथा नित्ये वस्तुनि क्रिया स्थानगमनादिलक्षणा कारकं च तस्या निर्वर्तकं तद्युक्तमुपपन्नं, सर्वथैकरूपे हि वस्तुनि यदा गमनं तदा तदेव सदा स्यान्न स्थानम्, यदि स्थानं तदा तदेव स्यान्न गमनम्। तथा गमनादिक्रियाया यदि तत्कारकं तदा सर्वदा तस्य कारकत्वप्रसङ्गात् न कदाचिदकारकत्वं स्यात् यतस्तत्क्रियोपरमः स्यात्। अथ कदाचित्तस्यास्तदकारकं तदा सर्वदा तदकारकत्वानुषङ्गात् न स्वप्नेऽपि तत्र तत्क्रियोपलम्भः स्यात्। ननु सर्वथा नित्ये वस्तुन्युक्तप्रकारेणोदयव्ययासंभवेऽपि न कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मके भवन्मते तत्संभवो युक्तः सर्वथा क्षणिक एव तत्संभवादित्यत्राह–नैवासत इत्यादि–सर्वथेत्येतदत्राप्यभिसंबद्ध्यते। सर्वथा पर्यायप्रकारेणेव द्रव्यप्रकारेणाप्यसतो गगनेन्दीवरवन्नैव जन्म युक्तं सतश्च विद्यमानस्य घटादेः सर्वथा नाशो न युक्तः। ननु विद्यमानस्यापि प्रदीपादेः सर्वथा विनाशप्रतीतेः सतो न नाश इत्येतदयुक्तमित्यत्राह–दीप इत्यादि–दीपः प्रदीपः तमः-

पुद्गलभावतोऽस्ति, पुद्गलो रूपिद्रव्यं, तमोरूपः पुद्गलस्तमःपुद्गलस्तस्य भावस्तमःपुद्गलभावः तेन तमःपुद्गलभावतोऽस्ति तमःपुद्गलरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ।।४।।

इस प्रकार जीवाजीवादि तत्त्वों की युगपत् सदसद्रूपता दिखलाकर, अब प्रतिवादी के मत में दूषण देते हुए, क्रम से सदसद्रूपता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वथा नित्यं) सब प्रकार से नित्य वस्तु (न उदेति न अपैति) न उत्पन्न होती है, न नष्ट ही होती है (च न) और न (अत्र) इस मान्यता में (क्रिया-कारकं युक्तम्) क्रियाकारक भाव ही संगत होता है, क्योंकि (असतः) असत्—अविद्यमान पदार्थ का (नैव जन्म) जन्म नहीं होता और (सतो न नाशः) सत्—विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता। यदि कहा जाये कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें क्या शेष रह जाता है ? यहाँ तो सत् का नाश मानना ही पड़ेगा तो उसका उत्तर यह है कि (दीपः) दीपक (तमःपुद्गलभावतः अस्ति) अन्धकाररूप पुद्गल द्रव्य के रूप में विद्यमान रहता है ।।४।।

भावार्थ—संसार के प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य और पर्यायरूप हैं। द्रव्य अपेक्षा से पदार्थ नित्य हैं और पर्याय अपेक्षा से अनित्य हैं। इस तरह अनेकान्तशैली से पदार्थों के नित्यानित्यात्मक होने पर भी योग, सांख्य और मीमांसक पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते हैं और बौद्ध सर्वथा अनित्य। इस श्लोक में आचार्य महाराज ने सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य इन दोनों एकान्त मान्यताओं का निराकरण किया है। वे कहते हैं कि यदि पदार्थ, सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश नहीं बन सकेगा। जीवद्रव्य में मनुष्य पर्याय के नष्ट होने पर ही देव पर्याय की उत्पत्ति होती है और पुद्गलद्रव्य में घट पर्याय के नष्ट होने पर ही कपाल पर्याय की उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार के उत्पाद और व्यय को प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। नवीन आकार का उत्पन्न होना उत्पाद है और पूर्व आकार का विनाश होना व्यय है। ये दोनों प्रकार के परिणमन सर्वथा नित्य पदार्थ में संभव नहीं हैं। इसके सिवाय सर्वथा नित्यपना की मान्यता में क्रियाकारकभाव भी नहीं बनता है। ठहरना तथा गमन करना आदि क्रिया कहलाती हैं और इन क्रियाओं का जो निर्वर्तक—रचयिता है, वह कारक कहलाता है। वस्तु को सर्वथा एकरूप मानने पर यदि उसमें गमनरूप क्रिया हो रही है तो गमन ही होता रहेगा और ठहरना रूप क्रिया हो रही है तो ठहरना ही होता रहेगा। विरुद्ध परिणमन

नहीं हो सकता, क्योंकि विरुद्ध परिणमन मानने पर सर्वथा एकरूप-नित्यपना का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है । इसी तरह सर्वथा अनित्य पक्ष का निराकरण करते हुए कहते हैं कि पदार्थ को सर्वथा–पर्याय की तरह द्रव्यरूप से भी अनित्य स्वीकृत करने पर पदार्थ का निरन्वय नाश स्वीकृत करना पड़ेगा और उस स्थिति में अविद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति और विद्यमान पदार्थ का नाश मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ है ही नहीं उसका जन्म नहीं हो सकता और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि जलते हुए दीपक को बुझा देने पर क्या शेष बचता है ? यहाँ तो सत् का नाश ही अनुभव में आता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भी दीपक का सर्वथा नाश नहीं माना जाता, जो दीपक पहले प्रकाशरूप पुद्‌गलद्रव्य था, अब बुझ जाने पर वही दीपक, अन्धकार-रूप पुद्‌गल द्रव्य के रूप में शेष रहता है; सर्वथा नाश कहाँ हुआ ? इस तरह कथञ्चित् नित्यानित्यत्व की मान्यता ही युक्तिसंगत है ।।४।।

इदानीं नित्यानित्यात्मकत्वं जीवादेः प्ररूपयन्नाह—

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ।।५।।

विधिरित्यादि—विधीयत इति विधिरस्तित्वं नित्यत्वमित्यर्थः, निषिध्यत इति निषेधो नास्तित्वमनित्यत्वमिति यावत्, तौ च द्वौ जीवादिवस्तुनि कथञ्चित् द्रव्यपर्यायरूपता[1]-प्रकारेणेष्टौ सुमतिस्वामिनो मतौ द्रव्यरूपतया हि तत्र विधिरिष्टः पर्यायरूपतया तु निषेध इति, अनयोर्मध्ये कस्य प्रधानता कस्य चाप्रधानतेत्यत्राह–विवक्षयेत्यादि–वक्तुमिच्छा विवक्षा तया मुख्यगुणव्यवस्था, मुख्यं प्रधानं गुणोऽप्रधानं तयोर्व्यवस्था स्थितिः यस्य हि प्रतिपत्तुर्द्रव्ये विवक्षा प्रवृत्ता तस्य विधिर्मुख्यो, निषेधो गौणो, यस्य तु पर्याये सा प्रवृत्ता जाता तस्य निषेधो मुख्यो, विधिर्गौणः, इत्येवं इयं प्राक्प्रदर्शितप्रकारा प्रणीतिः तत्त्वस्वरूपप्रतिपादनं सुमतेस्तव भगवतस्तां तत्त्वप्रणीतिं तद्द्वारेण भवन्तं वा स्तुवतो नमस्कुर्वतो वा मे मतेः प्रवेकः प्रविष्टता[2] प्रकर्षता इत्यर्थः अस्तु भवतु, नाथ सुमति-स्वामिन् ।।५।।

अब जीवादि तत्त्वों में नित्यानित्यात्मकपने का निरूपण करते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ–(विधिः) अस्तित्व (च) और (निषेधः) नास्तित्व दोनों ही (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (इष्टौ) इष्ट हैं । (विवक्षया) वक्ता की इच्छा से उनमें (मुख्यगुण-

१. द्रव्यपर्यायरूपतया ख-प्रतौ । २. विशिष्टता प्रकर्ष ख-प्रतौ

व्यवस्था) मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है । (इति) इस तरह (इयं) यह (प्रणीतिः) तत्त्व निरूपण की पद्धति (सुमतेः तव) आप सुमतिनाथ स्वामी की है । (नाथ) हे स्वामिन् ! ('त्वां' स्तुवतः 'मे') आपकी स्तुति करते हुए मुझे (मतिप्रवेकः) मति का उत्कर्ष (अस्तु) प्राप्त होवे ।

भावार्थ—नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि परस्पर विरोधी दो धर्मों में प्रथम पक्ष, विधि पक्ष कहलाता है और दूसरा पक्ष, उससे विरुद्ध होने के कारण निषेध पक्ष कहलाता है । यहाँ पूर्व श्लोक में नित्य और अनित्य का प्रसंग उठाया गया था, इसलिए विधि से नित्य पक्ष और निषेध से अनित्य पक्ष लिया गया है । पदार्थ किसी विवक्षा से नित्य है और किसी विवक्षा से अनित्य है । वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं, उसी विवक्षा के अनुसार नित्य और अनित्य पक्ष में मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है । वक्ता जिस समय द्रव्य का निरूपण करने में प्रवृत्त होता है, उस समय नित्य पक्ष मुख्य होता है और अनित्य पक्ष गौण होता है तथा जिस समय पर्याय का निरूपण करने में प्रवृत्त होता है, उस समय अनित्य पक्ष (पर्याय पक्ष) मुख्य होता है और नित्य पक्ष (द्रव्य पक्ष) गौण होता है । वक्ता की इच्छा, नय भेद के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । नय, परार्थ श्रुतज्ञान के भेद हैं । परार्थ श्रुतज्ञान का प्रयोजन, पर का अज्ञान दूर करना है । वक्ता के सामने जैसा श्रोता होता है, उसके अनुसार वह पदार्थ का निरूपण करता है, परन्तु दोनों प्रकार के निरूपण के समय उसकी दृष्टि दूसरे पक्ष पर भी स्थित रहती है । सुमतिनाथ भगवान् चूँकि (सुष्ठु मतिर्यस्यासौ सुमतिः) उत्तममति से युक्त हैं, अतः उनकी तत्त्व के निरूपण की पद्धति सर्वोत्कृष्ट थी । हे भगवन् ! आपकी स्तुति के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ही श्रेष्ठ मति प्राप्त हो, ऐसी कामना आचार्य महाराज ने प्रकट की है ।।५।।

इति सुमतिजिनस्तवनम्

श्री पद्मप्रभजिनस्तवनम्

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥

पद्मप्रभ इत्यादि—उपजातिच्छन्दः । पद्मप्रभः पद्मस्य प्रभेव प्रभा वर्णो यस्यासौ पद्मप्रभः षष्ठतीर्थङ्करस्य संज्ञेयं, कथंभूतोऽसौ ? पद्मपलाशलेश्यः पद्मस्य पलाशं पत्रं तद्वल्लेश्या यस्य स शुक्ललेश्य इत्यर्थः । पुनरपि कथंभूतः ? पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः पद्मालय आवासस्थानं यस्याः सा पद्मालया लक्ष्मीस्तया आलिङ्गिता क्रोडीकृता चार्वी मूर्तिरात्मस्वरूपलक्षणा शरीरस्वरूपलक्षणा च यस्य सः । अनन्तज्ञानादिलक्षणया हि लक्ष्म्या आत्मस्वरूपलक्षणा चार्वी निर्मला मूर्तिरालिङ्गिता, निःस्वेदत्वादिलक्षणया तु शरीरस्वरूपलक्षणा चार्वी सकललक्षणोपेता मूर्तिरालिङ्गिता । स किमित्याह—बभौ भासितभान् भवान् पद्मप्रभः, केषां सम्बन्धित्वेन भव्यपयोरुहाणां भव्या एव पयोरुहाणि कमलानि तेषां । केषामिव क इत्याह—पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः पद्मानामाकराः खण्डानि तेषां यथा पद्मबन्धुरादित्यो विकासं कुर्वन् शोभितवान् तथा भवानपि भव्यपयोरुहाणां हितोपदेशेन विकासं कुर्वन्निति ॥१॥

भगवान् के पद्मप्रभ इस नाम की सार्थकता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(पद्मपलाशलेश्यः) जिनके शरीर का वर्ण कमल पत्र के समान लाल रङ्ग का था तथा (पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः) जिनकी आत्मस्वरूप निर्मल मूर्ति अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी से एवं जिनकी समस्त उत्तम लक्षणों से सहित शरीररूप मूर्ति निःस्वेदत्व आदि—पसीना के अभाव आदि रूप बाह्यलक्ष्मी से आलिङ्गित थी ऐसे (पद्मप्रभः) पद्मप्रभ जिनेन्द्र थे । हे जिनेन्द्र ! (भवान्) आप (भव्यपयोरुहाणां) भव्यजीवरूप कमलों के हितोपदेशरूप विकास के लिए उस तरह (बभौ) सुशोभित हुए थे (पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः) जिस तरह कि कमल समूह के विकास के लिए सूर्य सुशोभित होता है ।

भावार्थ—भगवान् पद्मप्रभ के शरीर का वर्ण कमल दल के समान लाल रंग का था इसलिए उनका 'पद्मप्रभ' यह नाम सार्थक था । उनकी मूर्ति, लक्ष्मी से आलिङ्गित थी, मूर्ति से आत्मस्वरूप तथा शरीर की मुद्रा दोनों ही विवक्षित हैं । इसी प्रकार लक्ष्मी से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की लक्ष्मियाँ विवक्षित हैं । अन्तरङ्गलक्ष्मी अनन्तज्ञानादिरूप है और निःस्वेदत्व आदि बाह्यलक्ष्मी है । चारु का अर्थ सुन्दर होता

है, परन्तु आत्मस्वरूप मूर्ति के पक्ष में चारु का अर्थ निर्मल–रागादि विकारों से रहित लिया जाता है और शरीर की मुद्रा के पक्ष में सामुद्रिक शास्त्र में प्रदर्शित अनेक शुभलक्षणों से सहित लिया जाता है । जिस प्रकार कमलवन को विकसित करता हुआ सूर्य सुशोभित होता है, उसी प्रकार हितोपदेश द्वारा भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करते हुए–आनन्दविभोर करते हुए पद्मप्रभजिनेन्द्र सुशोभित हो रहे थे ॥१॥

कथमसौ तदीयो हितोपदेशः प्रमाणं यथावत्पदार्थपरिज्ञानासंभवात् वाग्व्यापारासंभवाच्चेत्याशङ्क्याह—

बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ॥२॥

बभारेत्यादि–यतो भगवान् बभार धृतवान् पद्मां चानन्तज्ञानादिलक्ष्मीं न केवलं तां च सरस्वतीं च विशिष्टां वाणीं अतः कथं तदीयोपदेशस्याप्रामाण्यं ? कदा तां बभारेत्याह–पुरस्तादित्यादि–पुरस्तात् तत्पूर्वं, कस्याः ? प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः मुक्तिं लक्षणीकृत्य प्रतिमुक्ति या लक्ष्मीस्तस्याः पूर्वं अर्हदवस्थायां बभार न सिद्धावस्थायामित्यर्थः । ननु पद्मां सरस्वतीं च बभारेत्ययुक्तमुक्तं वेदनीयसद्भावतो बुभुक्षादेरपि तेन धृतत्वादित्यत्राह–सरस्वतीमेवेति–एवकारेण बुभुक्षादेर्निरासः । पद्मायाः कुतो न निषेध इति चेदुक्तत्वात् । उक्तस्य हि एवकारेण न निषेधो यथा 'द्वौ पुत्रौ जनयामास नरं नारायणमेव चेति' किंविशिष्टां तां समग्रशोभां समग्रा परिपूर्णा शोभा यथावन्निखिलार्थप्रतिपादनलक्षणा विभूतिः समवसरणादिविभूतिर्वा यस्याः । यदि प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्पद्मां सरस्वतीं च बभार तदा विमुक्तः सन्नसौ कां बभारेत्याह–सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः इति सर्वज्ञलक्ष्मीं अनन्तज्ञानादिविभूतिं ज्वलितां निर्मलां बभारेति सम्बन्धः । विशेषेण मुक्तः सकलकर्मरहितः सन् । सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितामिति च क्वचित् पाठः तत्र सर्वज्ञलक्ष्म्या ज्वलिता उज्ज्वला दीप्ता ज्ञानवत्सर्वत्राप्रतिहतेत्यर्थः तथाभूतां सरस्वतीं बभार विमुक्तः सकलसङ्गविवर्जितः परमयतिरित्यर्थः ॥२॥

आगे भगवान् के हितोपदेश की प्रामाणिकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ–हे पद्मप्रभजिनेन्द्र ! (भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्) मोक्षरूपी लक्ष्मी के पूर्व अर्थात् अरहन्त अवस्था में (पद्माम्) अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी (च) और (सरस्वतीं) दिव्यवाणी–दिव्यध्वनि को (बभार) धारण किया था अथवा (समग्रशोभां) समस्त पदार्थों के प्रतिपादनरूप विभूति और समवसरणादिरूप समस्त

शोभा से युक्त (सरस्वतीमेव) दिव्यवाणी को ही धारण किया था, पीछे (विमुक्तः सन्) समस्त कर्ममल से रहित होकर (ज्वलितां) देदीप्यमान–सदा उपयोगरूप (सर्वज्ञलक्ष्मीं) सर्वज्ञतारूप लक्ष्मी को धारण किया था ।

भावार्थ–प्रारम्भ में शङ्का उठाई गई थी कि भगवान् का हितोपदेश प्रामाणिक कैसे हो सकता है, क्योंकि उन्हें पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है, साथ ही वचन सम्बन्धी व्यापार का भी अभाव है ? इस शङ्का का उत्तर देते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि पद्मप्रभजिनेन्द्र अरहन्त अवस्था में अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी और सरस्वती–दिव्यध्वनिरूपी वाणी को धारण करते हैं, इसलिए यथार्थ ज्ञान और वचन सम्बन्धी व्यापार के सद्भाव में उनका हितोपदेश प्रामाणिक ही है, अप्रामाणिक नहीं । यहाँ किसी ने फिर शङ्का उठाई कि असद्वेद्य के उदय में भगवान् क्षुधा आदि की वेदना को भी तो धारण करते हैं मात्र ज्ञानादिलक्ष्मी और दिव्यध्वनिरूप सरस्वती को धारण करने की बात क्यों की जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि मोहोदय का अभाव होने से भगवान् अरहन्त अवस्था में सरस्वती को ही धारण करते हैं, क्षुधा आदि की वेदना को नहीं । यहाँ एव शब्द से क्षुधा आदि की वेदना का ही अभाव समझना चाहिये, अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी का नहीं, क्योंकि एवकार के द्वारा प्रतिपादित वस्तु का निराकरण नहीं होता है । जैसे कि प्रसिद्ध है–'उसने दो पुत्र उत्पन्न किए, नर और नारायण', यहाँ 'नारायणमेव च' इस एवकार से नर का निषेध नहीं होता । अरहन्त अवस्था के बाद जब भगवान् विमुक्त हो चुकते हैं अर्थात् समस्त कर्ममल से छूट जाते हैं तब वे देदीप्यमान–सदा प्रकाशमान रहने वाली सर्वज्ञलक्ष्मी को ही धारण करते हैं दिव्यध्वनिरूप सरस्वती को नहीं, क्योंकि दिव्यध्वनि का सद्भाव सशरीर अवस्था में ही सम्भव है, अशरीर अवस्था में नहीं । यहाँ संस्कृत टीकाकार ने 'सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां विमुक्तः' इस पाठान्तर की कल्पना कर 'सर्वज्ञलक्ष्म्या ज्वलिताम्' इस प्रकार तृतीया समास के द्वारा 'सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां' पद को सरस्वती का विशेषण भी निरूपित किया है तथा 'विमुक्तः' शब्द का अर्थ मुक्त न कर समस्त परिग्रह से विमुक्त यतिपति अर्थात् अरहन्त किया है । इस श्लोक का एक अर्थ यह भी होता है कि––

हे भगवन् ! (भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्) अरहन्त अवस्था के पूर्व अर्थात् गृहस्थ अवस्था में (पद्मां) अटूट धन-सम्पत्ति अथवा अवधिज्ञानरूपी लक्ष्मी और (सरस्वतीं) द्वादशाङ्गवाणी को (बभार) धारण किया था पश्चात् (विमुक्तः सन्)

जीवन्मुक्त होने पर (सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां) सर्वज्ञलक्ष्मी से देदीप्यमान एवं (समग्रशोभां) सम्पूर्ण शोभा से युक्त–अप्रतिहत (सरस्वतीमेव) दिव्यध्वनि को ही धारण किया था ।।२।।

भवदीयदेहदीप्तिप्रतानश्च प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात् किं कृतवानित्याह—

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नरामराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ।।३।।

शरीररश्मि-इत्यादि–आलिलेप आलिप्तवान् कोऽसौ ? शरीररश्मिप्रसरः शरीरस्य रश्मयो दीप्तयः तेषां प्रसरो विस्तारः, किंविशिष्टो ? बालार्करश्मिच्छविः बालः प्रत्यग्रोदितः स चासावर्कश्चादित्यस्तस्य रश्मयः किरणाः, छविराकारो बालार्करश्मीनां छविरिव छविर्यस्य स बालार्करश्मिच्छविः सिन्दूरारुणरश्मिप्रसर इत्यर्थः । कस्य ? ते तव, कथंभूतस्य ? प्रभोरिन्द्रादिस्वामिनः, कामालिलेप ? नरामराकीर्णसभां नराश्च मनुष्याः अमराश्च देवास्तैराकीर्णा निचिता सा चासौ सभा च परिषत् तां, का इव कामित्याह–प्रभावदित्यादि–प्रभा इव प्रभावत्, प्रभा वा इति च क्वचित्पाठः तत्र वा-शब्दः इवार्थे दृष्टव्यः कस्य ? शैलस्य पर्वतस्य, कथंभूतस्य ? पद्माभमणेः पद्मरागमणेः सम्बन्धिनः, स्वसानुं स्वकटिनीं, अयमर्थो यथा पद्माभमणेः शैलस्य प्रभा स्वसानुमालिलेप तथा ते शरीररश्मिप्रसरस्तत्सभामिति ।।३।।

आगे आपके शरीर की कान्ति के विस्तार ने प्रतिमुक्ति लक्ष्मी के पूर्व क्या किया ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ–(बालार्करश्मिच्छविः) प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के समान कान्ति वाले (ते प्रभोः) आप स्वामी के (शरीररश्मिप्रसरः) शरीर सम्बन्धी किरणों के समूह ने (नरामराकीर्णसभां) मनुष्य और देवों से व्याप्त समवसरण सभा को (पद्माभमणेः शैलस्य प्रभावत् स्वसानुमिव आलिलेप) उस तरह आलिप्त कर रखा था जिस तरह कि पद्मरागमणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्व भाग को आलिप्त कर रखती है ।

भावार्थ–पद्मप्रभ भगवान् के शरीर की प्रभा पद्मरागमणि के समान थी तथा उससे प्रातःकाल के समय उदित होते हुए सूर्य की किरणों के समान एक विचित्र प्रकार की आभा निकलकर मनुष्य और देवों से व्याप्त सभा को व्याप्त कर रही थी उससे ऐसा जान पड़ता था, जैसे पद्मरागमणि के पर्वत की प्रभा अपनी कटिनी–पार्श्वभाग को व्याप्त कर रही हो । इस श्लोक में 'प्रभावत्' के स्थान में 'प्रभा वा' इस

पाठान्तर का संकेत भी संस्कृत टीकाकार ने किया है, उस पाठ में वा का इव अर्थ में प्रयोग समझना चाहिये, क्योंकि 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इस कोश वाक्य के अनुसार वा का अर्थ; विकल्प, उपमा, इवार्थ और समुच्चय होता है ॥३॥

स इत्थंभूतो भगवान् किमेकत्रैव स्थाने उपविश्य स्थितः किं वा विहृतवानित्यत्राह—

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥४॥

नभस्तलमित्यादि—त्वं विजहर्थ विहृतवान्, क्व? भूमौ भूतले, किमर्थं? भूत्यै विभूतिनिमित्तं, कासां? प्रजानाम्, भगवतो हि विहरतः साक्षात्तावत् प्रजानां हेयोपादेय-पदार्थविवेकविभूतिर्भवति परम्परया तु पुण्यावाप्तिप्रभवा स्वर्गादिविभूतिरपीति। ननु गौर्यादिना प्रेरित ईश्वर इवासौ किं रागाल्लोभादेर्वा भूमौ विजहर्थ इत्यत्राह—पातितमारदर्पः पातितो[1] निर्मूलितो मारस्य कामस्य दर्पो येन वीतरागः सन् विजहर्थ इत्यर्थः । किं कुर्वन्निव? पल्लवयन्निव उत्प्रेक्षते पल्लववत् किसलयवत्कुर्वन्निव 'किं तत्करोतीत्यादिनाणौ कृते विन्मतोरुचिति मतो तप ।' किं? नभस्तलं आकाशोपरितनभागं, कैः? पादाम्बुजैः पादावेवाम्बुजानि सकललक्ष्मीनिवासत्वात् । तैः किंविशिष्टैः? सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः हेमनिर्मितानि यानि सहस्रपत्राणि अम्बुजानि कमलानि तेषां गर्भेषु कोशेषु चारः प्रवर्तनं येषां ते तैः ॥४॥

आगे इस प्रकार के भगवान् क्या एक ही स्थान पर बैठकर रह गये अथवा विहार किया? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! (पातितमारदर्पः) कामदेव के गर्व को नष्ट करने वाले (त्वम्) आपने (सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः) सहस्रदल कमलों के मध्य में चलने वाले अपने (पादाम्बुजैः) चरण कमलों के द्वारा (नभस्तलं) आकाश तल को (पल्लवयन्निव) पल्लवों से युक्त जैसा करते हुए (भूमौ) पृथिवी पर स्थित (प्रजानां विभूत्यै) प्रजाजनों की विभूति के लिए (विजहर्थ) विहार किया था ।

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्र, काम-क्रोध आदि समस्त विकारीभावों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकते हैं, इसलिए उनका विहार मात्र लोक कल्याण के लिए होता है । जिस प्रकार मेघों का गर्जना, बरसना, ठहरना और भ्रमण करना उनकी इच्छा के बिना जनता के भाग्यानुसार स्वतः होता है । उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् का विहार करना,

१. पातितो निपातितो

ठहरना तथा उपदेश देना उनकी इच्छा के बिना भव्यजीवों के भाग्यानुसार स्वतः होता है। उनका यह विहार मात्र लोक कल्याण के लिए होता है, उनके विहार से दुर्भिक्ष आदि दूर होते हैं तथा लोगों के हृदय में सत्-असत् का विवेक जागृत होता है। भगवान् का विहार पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश में होता है तथा देवकृत अतिशय के कारण उनके विहार काल में देवों के द्वारा सात आगे, सात पीछे और एक चरणों के नीचे इस प्रकार पन्द्रह-पन्द्रह सहस्रदल कमलों की पन्द्रह पंक्तियों की रचना होती है। उन २२५ कमलों के ऊपर उनका स्पर्श न करते हुए भगवान् का विहार होता है। उस समय उन सहस्रदल कमलों तथा भगवान् के रक्तवर्ण पद-तलों से ऐसा जान पड़ता है मानों आकाशतल अनेक पल्लवों—लाल-लाल किसलय दलों से ही व्याप्त हो रहा हो। यद्यपि भगवान् का यह विहार आकाश में होता है तथापि उसके प्रभाव से पृथिवी पर स्थित लोगों के वैभव की वृद्धि होती है[1] ॥४॥

आत्मन औद्धत्यं परिहरन्नाह—

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्त्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्ति-र्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥

गुणाम्बुधेरित्यादि—गुणाम्बुधेः गुणसमुद्रस्य तव पद्मप्रभाख्यतीर्थङ्करस्य ऋषेः सकलऋद्धिनिधानस्य विप्रुषमपि गुणलवमपि न केवलं सकलगुणस्वरूपं अजस्रमनवरतं अजस्येति च क्वचित् पाठः तत्र न जायते नोत्पद्यते संसारसमुद्रे न परिभ्रमतीत्यजस्तस्य आखण्डल इन्द्रोऽचिन्त्यशक्तिरवध्यादिविशिष्टज्ञानसम्पन्नोऽपि स्तोतुमलं समर्थो न प्रागेव, मादृक् मद्विधोऽसमर्थः, किमर्थं तर्हि तत् स्तोत्रं कर्तुं प्रवृत्तोऽसीत्याह—किमुतेत्यादि—किमुत किन्तु भगवद्विषये या अतिभक्तिः अत्यनुरागः सा मां बालं भगवत्स्तुतिकरणे नाभिज्ञं आलापयति आभाषयति इदमेतत् संस्तवनं इत्थमुक्तप्रकारेण मां स्तुतिं कर्तुं प्रयोजयतीत्यर्थः ॥५॥

---

१. देवयात्रामिमां दिव्यामन्वेत्य परमाद्भुताम्। अद्भुतान्यर्थदृष्ट्यादिसर्वाण्यसुभृतां भुवि ॥७५॥
आधयो नैव जायन्ते व्याधयो व्यापयन्ति न। ईतयश्चाज्ञया भर्तुर्नेति तद्देशमण्डले ॥७६॥
अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति बधिराः श्रुतिम्। मूकाः स्पष्टं प्रभाषन्ते विक्रमन्ते च पङ्गवः ॥७७॥
नात्युष्णा नातिशीताः स्युरहोरात्रादिवृत्तयः। अन्यच्चाशुभमत्येति शुभं सर्वं प्रवर्धते ॥७८॥
विहारानुगृहीतायां भूमौ न डमरादयः । दशाभ्यस्तयुगं भर्तुरहोऽत्र महिमा महान् ॥१०८॥
विभूत्योद्धतया भूत्यै जगतां जगतां विभुः । विजहार भुवं भव्यान् बोधयन् बोधदः क्रमात् ॥१०९॥
—हरिवंशपुराण पर्व ५९

अब कवि अपनी उद्धतता का परिहार करते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ–हे भगवन् ! (ऋषेः) समस्त ऋद्धियों के निधान स्वरूप (तव) आपके (गुणाम्बुधेः) गुणरूप सागर की (विप्रुषमपि) एक बूँद की भी (अजस्रम्) निरन्तर (स्तोतुं) स्तुति करने के लिए जब (आखण्डलः) इन्द्र (प्रागेव) पहले ही (अलं न) समर्थ नहीं हो सका है तब (मादृक्) मेरे जैसा असमर्थ मनुष्य (किमुत) कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। (अतिभक्तिः) यह तीव्र भक्ति ही (मां बालं) मुझ अज्ञानी से (इत्थं) इस तरह (इदं) इस स्तवन को (आलापयति) कहला रही है।

भावार्थ–हे नाथ ! आप समस्त ऋद्धियों के भण्डार तथा गुणों के सागर हैं। अवधिज्ञान आदि विशिष्ट शक्ति का धारक इन्द्र जब पूर्वकाल में आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ, तब वह आपके गुणसागर के एक बूँद की भी लगातार स्तुति नहीं कर सका, तब मेरे जैसा असमर्थ–अल्पज्ञ मनुष्य आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? फिर भी अज्ञानी होकर जो मैं इस तरह आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ–आपकी स्तुति में दो शब्द बोल रहा हूँ, सो यह आपकी तीव्रभक्ति ही बुलवा रही है, मैं स्वयं निज की शक्ति से नहीं बोल रहा हूँ। इस श्लोक में 'अजस्रं' के स्थान पर 'अजस्य' इस पाठान्तर का संकेत भी संस्कृत टीकाकार ने किया है, जिसका अर्थ होता है जन्म से रहित अर्थात् संसार परिभ्रमण से दूरवर्ती। यह तव अर्थात् पद्मप्रभ भगवान् का विशेषण है ॥५॥

इति पद्मप्रभजिनस्तवनम्

श्री सुपार्श्वजिनस्तवनम्

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद् भगवान्सुपार्श्वः ॥१॥

स्वास्थ्यमित्यादि—उपजातिच्छन्दः। स्वस्मिन् कर्मविमुक्ते आत्मस्वरूपे तिष्ठतीति स्वस्थमनन्तज्ञानादि तस्य भावः स्वास्थ्यं, कथंभूतं ? यत् आत्यन्तिकमविनश्वरम् । एष पुंसां स्वार्थः स्वस्यार्थः साध्यं प्रयोजनं । वैषयिकसुखाद्यनुभवः[1] कुतो न स्वार्थ इत्यत्राह—न भोग इत्यादि—एष प्रतीयमानो वैषयिक-सुखानुभवरूपो भोगो न स्वार्थः पुंसां, कुतः ? परिभङ्गुरात्मा यतः शाश्वतस्वरूपसिद्ध्यर्थो हि प्रेक्षावतां प्रयासो न च भोगः शाश्वतस्वभावो विषयसन्निधाने विद्युदुन्मेषमात्रभावित्वात्तस्य तथाविधोऽप्यसौ प्रशान्तिहेतुत्वात्स्वार्थो भविष्यतीत्याह—तृष इत्यादि—तृष उत्तरोत्तरभोगाकाङ्क्षाया अनुषङ्गात् अनुबन्धात् न च नैव तापशान्तिः तापस्य शरीरमानसदुःखस्य शान्तिरुपशम इत्येवं इदमात्मोत्थवैषयिकसुखादीनां स्वरूपमाख्यदब्रवीत् भगवान् विशिष्टज्ञानवान् इन्द्रादीनां पूज्यो वा सुपार्श्वः सप्तमतीर्थङ्करः शोभनौ सर्वलक्षणोपेतौ पार्श्वौ शरीरोभयप्रदेशौ यस्य । पार्श्वावित्युपलक्षणं सकलाङ्गावयवानाम् ॥१॥

आगे सच्चे स्वास्थ्य का लक्षण कहते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यत् आत्यन्तिकं स्वास्थ्यम्) जो अविनाशी स्वरूपलीनता है (एष) यही (पुंसां) जीवात्माओं का (स्वार्थः) निजी प्रयोजन है (परिभङ्गुरात्मा) क्षणभङ्गुर (भोगः) भोग (स्वार्थः न) निजी प्रयोजन नहीं है । (तृषः) उत्तरोत्तर भोगाकाङ्क्षा की (अनुषङ्गात्) वृद्धि से (न च तापशान्तिः) ताप की शान्ति नहीं होती है (इति इदम्) इस प्रकार यह विवेक (भगवान् सुपार्श्वः) विशिष्टज्ञानी सुपार्श्वनाथ ने (आख्यत्) कहा है ।

भावार्थ—कर्म से रहित आत्मस्वरूप में स्थित रहने से अनन्तज्ञानादि स्वस्थ कहलाते हैं, उनका जो भाव है उसे स्वास्थ्य कहते हैं । इस प्रकार ज्ञानादि गुणों की जो स्वाभाविक परिणति है वही आत्मा का स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है । वैषयिक सुखों का अनुभव निजी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वैषयिक सुख का अनुभव बिजली की कौंध के समान क्षणभङ्गुर है । इसके सिवाय वैषयिक सुखों के अनुभव से तृष्णा की वृद्धि होती है, जिस प्रकार ईंधन से अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती है उसी प्रकार वैषयिक सुखों से तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती है । तृष्णा की वृद्धि होती रहने से न शारीरिक ताप की शान्ति होती है और न मानसिक ताप की । संसार का प्राणी अनादिकाल से भोग

१. वैषयिकसुखानुभवः

सामग्री में संलीन होकर उसी के एकत्र करने में रात-दिन लगा रहता है। यहाँ भगवान् सुपार्श्वनाथ ने कहा है कि हे भद्रप्राणी! जिन भोगों के पीछे तू पड़ रहा है, वे शान्ति के कारण नहीं हैं, इसलिए इनकी ओर से दृष्टि हटाकर स्वभाव की ओर दृष्टि दे, उसी से तेरे शारीरिक और मानसिक ताप की शान्ति होगी। भगवान् सुपार्श्वनाथ उत्तमपार्श्व–सुन्दर पसलियों अथवा उपलक्षण से समस्त सुन्दर अवयवों के धारक थे, इसलिए उनका 'सुपार्श्व' नाम सार्थक था; साथ ही वे भग–विशिष्ट ज्ञान अथवा अपरिमित ऐश्वर्य के धारक होने से भगवान् कहलाते थे ॥१॥

न केवलं तत्सुखादीनां स्वरूपं कथितवान् अपि तु शरीरस्य चेत्याह—

अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

अजङ्गममित्यादि–अजङ्गमं बुद्धिपूर्वकपरिष्पन्दव्यापाररहितं, जङ्गमनेययन्त्रं जङ्गमनेयं च तद्यन्त्रं क्रीडार्थं रचितं हस्त्यादिरूपं तदजङ्गमं यथा जङ्गमेन तन्मध्यस्थितपुरुषेण नेयं कार्येषु प्रवर्तनीयं तथा अजङ्गमं शरीरं जीवधृतं सकलकार्येषु गमनादिषु जीवायत्तप्रवृत्तिकं, पुनरपि कथंभूतं? बीभत्सु विरूपकं, पूति दुर्गन्धसहितं, क्षयि विनाशि, तापकं च बहुदुःखकारि अत्रास्मिन्नेवंविधे शरीरे स्नेहोऽनुरागो वृथा निःफलः, मोक्षे तत्कारणे चानुरागः कर्तव्य इत्यर्थः इत्येवं हितं त्वमाख्यः, हितस्य मोक्षसौख्यस्य तत्कारणस्य च वैराग्यादेः कारणत्वादेतत् शिक्षारूपं वचो हितं सुपार्श्वो भगवानाख्य उपदिष्टवान् ॥२॥

भगवान् ने न केवल उक्त सुखादि का उपदेश दिया, किन्तु शरीर के उपदेश का भी क्रम रखा है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ–(यथा) जिस प्रकार (जङ्गमनेययन्त्रं) गतिशील मनुष्य के द्वारा चलाया जाने वाला यन्त्र स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित होता है (तथा) उसी तरह (जीवधृतं) जीव के द्वारा धारण किया हुआ (शरीरं) शरीर स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित है–जड़ है। साथ ही यह शरीर (बीभत्सु) घृणित (पूति) दुर्गन्ध से युक्त (क्षयि) विनश्वर (च) और (तापकं) संताप उत्पन्न करने वाला है इसलिये (अत्र) इस शरीर में (स्नेहः) अनुराग करना (वृथा) व्यर्थ है (इति) यह (हितं) हितकारक वचन (त्वम्) हे सुपार्श्वजिन! आपने (आख्यः) कहा है।

भावार्थ–मनुष्य का सबसे अधिक राग अपने शरीर से होता है। स्त्री, पुत्र तथा मकान आदि से जो राग है, वह शरीर को आराम पहुँचाने वाले होने से शरीर

मूलक ही होता है, इसलिए इस श्लोक में शरीर की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार क्रीडा के लिये रचा हुआ हाथी, घोड़ा आदि का यन्त्र जड़ होने से स्वयं निःस्पन्द–निश्चेष्ट होता है, किन्तु उसके बीच में स्थित पुरुष के द्वारा चालित होता है । उसी प्रकार यह शरीर पुद्गलरूप जड़ पदार्थों से रचित होने के कारण स्वयं निष्पन्द है–गति से रहित है, किन्तु मध्य में स्थित जीव के द्वारा गतिशील होता है–गमनागमन करता है और विषयों में प्रवृत्त होता है । हे आत्मन् ! तू ज्ञान का पुञ्ज गतिशील चेतन द्रव्य है और तेरा यह शरीर तुझसे अत्यन्त भिन्न अचेतन द्रव्य है । तेरा शरीररूप परिणमन त्रिकाल में नहीं हो सकता है और शरीर का भी तुझरूप परिणमन त्रिकाल में सम्भव नहीं है फिर भिन्न पदार्थ में अनुराग कैसा ? इसके सिवाय यह शरीर मल-मूत्र से युक्त होने के कारण अत्यन्त घृणित है, दुर्गन्धित है, विशरण– गलनरूप होने से विनश्वर है और भोगाकाङ्क्षाओं का पूरक न होने से संताप उत्पन्न करने वाला है, इसलिए इस विजातीय घृणित परद्रव्य में स्नेह करना–इसे अपना समझना व्यर्थ है । इस प्रकार के हितकारक वचन, हे सुपार्श्वजिन ! आपने कहे थे ।।२।।

यदि भगवान् हितमुपदिष्टवान् तदा भवदीयं वचः श्रुत्वा किमिति सर्वोऽपि जनः शरीरादिषु विरज्य हिते मार्गे न प्रवर्तत इत्याह–

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य-कार्येष्विति साध्ववादीः ।।३।।

अलङ्घ्यशक्तिरित्यादि–अलङ्घ्या अनतिक्रमणीया शक्तिः सामर्थ्यं यस्याः सा अलङ्घ्यशक्तिः, कासौ ? भवितव्यता दैवं कर्मेत्यर्थः । कुतः सा तथाविधा प्रतिपन्ना प्रत्यक्षादनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात् अतीन्द्रियतया तस्याः अस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वात् । अथानुमानादसौ प्रतिपन्ना तर्हि किमत्र लिङ्गमिति ? अत्राह–हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा हेत्वोः शुभेतरकर्मलक्षणयोर्बाह्याभ्यन्तरस्वरूपयोर्वा द्वयं[1] तेनाविष्कृतं जनितं यत्कार्य-मिष्टानिष्टार्थलाभलक्षणं तल्लिङ्गं यस्याः । ननु मन्त्रतन्त्रादिदृष्टसामग्रीसमन्वितो जीव एव सुखदुःखादिकार्यकर्ता भविष्यति तत्कथं कार्यलिङ्गाद्भवितव्यता अनुमीयत इत्याशङ्क्याह– अनीश्वर इत्यादि, न ईश्वरोऽनीश्वरोऽप्रभुरसमर्थः, कोऽसौ ? जन्तुः प्राणी, कथंभूतो ? अहंक्रियार्त्तः, अहंक्रियाभिरहंकारैर्व्यामोहरूपैरार्त्तः पीडितः संसारी जीवो भवितव्यता निरपेक्षोऽसमर्थ इत्यर्थः । क्व ? कार्येषु सुखादिषु, कथं ? संहत्य सुखादिकार्योत्पादकेषु

१. 'कारणद्वयसान्निध्यात्सर्वकार्यसमुद्भवः' उत्तरपुराण पर्व ७३ श्लोक ५३

मन्त्रतन्त्रादिसहकारिकारणेषु मिलित्वा । यदि हि भवितव्यतानपेक्षस्तत्सहिततामात्रेणात्मा तत्र समर्थः स्यात् तदा सर्वेषां तत्सहितानां समानं फलं स्यात्, न चैवमस्ति समानोपदेशानां समानमन्त्रतन्त्राद्यनुष्ठायिनां समानाहारावासानामपि केषाञ्चित्सफलं दृश्यते, केषाञ्चित्तु निष्फलम्, अतो येषामदृष्टं प्राञ्जलं तेषां तत्सफलमन्येषां तु निष्फलमिति सिद्धा तत्कार्यलिङ्गा भवितव्यता अतएवोक्तं इयमिति–इयं सकललोकप्रसिद्धा कार्यलिङ्गतया भवितव्यता । अथवा अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयमित्ययुक्तमुक्तं संसारमोक्षादिकार्याणामीश्वर-कृतत्वादित्याशङ्क्याह–अयमहंक्रियार्त्तः संसारी जन्तुरनीश्वरो न विद्यते ईश्वरः कारण-मस्येत्यनीश्वरः, क्व ? संहत्यकार्येषु संहत्यानि संघातरूपाणि बहूनीत्यर्थः यानि कार्याणि तेषु, अयमर्थः ईश्वरस्यैकभावस्याप्तस्य च विभिन्नदेशकालं ? कारणं नरकादिकार्यकर्तृत्वं अयुक्तमेकस्वभावत्वानुषङ्गान्निर्घृणत्वप्रसङ्गाच्च[1]। तददृष्टवशात्तथाकर्तृत्वे सिद्धा ईश्वरस्यापि भवितव्यतावशात्प्रवृत्तिः तस्मान्नासौ प्राणिनां दुःखादिकार्येषु कारणं किन्तु भवितव्यतैव तत्कारणमित्येवं साधु यथा भवति तथा अवादीरुक्तवान् ततः सिद्धं भवितव्यताया अलङ्घ्यशक्तित्वम् ॥३॥

यदि भगवान् ने हित का उपदेश दिया था तो उनके वचन सुनकर सभी लोग शरीरादि से विरक्त होकर हित के मार्ग में क्यों नहीं लगे ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ–(हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा) शुभ-अशुभ कर्म अथवा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिङ्ग–ज्ञापक है ऐसी (इयं) यह (भवितव्यता) भवितव्यता–होनहार (अलङ्घ्यशक्तिः) अलङ्घ्यशक्ति है–किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती तथा भवितव्यता की अपेक्षा नहीं रखने वाला (अहंक्रियार्त्तः) अहंकार से पीड़ित हुआ (जन्तुः) संसारी प्राणी (संहत्यकार्येषु) अनेक सहकारी कारणों से मिलकर भी सुख-दुःखादि कार्यों में (अनीश्वरः) असमर्थ है । हे सुपार्श्वजिनेन्द्र ! आपने (इति) यह (साधु) ठीक ही (अवादीः) कहा है ।

भावार्थ–जीवों के सुख-दुःखादिरूप कार्यों की उत्पत्ति उनके शुभ-अशुभ कर्मों के उदय की अनुकूलता होने पर होती है अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य–उपादान और निमित्त दोनों कारणों की योग्यता होने पर होती है, दोनों में से एक की कमी रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । इस तरह दोनों कारणों की अनुकूलता से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी भवितव्यता–होनहार को कोई टाल नहीं सकता । भवितव्यता की अपेक्षा न कर मात्र पुरुषार्थ की अपेक्षा रखने वाला अहंकारी

१. कालाकारनरकादि-ख-प्रतौ एकस्वभावत्वाभावानुषङ्गात् ख-प्रतौ ।

मनुष्य सब सामग्री जुटाकर भी कार्य करने में असमर्थ रहता है। यदि ऐसा न होता तो समान उपदेश को प्राप्त, समान मन्त्र-तन्त्र आदि का अनुष्ठान करने वाले एवं समान आहार तथा समान आवास को ग्रहण करने वाले लोगों में, किन्हीं का कार्य सफल देखा जाता है और किन्हीं का निष्फल, यह नहीं होता। इससे जान पड़ता है कि जिनका कर्मोदय अनुकूल है, उनका कार्य सफल हो जाता है और जिनका कर्मोदय अनुकूल नहीं है, उनका कार्य सफल नहीं हो पाता है। कर्मोदय की अनुकूलता ही भवितव्यता कहलाती है, यह भवितव्यता अलङ्घ्यशक्ति है—इसे कोई टाल नहीं सकता है। इसी भवितव्यता को दैव, अदृष्ट, भाग्य अथवा कर्म कहा जाता है। अन्तरङ्ग कारण की अपेक्षा भवितव्यता और बहिरङ्ग कारण की अपेक्षा पुरुषार्थ, दोनों का स्थान जिनागम में निरूपित है। अबुद्धिपूर्वक जो कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें भवितव्यता को प्रधानता दी जाती है और बुद्धिपूर्वक जो कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें पुरुषार्थ को प्रधानता दी जाती है, अनेकान्त की शैली से दोनों का समन्वय होता है। यहाँ ईश्वरवादी कहते हैं कि 'भवितव्यता अलङ्घ्यशक्ति है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संसार और मोक्ष, ईश्वर का किया हुआ है। ईश्वर की इच्छानुसार ही जीवों का संसार और मोक्ष होता है। इसका समाधान करने के लिये संस्कृत टीकाकार 'अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः' इस वाक्य का ऐसा अर्थ करते हैं कि 'अहंकार से पीड़ित संसारी जीव अनीश्वर है' अर्थात् संसारी जीव कार्यों में ईश्वर की कारणता को स्वीकृत नहीं करते हैं, क्योंकि एक स्वभाव वाले ईश्वर से किसी को नरक हो तथा किसी को स्वर्ग हो इस तरह विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्यों की विभिन्नता देखते हुए यदि यह माना जाय कि जिसका जैसा अदृष्ट होता है, उसे ईश्वर वैसा ही नरक अथवा स्वर्ग देता है, तो इस मान्यता से यही सिद्ध होता है कि जीवों की भवितव्यता ही नरक अथवा स्वर्ग आदि का कारण है न कि ईश्वर, क्योंकि भवितव्यता के बिना स्वतन्त्ररूप से ईश्वर कुछ नहीं कर सकता। हे सुपार्श्वजिनेन्द्र! यह उत्तम—हितकारक बात आपने कही है, कारण-कार्य के विषय में यह हितकारक मार्ग आपने लोगों को बताया है ।।३।।

एतदेव दर्शयन्नाह—

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ।।४।।

बिभेतीत्यादि—बिभेति त्रस्यति, जन्तुः कस्मात्? मृत्योः, न च ततो बिभ्यदप्यसौ भवितव्यतासामर्थ्यादुद्धिद्यत इत्याह—नेत्यादि—ततो मृत्योर्मोक्षो मुक्तिर्न जन्तोरस्ति विद्यते ।

तथा नित्यं सर्वदा शिवं सुखं निर्वाणं वा वाञ्छति जन्तुः भवितव्यतायां तु प्रतिकूलायां नास्य शिवस्य लाभः प्राप्तिः तथापि तत्प्रतिकूलतायां तदलाभेऽपि बालो अज्ञो जन्तुः भयकामवश्यो भयं मरणादौ त्रासः कामः सुखाद्यभिलाषस्तयोर्वश्य आधीनो वृथा मुधा स्वयमात्मना तप्यते क्लिश्यत इत्येवं अवादीरब्रवीस्त्वम् । यो हि प्रेक्षापूर्वकारी स प्रतिकूलायां भवितव्यतायां नेष्टं कार्यं सिद्ध्यतीति ज्ञात्वा तदनुकूलतासिद्ध्यर्थमेव यतते तत्सिद्धौ च सर्वमिष्टकार्यं सिद्ध्यतीति ॥४॥

आगे यही दिखलाते हुए कहते हैं–

अन्वयार्थ–यह जीव (मृत्योः) मरण से (बिभेति) डरता है परन्तु (ततः) उससे (मोक्षः) छुटकारा (न अस्ति) नहीं है (नित्यं) सदा (शिवं) कल्याण अथवा निर्वाण की (वाञ्छति) इच्छा करता है परन्तु (अस्य लाभः न) इसकी प्राप्ति नहीं होती (तथापि) फिर भी (भयकामवश्यः) भय और काम के वशीभूत हुआ (बालः) अज्ञानी प्राणी (स्वयं) स्वयं ही (वृथा) निष्प्रयोजन (तप्यते) दुःखी होता है । हे भगवन् (इति) यह आपने (अवादीः) कहा है ।

भावार्थ–ऊपर के श्लोक में भवितव्यता को अलङ्घ्यशक्ति बतलाया था इस श्लोक में भी उसी की पुष्टि करते हुए कहा है कि भवितव्यता की अनुकूलता न होने पर यह जीव मृत्यु से डरता है–मृत्यु से बचने के लिये बुद्धिपूर्वक अनेक प्रयास करता है, परन्तु आयु कर्म के उदय की अनुकूलता न होने पर मृत्यु से इसका छुटकारा नहीं होता–रञ्चमात्र भी आयु में वृद्धि नहीं होती । इसी प्रकार निरन्तर सुख की इच्छा करता है, परन्तु कर्मोदय की अनुकूलता न होने पर इसे सुख प्राप्त नहीं होता अथवा मोक्ष की इच्छा करता है, उसके अनुकूल तपश्चरण आदि भी करता है, परन्तु उपादान–आत्मा की अनुकूलता न होने पर इसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । यह जीव दोनों कारणों की अनुकूलता का ध्यान न रख मात्र अपने पुरुषार्थ के बल पर कार्य सिद्ध करना चाहता है और कार्य सिद्ध न होने पर दुःख का अनुभव करता है । इस सब में मूल कारण इस जीव का बालभाव–अज्ञान ही है; हे सुपार्श्वजिनेन्द्र ! यह यथार्थ बात आपने बतलाई है ॥४॥

ननु हेयोपादेये च तत्त्वे यथावत् परिज्ञाते उपदेशः प्रमाणतां प्रतिपद्यते न च भगवतस्तत्परिज्ञानं संभवतीत्याशङ्क्याह—

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ॥५॥

सर्वस्येत्यादि—सर्वस्य हेयोपादेयस्य तत्कारणभूतस्य च तत्त्वस्य भवान् सुपार्श्वजिनः प्रमाता प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन माता परिच्छेदकः, स इत्थंभूतो भगवान् बालस्य हेयोपादेयविवेकविकलस्य हितानुशास्ता—हितं निःश्रेयसं तत्कारणं च सम्यग्दर्शनादि तस्यानुशास्ता उपदेशकः । का इव कस्य ? मातेव बालस्य इव-शब्दो यथार्थे यथा बाल-स्यापत्यस्य वा माता जननी हितमुपकारकमनुशास्ति तथा भगवानप्यज्ञस्य जन्तोर्हित-मुपादिशत् । भगवान् किं सर्वस्य सन्मार्गे प्रवर्तको भवति किं वा कस्यचिदेवेत्याशङ्क्याह—गुणावलोकस्येत्यादि—गुणान्मोक्षहेतुभूतान् सम्यग्दर्शनादीनवलोकते अन्वेषत इति गुणाव-लोको जनो भव्यजन इत्यर्थः तस्य नेता सन्मार्गप्रवर्तकः यत इत्थंभूतो भगवान् ततो मयापि न केवलं गणधरदेवादिभिः किन्तु मयापि समन्तभद्रस्वामिनापि स्तावकेन परिणूयसे परिप्राप्तसन्मार्गस्वरूपेण परिसमन्तात् मनोवाक्कायैर्नूयसे स्तूयसे अद्य इदानीम् । ॥५॥

यहाँ कोई कहता है कि हेयोपादेय तत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही उनका उपदेश प्रामाणिकता को प्राप्त होता है—

अन्वयार्थ—(भवान्) आप (सर्वस्य तत्त्वस्य) समस्त जीवादि पदार्थों के (प्रमाता) संशयादि रहित ज्ञाता हैं, (बालस्य) सन्तान को (मातेव) माता के समान (बालस्य) अज्ञानी जनों को (हितानुशास्ता) हित का उपदेश देने वाले हैं और (गुणावलोकस्य जनस्य) सम्यग्दर्शनादि गुणों का अन्वेषण करने वाले भव्य समूह के (नेता) सन्मार्ग दर्शक हैं अतः (अद्य) आज (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी; हे सुपार्श्वजिनेन्द्र ! (त्वम्) आप (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (परिणूयसे) मन, वचन, काय से स्तुत हो रहे हैं—मैं मनसा वाचा कर्मणा आपकी स्तुति कर रहा हूँ ।

भावार्थ—इस श्लोक के पूर्व शङ्का उठाई गई थी कि हेयोपादेय तत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही वक्ता का उपदेश प्रमाणता को प्राप्त होता है, परन्तु भगवान् के हेयोपादेय तत्त्व का ठीक ज्ञान सम्भव नहीं है—इस शङ्का का उत्तर देते हुए कहा गया है कि—भगवान् सुपार्श्वनाथ समस्त तत्त्वों के प्रमाता हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञाता हैं । जिस प्रकार माता, अपनी सन्तान को बिना किसी स्वार्थभावना के हित का उपदेश देती है, उसी प्रकार भगवान् सुपार्श्वनाथ भी हेयोपादेय के विवेक से विकल अज्ञानीजन को हित—मोक्ष तथा उसके कारण—सम्यग्दर्शनादि का उपदेश देते हैं तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों का अवलोकन करने वाले भव्यजीवों के नेता हैं—सन्मार्ग के दर्शक हैं, इन्हीं सब कारणों से आज मैं भगवान् सुपार्श्वजिनेन्द्र की स्तुति करता हूँ ॥५॥

इति सुपार्श्वजिनस्तवनम्

श्री चन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥१॥

चन्द्रप्रभमित्यादि–उपजातिच्छन्दः । चन्द्रस्येव प्रभा यस्यासौ चन्द्रप्रभः अष्टम-तीर्थङ्करस्य संज्ञेयं, अन्वर्था चेयं संज्ञा, एतदेव चन्द्रेत्यादिना दर्शयति–चन्द्रस्य मरीचयः किरणास्तद्वद् गौरं शुक्लं तथाभूतं भगवन्तं जगति द्वितीयमिव चन्द्रं कथंभूतं कान्तं सकलार्थोद्योतिकेवलज्ञानप्रभाभराधारतया चन्द्रादतिशयेन कान्तं कमनीयं दीप्तं, तमित्थंभूतं चन्द्रप्रभं भगवन्तं वन्दे । पुनरपि कथंभूतं ? अभिवन्द्यं अभि समन्ताद्वन्द्यं पूज्यं महतां महद्भिरिन्द्रादिभिरित्यर्थः, ऋषीन्द्रं ऋषीणां गणधरदेवादीनामिन्द्रं स्वामिनं जिनमशेष-कर्मोन्मूलकं, जितेत्यादि–अत्र त्रिधा पाठः–केचित्तावज्जितस्वान्तकषायबन्धमिति पठन्ति, अस्यायमर्थः स्व इत्यनेन चन्द्रप्रभस्वामी गृह्यते तस्यान्तो धर्मो न प्रकृत्यादेः स चासौ कषायबन्धश्च स जितो येन स तथोक्तस्तं[१] । केचित्तु जितास्वान्तकषायबन्धमिति पठन्ति अस्यायमर्थः सुखेन अन्तो विनाशः स्वन्तः न विद्यते स्वन्तो यस्य कषायबन्धस्यासावस्वन्तो जितोऽस्वन्तः कषायबन्धो[२] येन स तथोक्तस्तमिति [अन्ये तु जितास्वान्तकषायबन्धमिति पठन्ति । अत्रायमर्थः स्वान्तं मनः प्रकृतिविकाररूपं तस्य कषायैः क्रोधादिभिः बन्धो नात्मनेति सांख्यमतं तत्तथा निषिध्यते, न स्वान्तकषायबन्धः अस्वान्तकषायबन्ध आत्मनस्तद्बन्ध इत्यर्थः जितो अस्वान्तकषायबन्धो येन स तथोक्तस्तमिति ।][३] ॥१॥

भगवान् के चन्द्रप्रभ नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ–मैं (चन्द्रमरीचिगौरं) चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण (जगति) संसार में (द्वितीयं चन्द्रमिव कान्तं) दूसरे चन्द्रमा के समान सुन्दर (महतां) इन्द्र आदि बड़े-बड़े जनों के (अभिवन्द्यं) वन्दनीय (ऋषीन्द्रं) गणधरादि ऋषियों के स्वामी (जिनं) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले और (जितस्वान्तकषायबन्धम्[४]) अपने विकारी भाव स्वरूप कषाय के बन्धन को जीतने वाले (चन्द्रप्रभं) चन्द्रमा के समान कान्ति के धारक चन्द्रप्रभ नामक अष्टम तीर्थङ्कर को (वन्दे) वन्दना करता हूँ ।

भावार्थ–इस श्लोक में अष्टम तीर्थङ्कर के बाह्य और आभ्यन्तररूपों का वर्णन करते हुए समन्तभद्रस्वामी ने उन्हें नमस्कार किया है । बाह्यरूप का वर्णन करते हुए

१. यथोक्तस्तं ख-प्रतौ । २. कषायात्मबन्धो ख-प्रतौ । ३. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः क-प्रतौ नास्ति । ४. यहाँ संस्कृत टीकाकार ने तीन प्रकार के पाठों का उल्लेख किया है जो संस्कृत टीका में दृष्टव्य हैं ।

कहा है कि वे चन्द्रमा के समान प्रभा के धारक थे, चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण थे और अपनी सुन्दरता से ऐसे जान पड़ते थे मानों जगत् के दूसरे चन्द्रमा ही हों तथा आभ्यन्तररूप का वर्णन करते हुए कहा है कि वे कर्मरूप शत्रुओं को जीतने के कारण जिन कहलाते थे । उन्होंने अपने विकारीभाव स्वरूप कषाय के बन्ध को जीत लिया था, इसीलिए गणधरादि ऋषियों के वे स्वामी थे और इन्द्र आदि बड़े-बड़े पुरुष उन्हें सब ओर से नमस्कार करते थे ॥१॥

पुनरपि कथंभूतं चन्द्रप्रभमित्याह—

यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥

यस्येत्यादि—यस्य चन्द्रप्रभतीर्थङ्करदेवस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं अङ्गं देहस्तस्य लक्ष्मीः परमकान्तिस्तस्याः परिवेषो मण्डलं तेन भिन्नं विदारितं ननाश नष्टं किं तत्? तमः, कैरिवेत्याह—तमोरेरित्यादि—तमसोऽन्धकारस्यारिस्तमोरिरादित्यस्तस्य रश्मयः किरणाः तैरिव भिन्नं ध्वस्तं न केवलं बाह्यमेव ननाश बहु मानसं च मनसि चिदात्मन्यात्मस्वरूपे भवं मानसं तमोऽज्ञानं कथंभूतं? बहु प्रचुरमनेकप्रकारं ज्ञानावरणोदयनिबन्धनं, चकारः समुच्चये, कथंभूतः सन् तन्ननाशेत्याह—ध्यानेत्यादि—ध्यानमेव प्रदीपोऽज्ञानतमोऽपहन्तृत्वात् तस्यातिशयः परमप्रकर्षस्तेन भिन्नं विदारितं ॥२॥

चन्द्रप्रभ भगवान् की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य[1]) जिनके (अङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं) शरीर सम्बन्धी दिव्यप्रभा-मण्डल से विदारित (बहु) बहुत सारा (बाह्यं तमः) बाह्य अन्धकार (च) और (ध्यान-प्रदीपातिशयेन) शुक्लध्यान रूपी श्रेष्ठ दीपक के अतिशय से (भिन्नं) विदारित (बहु) बहुत सारा (मानसं तमः) मानसिक अज्ञानान्धकार (तमोरेः) सूर्य की (रश्मिभिन्नं) किरणों से विदारित (तम इव) अन्धकार के समान (ननाश) नष्ट हो गया था ।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य की किरणों से खण्डित हुआ दिग्दिगन्तव्यापी रात्रि सम्बन्धी अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जिन चन्द्रप्रभ भगवान् के शरीर की श्रेष्ठ कान्ति के मण्डल से खण्डित हुआ निकटवर्ती अन्धकार का भारी समूह नष्ट हो गया था तथा जिनके शुक्लध्यानरूपी प्रकृष्ट/श्रेष्ठतम दीपक के अतिशय से खण्डित हुआ बहुत सारा मानसिक अन्धकार—अज्ञान का समूह नष्ट हो गया था, वे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मन को पवित्र करें । पूर्व श्लोक के समान इस श्लोक में भी चन्द्रप्रभ भगवान् के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों का दिग्दर्शन किया गया है ॥२॥

१. दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोक का क्रिया सम्बन्ध पांचवें श्लोक से है ।

इत्थंभूतस्य च भगवतो वचः श्रुत्वा स्वपक्षाहङ्कारच्युताः परवादिनः संपन्ना इति दर्शयन्नाह—

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥३॥

स्वपक्षेत्यादि—स्वस्य पक्षो मतं तस्य सौस्थित्यं सुस्थितत्वं तस्मिन्मदोऽस्मदीयमेव मतं शोभनं बाधारहितं बाधाविधुरं यथा भवत्येवं स्थितं नान्यदिति दर्पः तेनावलिप्ताः समन्विताः के ते ? प्रवादिनः प्रगतं प्रमाणानुपपन्नं वदन्तीत्येवंशीलाः प्रवादिनोऽन्यतीर्थ्यास्ते बभूवुः संजाताः ? कथंभूताः ? विमदा विगतदर्पाः कैः ? वाक्सिंहनादैः वाचः सिंहनादाः परपराजयहेतुत्वात् अजय्यत्वाच्च तैः, कस्य ? यस्य चन्द्रप्रभस्वामिनः, दृष्टान्तमाह—मदार्द्रेत्यादि—यथा केसरिणः सिंहस्य निनादैः शब्दैर्गजा हस्तिनो मदार्द्रगण्डा मदार्द्रकपोला विमदा बभूवुस्तथा भगवद्वचोभिः परवादिन इति ॥३॥

अब इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर प्रतिवादी मद रहित हो गये, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (केसरिणः) सिंह की (निनादैः) गर्जनाओं से (मदार्द्रगण्डाः) मद से गीले गण्डस्थलों के धारक (गजाः) हाथी (विमदाः) मद से रहित हो जाते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्य) जिनके (वाक्सिंहनादैः) वचनरूप सिंहनादों के द्वारा (स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः) अपने मत–पक्ष की सुस्थिति के घमण्ड से गर्वीले (प्रवादिनः) प्रवादीजन (विमदाः) गर्व रहित (बभूवुः) हो जाते थे ।

भावार्थ—यहाँ भगवान् चन्द्रप्रभ के अकाट्य वचनों की महिमा प्रकट की जा रही है । कहा गया है कि उनके वचन इतने अकाट्य–युक्तिसंगत होते थे कि उन्हें सुनकर अच्छे-अच्छे प्रवादियों का मद चूर-चूर हो जाता था । साधारण प्रवादी नहीं किन्तु ऐसे प्रवादी जो अपने पक्ष की स्थिरता के अहङ्कार से लिप्त थे, जिन्हें इस बात का अभिमान था कि हमारे पक्ष को कोई खण्डित नहीं कर सकता और वे भी उस तरह मद रहित होते थे, जिस तरह कि सिंह की गर्जना सुनकर बड़े-बड़े मदस्रावी हाथी, मद रहित होते हैं । जिनके वचनों की ऐसी महिमा है, वे चन्द्रप्रभ भगवान् हमारे मन को पवित्र करें ॥३॥

पुनरपि किंविशिष्टो यो भगवान् संपन्न इत्याह—

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः ।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥४॥

यः सर्वलोक इत्यादि—यः चन्द्रप्रभतीर्थङ्करदेवः सर्वलोके त्रिभुवने परमेष्ठितायाः परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी परमाप्तः तस्य भावः परमेष्ठिता परमाप्तता तस्याः पदं स्थानं बभूव संजातः । कथंभूतः ? अद्भुतकर्मतेजाः अद्भुतमचिन्त्यं कर्मणोऽनुष्ठान-विशेषात्सकाशात् तेजः केवलज्ञानलक्षणं परमज्योतिर्यस्य, यदि वा अद्भुतमचिन्त्यं कर्मणि सकलप्राणिगणप्रबोधनव्यापारे निमित्तभूतं तेजः केवलज्ञानस्वरूपः पदार्थप्रकाशो यस्य स तथोक्तः, पुनरपि कथंभूत इत्याह—अनन्तेत्यादि—अनन्तं च तद्धाम च केवलज्ञानं तदेवा-क्षरमविनश्वरं शाश्वतं विश्वस्मिन् लोकालोके चक्षुर्यस्य । न केवलं प्रागुक्तविशेषणविशिष्ट एव भगवानपि तु समन्तदुःखक्षयशासनश्च समन्तात् निःशेषतो दुःखानां चतुर्गतिभुवां क्षयो विनाशो यस्मात् तत् समन्तदुःखक्षयं मोक्षपदमित्यर्थः तत्तथाविधं शासनं मतं यस्य ।।४।।

भगवान् फिर कैसे हैं ? यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यः) जो (सर्वलोके) समस्त संसार में (परमेष्ठितायाः) परमाप्तपना के (पदं) स्थान (बभूव) थे, (अद्भुतकर्मतेजाः) तीव्रतपश्चरणरूप कार्य से जिनका तेज अद्भुत—अचिन्त्य था अथवा समस्त प्राणिसमूह को प्रतिबोधित करने रूप कार्य में जिनका केवलज्ञानरूप तेज आश्चर्यकारक था, (अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः) अनन्त केवलज्ञान ही जिनका लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अविनाशी चक्षु था, (च) और (समन्तदुःखक्षयशासनः) जिनका शासन चतुर्गति के दुःखोंका क्षय करनेवाला था ।

भावार्थ—भगवान् चन्द्रप्रभ तीनों लोकों में परमाप्तपना—उत्कृष्ट अरहन्त अवस्था के पद थे—कर्मरूप शत्रुओं का घातकर वे सर्वोत्कृष्ट पद में स्थित हुए थे । कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करने के लिए उन्होंने कठिन अनुष्ठान किया था—तीव्र तपश्चरण किया था और उसके फलस्वरूप उन्हें आश्चर्यकारी तेज—केवलज्ञानरूप परम प्रकाश प्राप्त हुआ था । सर्वोत्कृष्ट अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों को धारण करने वाला केवलज्ञानरूप तेज ही लोकालोक को प्रकाशित करने वाला उनका नेत्र था तथा उनका शासन, जिसमें चारों गतियों के दुःखों का क्षय हो जाता है, ऐसे मोक्ष को देने वाला था । इन सब गुणों से विशिष्ट अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ भगवान् हमारे मन को पवित्र करें ।।४।।

पुनरपि कथंभूत इत्याह—

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः ।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ।।५।।

स चन्द्रमा इत्यादि—स प्रागुक्तविशेषणविशिष्टो भगवान् चन्द्रमाः विकासकः, कासां ? भव्यकुमुद्वतीनां कुमुदानि आसां सन्ति कुमुद्वत्यः कुमुदिन्यः कुमुदादिभ्यः 'कुमुदनडवेतसाड्डित्', इति मतोर्डिदतिदेशाद्दकाराकारलोपः, भव्या एव कुमुद्वत्यो भव्यकुमुद्वत्यस्तासां, कथंभूत इत्याह—विपन्नेत्यादि—अभ्राणि च कलङ्काश्चाभ्रकलङ्का दोषा एवाभ्रकलङ्का तैरुपलेपः आत्मस्वरूपप्रच्छादनं विपन्नो विनष्टो दोषाभ्रकलङ्कलेपो यस्य । पुनरपि कथंभूत इत्याह—व्याकोशेत्यादि—व्याकोशा विकसिताः सुव्यक्ता वाचः तासां न्यायो नीतिप्रणयनं स एव मयूखानां किरणानां माला यस्य स तथोक्तः, स इत्थंभूतो भगवान् पूयात् पवित्रीकरोतु कर्ममलविशुद्धिं करोत्विति सारार्थः । किं तत् ? मनः, कस्य ? मे समन्तभद्रस्वामिनः किंविशिष्टो भगवांश्चन्द्रप्रभतीर्थङ्करदेवः, पवित्रः कर्ममलविशुद्धः ॥५॥

चन्द्रप्रभ भगवान् फिर कैसे हैं ? यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—जो (भव्यकुमुद्वतीनां चन्द्रमाः) भव्यजीवरूप कुमुदिनियों को विकसित करने के लिये चन्द्रमा हैं, (विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः) जिनका रागादि दोषरूप मेघकलङ्क का आवरण नष्ट हो गया है, (व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः) जो अत्यन्त स्पष्ट वचनों के न्यायरूप किरणों की माला से युक्त हैं तथा (पवित्रः) कर्ममल से रहित होने के कारण जो अत्यन्त विशुद्ध हैं (सः भगवान्) वे चन्द्रप्रभ भगवान् (मे) मेरे (मनः) मन को (पूयात्) पवित्र करें ।

भावार्थ—यहाँ रूपकालङ्कार से चन्द्रप्रभ भगवान् में चन्द्रमा का आरोप किया गया है । जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदिनियों को विकसित करता है, उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् भव्यजीवरूप कुमुदिनियों को विकसित करने वाले थे, वर्तमान चन्द्रमा मेघरूप कलङ्क के आवरण से आच्छादित हो जाता है, परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् दोषरूपी मेघ कलङ्क के आवरण से रहित थे । जिस प्रकार चन्द्रमा किरणों की माला से युक्त होता है, उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त स्पष्ट वचनों की स्याद्वाद रचनारूप किरणों की माला से युक्त थे । वर्तमान चन्द्रमा कलङ्क से युक्त होने के कारण कलङ्की—अपवित्र कहलाता है, परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् कर्म कलङ्क से रहित होने के कारण पवित्र थे । ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मन को पवित्र करें—मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम भाव से मेरे मन को सदा दूर रखें ॥५॥

इति चन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

श्री सुविधिजिनस्तवनम्

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥१॥

एकान्तदृष्टीत्यादि—उपजातिच्छन्दः । स्वरूपेण पररूपेणापि सत्त्वमित्याद्येकान्तः तस्य दृष्टिः तत्प्रतिपादकं दर्शनं तां प्रतिषेद्धुं शीलमस्येत्येकान्तदृष्टिप्रतिषेधि, किं तत्? तत्त्वं जीवादिवस्तु, कथंभूतं? प्रमाणसिद्धं प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धस्वरूपं, कीदृशं तत्तत्त्वं यत् प्रमाणसिद्धमित्याह—तदित्यादि—स च[1] विवक्षितः असश्च[2] अविवक्षितस्तदततौ तौ स्वभावौ यस्य तत्तदतत्स्वभावं विवक्षिताविवक्षितस्वभावमित्यर्थः, यतस्तदीदृशं तत्त्वं तत् एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि, केन तत्प्रतिपादितमित्याह—त्वया प्रणीतमिति—त्वया भगवता प्रणीतं कथितं, हे सुविधे ! शोभनो विधिर्विधानं क्रिया अनुष्ठानं यस्यासौ सुविधिरन्वर्था संज्ञा इयं नवमतीर्थङ्करदेवस्य, केन कृत्वा तत्प्रणीतमित्याह—स्वधाम्ना स्वज्ञानतेजसा अनेन विशिष्ट-ज्ञानपूर्वकत्वात् तद्वचनं प्रमाणमित्युक्तं, अन्येऽप्येवंविधं तत्त्वं जानन्ति ततस्तत्प्रणीतमित्यपि कस्मान्न भवतीत्याह—नेत्यादि—न एतत्तत्त्वं समालीढपदं समालीढमास्वादितमनुभूतं पदं स्थानं स्वरूपं यस्य, कैः? त्वदन्यैः त्वत्तः सुविधेरन्यैस्त्वदन्यैः त्वच्छासनबहिर्भूताः सुगता-दयस्तैः ॥१॥

आगे सुविधि जिनेन्द्र ने जो उपदेश दिया है, उसे दूसरे नहीं प्राप्त कर सके हैं, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सुविधे) हे सुविधिनाथ भगवन् ! (त्वया) आपके द्वारा (स्वधाम्ना) अपने ज्ञानरूप तेज से (प्रणीतं) प्रतिपादित (तत्त्वं) जीवादि पदार्थ (एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि) एकान्त दर्शन का निषेध करने वाला है, (प्रमाणसिद्धं) प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से सिद्ध है तथा (तदतत्स्वभावम्) तत् और अतत् स्वभाव को लिए है अर्थात् विधि-निषेध रूप है । हे भगवन् ! (एतत्) यह तत्त्व (त्वदन्यैः) आपसे भिन्न सुगत आदि के द्वारा (समालीढपदं न) अनुभूतस्थान वाला नहीं है—सुगतादि के द्वारा ऐसा तत्त्व प्रतिपादित नहीं हो सका है ।

भावार्थ—जिनका भाग्य अथवा क्रियाओं का अनुष्ठान उत्तम है, वे सुविधिनाथ हैं। नवम तीर्थङ्कर का यह सुविधि नाम सार्थक है, आपका दूसरा नाम पुष्पदन्त भी है । इस श्लोक में सुविधि नाम से सम्बोधित करते हुए नवम तीर्थङ्कर का स्तवन किया गया

१. सच्च क. २. असच्च क. ।

है। समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे सुविधिजिनेन्द्र ! आपने जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है वह एकान्तदृष्टि का निषेध करने वाला है। संसार का प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद्‌रूप होता है और पररूप की अपेक्षा असद्‌रूप होता है, परन्तु इस सापेक्ष कथन की उपेक्षा कर ऐसा कथन करना कि जिस प्रकार पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद्‌रूप है उसी प्रकार पररूप की अपेक्षा भी सद्‌रूप है अर्थात् पदार्थ सद्‌रूप ही है अथवा असद्‌रूप ही है (दो विरोधी अन्तों–धर्मों में से किसी एक अन्त–धर्म को ही स्वीकृत करना) एकान्त कहलाता है तथा विवक्षा-भेद से दोनों को स्वीकृत करना अनेकान्त है। 'सत्ता सप्पडिवक्खा' सत्ता अपने प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी धर्म से सहित है। जो पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद्रूप है, वह पररूप की अपेक्षा असद्रूप है। जो सामान्य की अपेक्षा एकरूप है, वह विशेष की अपेक्षा अनेकरूप है। जो द्रव्य की अपेक्षा नित्यरूप है, वह पर्याय की अपेक्षा अनित्यरूप है। इस तरह पदार्थ तत्स्वरूप है और अतत्स्वरूप भी है। स्वरूप की अपेक्षा तत्स्वरूप है और पररूप की अपेक्षा अतत्स्वरूप है। पदार्थ का यह तत्स्वभाव और अतत्स्वभावपना प्रत्यक्षादि-प्रमाणों से सिद्ध है, अतः अबाधित है। सुविधिजिनेन्द्र ने इस तत्त्व का प्रतिपादन अपने केवलज्ञानरूप तेज के द्वारा किया है अर्थात् केवलज्ञान के दिव्य आलोक में पदार्थ का अच्छी तरह अवलोकन कर उसका निरूपण किया है, इसीलिए अबाधित है। हे भगवन् ! आपके सिवाय अन्य वक्ता इस तत्त्व को नहीं प्राप्त कर सके हैं, क्योंकि वे सदेकान्त, असदेकान्त आदि एकान्त के गर्त में पतित हैं ॥१॥

कथं तदेवंविधं तत्त्वं युक्तमित्याह—

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात् तथा-प्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥२॥

तदेव चेत्यादि—तदेव जीवादि वस्तु स्याद्भवेत् स्वरूपादिचतुष्टयेन, तदेव च न स्यात्पररूपादिचतुष्टयेन। चकार उभयत्र परस्परं समुच्चयार्थः। कुतस्तत्तथेत्याह—तथा-प्रतीतेः—तथा स्वरूपपररूपाभ्यां सदसद्रूपतया प्रतीतेः प्रमाणेनावभासनात्, तव सम्बन्धि तज्जीवादितत्त्वं कथञ्चिन्न सर्वात्मना। सदसदात्मकं[1] विपरीतं कुतो न भवतीत्याह—नेत्यादि—नात्यन्तमन्यत्वं न सर्वथा भेदः, कस्य? विधेः स्वरूपादिचतुष्टयेन अस्तित्वस्य निषेधस्य च पररूपादिचतुष्टयेन नास्तित्वस्य च। कुतः? शून्यदोषात् अस्तित्वस्य हि

१. सदसदाद्यात्मकं।

भावेभ्यः सर्वथा भेदे तेषामसत्त्वप्रसङ्गात् निराश्रयस्य चास्तित्वस्याप्यसंभवात् शून्यतादोषः, नास्तित्वस्य च ततोऽत्यन्तभेदे तेषां सङ्करप्रसङ्गात् तद्दोष इति तर्हि तयोः सर्वथा-भेदोऽस्त्वित्यत्राह–अनन्यता च, नात्यन्तं विधेः निषेधस्य चेति पदघटना, कुतः ? शून्य-दोषात् भावप्रधानोऽयं निर्देशः शून्यदोषादिति, तथाहि विधिनिषेधयोरत्यन्तमनन्यतायां सर्वथा अभेदेऽस्तित्वस्य नास्तित्वरूपानुषङ्गात् सकलशून्यतादोषः नास्तित्वस्य चास्तित्व-रूपानुषङ्गाद् भावसङ्करव्यवस्थानिबन्धनस्याभावस्यासंभवात् सकलभावानामेकरूपताप्रसङ्गे तु सकलशून्यतादोषः ॥२॥

इस प्रकार तत्त्व की विधि-निषेधकता को युक्ति द्वारा सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ–हे सुविधिजिनेन्द्र (तव) आपका (तत्) वह तत्त्व (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव च स्यात्) तद्रूप ही है (च) और (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव न स्यात्) तद्रूप नहीं है क्योंकि (तथा-प्रतीतेः) उस प्रकार की प्रतीति होती है । (विधेः) विधि (च) और (निषेधस्य) निषेध में (अत्यन्तं) सर्वथा (न अन्यत्वम्) न भिन्नता है (च) और (न अनन्यता) न अभिन्नता है क्योंकि ऐसा मानने से (शून्यदोषात्) शून्यता का दोष आता है ।

भावार्थ–प्रत्येक पदार्थ का विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा होता है, इन्हें जिनागम में स्वचतुष्टय और परचतुष्टय कहा जाता है । स्वचतुष्टय की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ तद्रूप–जिसरूप कहा गया है, उसरूप होता है और परचतुष्टय की अपेक्षा अतद्रूप–जिसरूप कहा गया है, उसरूप न होकर उससे भिन्नरूप होता है । जैसे–'मनुष्य है' यहाँ मनुष्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मनुष्यरूप है और देवादिसम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मनुष्यरूप नहीं है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में स्वचतुष्टय की अपेक्षा विधि और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध दोनोंरूप बनते हैं, परन्तु इस विधि और निषेध में न तो सर्वथा भिन्नता है और न सर्वथा अभिन्नता है, क्योंकि सर्वथा भिन्नता और अभिन्नता मानने पर शून्यता का दोष आता है । विधि–अस्तित्व को पदार्थ से सर्वथा भिन्न मानने में यह आपत्ति है कि अस्तित्व गुण है और गुण किसी पदार्थ के आधार पर ही रहता है, बिना आधार के गुण का अस्तित्व नहीं रह सकता । इस प्रकार पदार्थ के बिना अस्तित्व गुण का अभाव होता है और अस्तित्व गुण के बिना नास्तित्वरूप हो जाने से पदार्थ का भी अभाव होता है । फलस्वरूप गुण और गुणी दोनों का अभाव होने से शून्यता दोष का

प्रसंग आता है । इसी प्रकार निषेध—नास्तित्व को पदार्थ से सर्वथा भिन्न मानने पर सब पदार्थ सब रूप हो जावेंगे और इस तरह संकर दोष की आपत्ति आती है । इन दोषों से बचने के लिए यदि विधि और निषेध को पदार्थ से सर्वथा अभिन्न स्वीकृत किया जाता है, तब भी उक्त दोष आते ही हैं, क्योंकि सर्वथा अभेद मानने पर अस्तित्व नास्तित्वरूप हो जावेगा और इस दशा में सर्वशून्यता का दोष आता है तथा नास्तित्व अस्तित्वरूप हो जावेगा, इसलिए संकर दोष भी आता है । हे सुविधिजिनेन्द्र ! इन दोषों से बचने के लिए आपने पदार्थ का स्वरूप अनेकान्त शैली से विधि-निषेध तथा भेद और अभेद दोनोंरूप किया है ॥२॥

एवं भावाभावरूपतया तदतत्स्वभावं तत्त्वं प्रदर्श्य नित्यानित्यरूपतया तदतत्स्वभावं तत्प्रदर्शयितुमाह—

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-र्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥३॥

नित्यमित्यादि—नित्यं जीवादि वस्तु, कुतः ? तदेवेदमिति प्रतीतेः—तदेव यद्बालाद्य-वस्थायां प्रतिपन्नं देवदत्तादि वस्तु तदेवेदं युवाद्यवस्थायामिति प्रतीतेः प्रत्यभिज्ञानात् । तर्हि नित्यमेव तदस्त्वित्यत्राह—न नित्यं कथञ्चित् विनाशि, कुतः ? अन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः बालाद्यवस्थातो युवाद्यवस्था अन्येति येयं प्रतिपत्तिस्तस्याः सिद्धेः निर्बाधत्वेन निर्णीतेः । नन्वेकस्य वस्तुनो भावाभावात्मकत्वं नित्यानित्यात्मकत्वं च विरुद्धमित्यत्राह—न तद्विरुद्धं तदनन्तरोक्तं भावाभावाद्यात्मकत्वं विरुद्धमनुपपन्नं न, कुत इत्याह—बहिरित्यादि—अङ्ग-शब्दः प्रत्येकं संबद्धचते बहिरङ्गमन्तरङ्गं च तच्च तन्निमित्तं च बहिरङ्गं निमित्तं सहकारि-कारणं, अन्तरङ्गनिमित्तमुपादानकारणं, निमित्ताद् भवं नैमित्तिकं कार्यं, बहिरन्तरङ्गनिमित्तं च नैमित्तिकं च ताभ्यां योगः सम्बन्धस्तस्मात्ततः, ते तव जिनस्य, न तद्विरुद्धं, तथाहि स्वद्रव्यलक्षणेनान्तरङ्गनिमित्तेन स्वक्षेत्रादिलक्षणेन बहिरङ्गनिमित्तेन च योगादस्तित्वात्म-कत्वं, परद्रव्यादिलक्षणेन च बहिरङ्गनिमित्तेन योगान्नास्तित्वात्मकत्वमेकस्यापि न विरुद्धं तथा द्रव्यलक्षणान्तरङ्गनिमित्तयोगान्नित्यत्वं क्षेत्रभेदादिलक्षणबहिरङ्गनिमित्तयोगात्कार्य-लक्षणनैमित्तिकयोगाच्चानित्यत्वमेकस्यापि वस्तुनो न विरुद्धम् ॥३॥

अब पदार्थ की नित्यानित्यात्मकता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इदं तदेव) यह वही है (इति) इस प्रकार (प्रतीतेः) प्रतीति होने से तत्त्व (नित्यं) नित्य है और (अन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः) यह अन्य है इस

प्रकार प्रतीति होने से (नित्यं न) नित्य नहीं है तथा (ते) आपके मत में (बहिरन्तरङ्गनिमित्त-नैमित्तिकयोगतः) बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग कारण और कार्य के योग से (तद्) वह नित्यानित्यात्मक तत्त्व (विरुद्धं न) विरुद्ध भी नहीं है ।

भावार्थ—'यह वही है जिसे पहले देखा था' इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृति प्रमाण के योग से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । प्रत्यभिज्ञान कालक्रम से होनेवाली पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं में एकरूपता को सिद्ध करता है । मनुष्य की बालादि-वृद्धान्त अवस्थाओं में यह वही है, यह वही है, इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता रहता है, इससे उन सबमें एकरूपता को स्थापित करना प्रत्यभिज्ञान का काम है । जो पदार्थ समस्त पर्यायों में एकरूपता को स्थापित करता है, वह नित्य होता है तथा जो बालक आदि अवस्थाओं में भेद होने के कारण 'यह वह नहीं है' इस प्रकार प्रतीति होने से विभिन्नता को स्थापित करता है, वह अनित्य होता है । मनुष्य, मनुष्यत्व सामान्य की अपेक्षा बालक से लेकर वृद्ध तक की समस्त अवस्थाओं में एक होने से नित्य है, परन्तु बालक आदि अवस्थाओं में भेद हो जाने के कारण वही अनेक होने से अनित्य हो जाता है, माता अपने जिस पुत्र को शिशु अवस्था में उरःस्थल से लगाती है, उसी पुत्र को तरुण होने पर उरःस्थल से नहीं लगाती । यद्यपि वह समझती है यह वही पुत्र है जो पहले शिशु था तथापि साथ में यह भी समझती है कि इस पुत्र की यह तरुण अवस्था शिशु अवस्था से भिन्न है, जिस प्रकार इसकी शिशु अवस्था निर्विकार थी उस प्रकार तरुण अवस्था निर्विकार नहीं है । पदार्थ का यह नित्यानित्यपना विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारण तथा उनके द्वारा होने वाले नैमित्तिक-कार्य के योग से पदार्थ में नित्यानित्यपना सिद्ध है । कार्य की उत्पत्ति कारण के अनुसार होती है और कारण बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग के भेद से दो प्रकार का होता है । बहिरङ्ग कारण सहकारी कारण कहलाता है, जैसे—घट की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुलाल आदि और अन्तरङ्ग कारण उपादान कारण कहलाता है जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी । उपादान कारण स्वयं कार्यरूप परिणत होता है, इसलिए यह द्रव्य अंश को ग्रहण करता है और बहिरङ्ग कारण स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता, इसलिए वह क्षेत्रादि अंश को ग्रहण करता है । द्रव्य अंश अतीत-अनागत पर्यायों में व्यापक होने से पदार्थ की नित्यता का बोध कराता है और क्षेत्रादि अंश मात्र वर्तमान पर्याय में व्याप्त होने से पदार्थ की अनित्यता का बोध कराता है ।।३।।

ननु यद्यप्यनेकान्तात्मकं वस्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्धस्वरूपं तथाप्यागमादेकान्तस्वरूपं तत् सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह––

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ।।४।।

अनेकमित्यादि–पदवाक्यात्मको ह्यागमः, पदात्मकं च वाक्यं, तत्र पदमेव तावच्चिन्त्यते, पदस्य वाच्यमभिधेयमनेकपर्यायात्मकं वस्तु एकं च विवक्षितैकसामान्यात्मकं च, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु वाच्यमित्यर्थः । यद्यनेकमेव तदभिधेयं स्यात्तदा तत्र संकेतासंभवादनभिधेयमेव तत् स्यात् । यत्र हि संकेतः कृतस्तदन्यत् यत्र च शब्दे व्यवहारः क्रियते तदन्यत् असंकेतितं । न च असंकेतितमभिधातुं शक्यमतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरेकमेव सामान्यमभिधेयं स्यात् तदा एकस्मिन् विशेषपदस्य प्रवृत्तिर्न स्यात् । कथं पुनरनेकमेकं च पदस्य वाच्यमित्यत्राह–प्रकृत्येति–स्वभावेनेति । अत्र दृष्टान्तमाह–वृक्षा इति प्रत्ययवदिति–एते वृक्षा इति योऽयं प्रत्ययस्तस्येव तद्वत् । अत्र हि प्रत्यये वृक्षत्वसामान्यं धवखदिरादयश्च विशेषाः प्रतिभान्तीति सामान्यं विशेषविषयत्वं यथा तथा पदेऽपीति । यदि वा पदस्येति । कोऽर्थः ? प्रत्ययवत्प्रकृत्या–प्रत्ययवती प्रकृतिः पदमित्यभिधानात् । एतदेव व्यक्तिनिष्ठतया दर्शयति–वृक्षा इति । ननु यद्यनेकमेकं च पदस्य वाच्यं स्यात्तर्ह्यस्तीत्युक्ते नास्तित्वस्यापि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् पदान्तरप्रयोगोऽनर्थकः स्यात् । यदि वा स्वरूपेणेव पररूपेणाप्यस्तित्वं स्यात् तदा नास्तीत्युक्ते वा अस्तित्वस्यापि प्रतिपत्तिः स्यात्, पररूपेणेव स्वरूपेणापि नास्तित्वं स्यादित्याशङ्क्याह–आकाङ्क्षिणः इत्यादि । अस्तित्वादौ प्रतिपादितेऽपि नास्तित्वादौ या आकाङ्क्षा सा विद्यते यस्य पुरुषस्य तस्याकाङ्क्षिणः स्यादिति योऽयं निपातः सोऽपवादो बाधको, वै स्फुटं, क्वापवादो भवति ? अनियमे यथा स्वरूपेण तथा पररूपेणाप्यस्तित्वं, यथा वा पररूपेण तथा स्वरूपेणापि नास्तित्वमिति योऽयमनियमस्तस्मिन् । कथंभूते ? गुणानपेक्षे अस्तीत्युक्ते अस्तित्वं प्रधानभूतं नास्तित्वं गुणभूतं, नास्तीत्युक्ते तु नास्तित्वं प्रधानभूतमस्तित्वं गुणभूतं, तस्मिन् गुणे न विद्यतेऽपेक्षा यस्यासौ गुणानपेक्षस्तस्मिन् ।।४।।

आगे आगम से भी वस्तु की अनेकान्तात्मकता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ–हे भगवन् ! (पदस्य) सुबन्त-तिङन्तरूप शब्द का (वाच्यं) अभिधेय–प्रतिपाद्य विषय (प्रकृत्या) स्वभाव से ही (वृक्षा इति प्रत्ययवत्) वृक्ष इस ज्ञान की तरह (अनेकं) अनेक (च) और (एकं) एक दोनों रूप होता है । (आकाङ्क्षिणः) विरोधी धर्म के प्रतिपादन की इच्छा रखने वाले पुरुष के (स्यात् इति निपातः) कथंचित् अर्थ

का प्रतिपादक स्यात् यह शब्द (गुणानपेक्षे) गौण अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले (अनियमे) सर्वथा एकान्तरूप कथन में (वै) निश्चय से (अपवादः) बाधक है ।

भावार्थ—व्याकरण में सुबन्त और तिङन्त शब्दों को पद कहा है । पद के अर्थ का विचार करते हुए साहित्य में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीन शक्तियों का निरूपण किया गया है । अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द के सांकेतिक अर्थ का ज्ञान होता है और संकेत, 'संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च' इस उल्लेख के अनुसार जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है जाति का अर्थ सामान्य होता है, जैसे कि गोत्व आदि । प्रत्येक गाय का संकेत सम्भव नहीं है, इसलिए सामान्यरूप से जाति में शब्द का संकेत स्वीकृत किया गया है और चूँकि लाल, काली, सफेद आदि विशिष्ट गायें गोत्वरूप सामान्य जाति से अविनाभूत रहती हैं, इसलिए उसी संकेत से उनका भी अर्थ-ग्रहण हो जाता है । इस तरह जब सामान्य जाति का संकेत ग्रहण होता है तब पद का वाच्य—अभिधेय अर्थ एक होता है और जब उस सामान्य से अविनाभूत विशिष्ट—व्यक्तिविशेष का संकेतग्रहण होता है, तब पद का वाच्य अनेक होता है । इस एक और अनेक अर्थ का प्रतिपादन करना पद की प्रकृति है—स्वभाव है । जैनागम में भी पदार्थ को द्रव्य और पर्यायरूप कहा गया है । द्रव्य, सामान्य को विषय करता है और पर्याय, विशेष को । जिस समय पद, द्रव्य को विषय करता है उस समय उसका वाच्य एक होता है और जब पर्याय को विषय करता है, तब उसका वाच्य अनेक होता है । यहाँ समन्तभद्रस्वामी ने 'वृक्षाः' इस पद का उदाहरण दिया है । जब वृक्षत्व सामान्य की ओर दृष्टि रहती है, तब वृक्ष पद का वाच्य एक होता है और जब धव, खदिर, पलाश आदि विशिष्ट वृक्षों की ओर दृष्टि रहती है, तब वृक्ष पद का वाच्य अनेक होता है अथवा वृक्ष यह एक प्रकृति है—शब्द का मूलरूप है । अभिधा शक्ति के द्वारा यह वृक्षत्व सामान्य का वाचक है, परन्तु जब इसके आगे बहुवचन का जस् प्रत्यय लगा देते हैं तो वही वृक्ष शब्द जस् प्रत्यय से युक्त प्रकृति के द्वारा अनेक वृक्षों का वाचक हो जाता है । वृक्ष शब्द का जस् प्रत्यय के साथ 'वृक्षाः' ऐसा रूप होता है जो अनेकत्व विशिष्ट वृक्ष का वाचक होता है ।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि पद का वाच्य एक भी है और अनेक भी है, परन्तु ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी होने पर भी एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं, क्योंकि एकत्व धर्म, द्रव्य अथवा सामान्य से सम्बद्ध है और अनेकत्व धर्म, पर्याय

अथवा विशेष से सम्बद्ध है। द्रव्य, पर्याय को छोड़कर नहीं रह सकता और पर्याय, द्रव्य को छोड़कर नहीं रह सकती इसी तरह सामान्य, विशेष को छोड़कर नहीं रह सकता और विशेष, सामान्य को छोड़कर नहीं रह सकता। दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस दशा में एकान्तरूप से पदार्थ को किसी एक धर्मरूप कहना असंगत होता है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा पदार्थ एक है और पर्याय की अपेक्षा अनेक है। इस सापेक्षवाद का आश्रय लेकर जो वक्ता पदार्थ के किसी एक धर्म का विवेचन करता है, वह उसके विरुद्ध धर्म की भी आकाङ्क्षा रखता है और उसकी इस आकाङ्क्षा को प्रकट करने वाला 'स्यात्' शब्द है। व्याकरण में स्यात् शब्द को निपात-संज्ञक अव्यय कहा गया है। यह ठीक है कि वक्ता, दो विरोधी धर्मों को एक साथ कहते समय एक धर्म को मुख्यता देता है और दूसरे धर्म को गौणता—अप्रधानता। जब वक्ता, गौणधर्म की अपेक्षा न रख सर्वथा मुख्यधर्म का ही प्रतिपादन करने लगता है तब 'स्यात्' यह निपात उसके उस कथन में प्रतिरोध करता है, वह कहता है कि पदार्थ कथञ्चित् एक है और कथञ्चित् अनेक है ॥४॥

एवं पदाभिधेयस्वरूपं निरूप्येदानीं वाक्याभिधेयस्वरूपं निरूपयन्नाह—

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद् द्विषतामपथ्यम्।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥५॥

गुणेत्यादि—गुणोऽविवक्षितो धर्मः प्रधानो विवक्षितो धर्मस्तावर्थावभिधेयौ यस्य तत्तथोक्तं, इदं पदात्मार्थकतया प्रतीयमानं वाक्यं हि स्फुटं, पदानां हि गुणप्रधानार्थ-भावाविरोधे वाक्यानामपि तन्मयानां तद्भावाविरोधो भवत्येव। कस्य तद्वाक्यं? जिनस्य ते तव द्विषतां प्रतिकूलानां सुगतादीनां तद् वाक्यमपथ्यमनिष्टं यत ईदृशं सकलैकान्त-वादिवाक्यातिशायि भवदीयं वाक्यं ततोऽभिवन्द्यमभिवन्दनीयं, किं तत्? पादपद्मं पादावेव पद्मं पादपद्मं, कस्य? तव भवतः साधोः सकलकर्मापायसाधनशीलस्य, केषामभिवन्द्यं? जगदीश्वराणां जगतामीश्वराः इन्द्रचक्रवर्तिधरणेन्द्रादयस्तेषां न केवलं तेषां किन्तु ममापि समन्तभद्रस्वामिनोऽपि ॥५॥

इस प्रकार पद के अभिधेय का स्वरूप कहकर अब वाक्य के अभिधेय का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (जिनस्य) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले (ते) आपका (इदम्) यह जो (गुणप्रधानार्थम्) गौण और प्रधान अर्थ से युक्त (वाक्यं) वाक्य है।

(तद्) वह (हि) निश्चय से (द्विषताम्) द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियों के लिए (अपथ्यं) अनिष्ट है (ततः) इसलिए (साधोः) समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए प्रयत्नशील (तव) आपके (पादपद्मं) चरणकमल (जगदीश्वराणां) तीनों जगत् के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती तथा धरणेन्द्र के और (ममापि) मुझ समन्तभद्र के भी (अभिवन्द्यं) वन्दनीय हैं ।।५।।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने स्यात्पद से चिह्नित जो उपदेश दिया है वह गौण और प्रधान भाव को लिए हुए है । वक्ता की इच्छावश कभी विधिपक्ष मुख्य होता है और कभी निषेधपक्ष गौण होता है । कभी निषेधपक्ष मुख्य होता है और कभी विधि-पक्ष गौण होता है, वक्ता की इच्छा, पात्र की योग्यतानुसार प्रसरित होती है । गौण और प्रधान भाव से युक्त आपका यह उपदेश समस्त जीवों का कल्याण करने वाला है, परन्तु इसके विपरीत सर्वथा एकान्तवाद का निरूपण करने वाले सुगत, सांख्य तथा यौग आदि का उपदेश इससे विपरीत है—सर्वजन हितकारी नहीं हैं । आपके उपदेश की विशेषता से प्रभावित होकर ही, जगत् के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि आपके चरणकमलों की वन्दना करते हैं और मैं भी वन्दना करता हूँ ।।५।।

इति सुविधिजिनस्तवनम्

श्री शीतलजिनस्तवनम्

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥१॥

न शीतला इत्यादि—वंशस्थछन्दः । न शीतलाः न संसारसंतापदुःखापहारकाः, के ते इत्याह—चन्दनेत्यादि—चन्दनं च चन्द्ररश्मयश्च, न गाङ्गमम्भः शीतलं गङ्गाया इदं गाङ्गमम्भः पानीयं, न च नैव, हारयष्टयो मुक्ताफलमालाः शीतलाः । अत्र वैधर्म्योदाहरणमाह—यथेत्यादि—येन संसारसंतापदुःखापनोदप्रकारेण शिशिराः शीतलाः प्रह्लादनकराः केषां? विपश्चितां हेयोपादेयतत्त्वविदां के? अनघवाक्यरश्मयः वाक्यान्येव रश्मयो यथावदर्थ-स्वरूपप्रकाशकत्वादनघा अनवद्यास्ते च ते वाक्यरश्मयश्च, कस्य? मुनेस्ते मुनेः प्रत्यक्ष-विदः ते तव, यदि वा मुने इति सम्बोधनं तस्य अनघ इति विशेषणं हे मुने शीतलभगवन् । अनघा[1] अपापाः[2] कुतस्तेषां ते तथा शीतला इत्याह—शमाम्बुगर्भा इति शम उपशमो रागद्वेषयोरभावः स एवाम्बु जलं तद्गर्भे येषां ते तथोक्ताः ॥१॥

अब भगवान् के वचनों की शीतलता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (मुनेः ते) चराचर को प्रत्यक्ष जानने वाले आप शीतल जिनेन्द्र की (शमाम्बुगर्भाः) शान्तिरूप जल से मिश्रित (अनघवाक्यरश्मयः) निर्दोष वचनरूप किरणें (विपश्चितां) हेयोपादेय तत्त्व को जानने वाले विद्वानों के लिए (यथा) जिस प्रकार (शिशिराः) शीतल हैं—संसार संताप को नष्ट कर शान्ति पहुँचाने वाली हैं [तथा] उस प्रकार (चन्दनचन्द्ररश्मयः) चन्दन और चन्द्रमा की किरणें (न शीतलाः) शीतल नहीं हैं (गाङ्गमम्भः) गङ्गा नदी का जल (न शीतलं) शीतल नहीं है (च) और (हारयष्टयो न शीतलाः) मोतियों की मालाएँ शीतल नहीं हैं ।

भावार्थ—संसार में दुःख का कारण अज्ञान तथा रागद्वेषादि विकारीभाव हैं । हे शीतल जिनेन्द्र! आप मुनि हैं—प्रत्यक्षज्ञानी—सर्वज्ञ हैं, अतः अज्ञानमूलक दुःख आपके नहीं हैं । इसी प्रकार आप वीतराग हैं, अतः रागद्वेषादि विकारीभावमूलक दुःख भी आपके नहीं हैं । सर्वज्ञ होने से आपके वचन भी किरणों के समान यथार्थ वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करने वाले हैं । साथ ही उनमें रागद्वेष को दूर करने का उपदेश मिला रहता है, इसलिए शान्तिरूप जल से युक्त हैं । आपके ऐसे निर्दोष वचनों को सुनकर विवेकीजनों को जो शान्ति प्राप्त होती है—जो आह्लाद उत्पन्न होता है, वह

१. अनष ख-प्रतौ २. अपाप ख-प्रतौ ।

चन्दन और चन्द्रमा की किरणों से, गङ्गा नदी के जल से तथा मोतियों की मालाओं से प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ये सब मात्र शारीरिक सन्ताप को नष्ट करने वाले हैं और आपके वचन मानसिक संताप को नष्ट करने वाले हैं । यहाँ संस्कृत टीकाकार ने 'मुनेः' के स्थान पर 'मुने' इस पाठ की भी सूचना दी है तथा 'अनघ' को वाक्यरश्मि का विशेषण न बनाकर मुने का विशेषण बनाया है, इस पक्ष में 'हे अनघमुने' ! इस पद का; हे निर्दोष शीतलजिनेन्द्र ! यह अर्थ होता है ॥१॥

यस्य भगवतः ईदृशाः वाक्यरश्मयः स किं कृतवानित्याह—

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥२॥

सुखाभिलाषेत्यादि—व्यदिध्यपस्त्वम् विध्यापितवान् भवान्, किं तत् ? मनः कथंभूतं ? सुखेत्यादि इन्द्रादिसुखं ममास्त्विति वाञ्छा सुखाभिलाषः स एवानलः संतापहेतुत्वात् तेन दाहश्चातुर्गतिकं दुःखं संतापश्च तेन मूर्च्छितं मोहितं हेयोपादेयविवेकविमुखीकृतं मनः आत्मस्वरूपं निजमात्मीयं, कैस्तद्व्यदिध्यप इत्याह—ज्ञानेत्यादि—ज्ञानेन निर्वृत्तानि ज्ञानमयानि ज्ञानस्वभावानि ज्ञानमित्युपलक्षणं दर्शनचारित्रयोः तानि च तानि अमृतानि च तान्येवाम्बूनि पानीयानि तैः, कैरिव कः कमित्याह—विषेत्यादि—विषेण दाहः संतापस्तेन मोहितं मूर्च्छितं स्वविग्रहं स्वशरीरं यथा यद्वत् 'व्यदिध्यपत्, कोऽसौ ? भिषक् वैद्यः, मन्त्रगुणैर्मन्त्रस्य गुणा अनुस्मरणोच्चारणमात्रेण विषापहरणे वीर्यविशेषास्तैः ॥२॥

आगे जिन भगवान् के वचन शीतल हैं, उन्होंने क्या किया ? यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (विषदाहमोहितं) विषरूपी दाह से मूर्च्छित (स्वविग्रहं) अपने शरीर को (भिषक्) वैद्य (मन्त्रगुणैः) मन्त्र के गुणों के द्वारा शान्त करता है उसी प्रकार हे भगवन् ! (त्वं) आपने (सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं) वैषयिक सुखों की अभिलाषारूप-अग्नि की दाह से मूर्च्छित (निजं) अपने (मनः) मन को (ज्ञानमयामृताम्बुभिः) ज्ञानामृतरूप-जल के द्वारा (व्यदिध्यपः) शान्त किया था ।

भावार्थ—वैषयिक सुख की अभिलाषा अग्नि की दाह के समान इस जीव को निरन्तर जला रही है, उसकी शान्ति इस ज्ञानरूप अमृत से ही होती है कि सुख आत्मा का गुण है, वह आत्मा में ही प्रकट होता है विषय सामग्री में नहीं, इसलिए विषय सामग्री के पीछे न पड़कर आत्मा में ही उसे प्रकट करना चाहिए । हे भगवन् ! जिस

प्रकार कोई वैद्य, विष की दाह से मूर्च्छित अपने शरीर को मन्त्र के बार-बार स्मरण तथा उच्चारणरूप गुणों के द्वारा शान्त करता है, उसी प्रकार आपने वैषयिक सुख की चाहरूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित अपने मन को ज्ञानामृतरूप जल के द्वारा शान्त किया है ॥२॥

ननु यथा भगवता सन्मार्गानुष्ठानेनात्मनो मन उपशमितसकलसंतापतया परमप्रशान्तिं नीतं तथा सकलप्रजा अपि तां नेष्यन्तीत्याशङ्क्याह—

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य ! नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥३॥

स्वजीवित इत्यादि—स्वस्यात्मनो जीवितं वर्षशतादिपरिमितं तत्र या तृष्णा अभिलाषः कामसुखे च स्त्रीस्वाध्यभिलाषः कामस्तस्मात्सुखं कामसुखं विषयप्रतीतिरित्यर्थः, तत्र च या तृष्णा तया दिवा दिवसे यः श्रमः सेवादिक्लेशस्तेनार्त्ताः पीडिताः खिन्नाः अतो दिवसे तासां सन्मार्गानुष्ठानं नास्ति । रात्रौ तर्हि भविष्यतीत्यत्राह—निशीत्यादि—निशि रात्रौ शेरते स्वपन्ति प्रजाः । कस्य तर्हि निराकुलं सन्मार्गानुष्ठानमित्याह—त्वमित्यादि—त्वमार्य ! शीतलभगवन् ! नक्तंदिवमहोरात्रं अप्रमत्तवान् अप्रमादवान् अजागरेव जागरितवानेव नष्टनिद्र एव । क्व ? आत्मविशुद्धवर्त्मनि आत्मा विशेषेण शुद्धो निखिलकर्मरहितो यस्माद्भवति तदात्मविशुद्धं यदि वा आत्मन्येव सम्बन्धि बुद्ध्यावरणमोहविगमेन शुद्धं तच्च तद्वर्त्म च सम्यग्दर्शनादिलक्षणो मोक्षमार्गस्तस्मिन् ॥३॥

आगे विशुद्धता के मार्ग में आप ही जागृत—सावधान रहे, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रजाः) लौकिकजन (स्वजीविते) अपने जीवन (च) और (कामसुखे) स्त्री आदि की अभिलाषा से उत्पन्न कामसुख की (तृष्णया) तृष्णा से (दिवा) दिन में (श्रमार्त्ताः) सेवा—कृषि आदि के श्रम से दुखी रहते हैं और (निशि) रात्रि में (शेरते) सो जाते हैं परन्तु (हे आर्य) हे पूज्य शीतलजिनेन्द्र ! (त्वम्) आप (नक्तंदिवम्) रात-दिन (अप्रमत्तवान्) प्रमाद रहित हो (आत्मविशुद्धवर्त्मनि) आत्मा को अत्यन्त शुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शनादिरूप मार्ग में (अजागः एव) जागते ही रहे हैं ।

भावार्थ—सांसारिक जीवों से, शीतलनाथ भगवान् की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि हे आर्य ! हे पूज्य ! सांसारिक प्राणी सर्वप्रथम इस बात की इच्छा रखते हैं कि हमारा जीवन सुरक्षित रहे—हम पूर्ण आयु पर्यन्त जीवित रहें, तदनन्तर स्त्री आदि काम-सुख की चाह में निरन्तर निमग्न रहते हैं, इन सबकी पूर्ति के लिए वे

दिन में सेवा, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि का श्रम करते हैं और उस श्रम के कारण दुखी होकर रात्रि में शयन करते हैं अर्थात् दिन और रात के लम्बे समय में उन्हें आत्मविशुद्धि का अवसर ही प्राप्त नहीं होता, परन्तु आप प्रमाद रहित होकर आत्मविशुद्धि के मार्ग में रात-दिन निरन्तर जागृत ही रहे हैं। गृहस्थ अवस्था में यद्यपि सांसारिक कार्य आपने किये हैं तथापि सम्यग्दर्शन की अभूतपूर्व महिमा से आप उन सांसारिक कार्यों में पुष्कर–पलाशवत् निर्लिप्त रहे हैं और मुनि अवस्था में तो निरन्तर जागरूक रहे ही हैं, उसी के फलस्वरूप आप कर्ममलकलङ्क से निर्मुक्त कर आत्मा को विशुद्ध–अत्यन्त निर्मल बना सके हैं ॥३॥

तथा तृष्णाभिभूताः प्राणिनोऽन्यदपि कार्यं कुर्वन्तीत्याह—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥४॥

अपत्येत्यादि–अपत्यानि च पुत्रादीनि वित्तानि च सुवर्णादीनि उत्तरलोकश्च उत्तरः उत्कृष्टो लोकोऽन्यजन्म परलोक इत्यर्थः तेषु तृष्णा आकाङ्क्षा तया तपस्विनो वराकाः प्राणिनो व्रतिनो वा केचन मीमांसक-शैवादयः कर्माग्निहोत्रादिकं कुर्वते भवान् पुनः शीतलतीर्थङ्करदेवः जन्मजराजिहासया जन्म च जरा च तयोर्जिहासा त्यक्तुमिच्छा तया त्रयीं प्रवृत्तिं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामप्रशस्तमनोवाक्कायलक्षणां च अवारुणत् निरुद्धवान् । कथंभूतः ? समधीः सर्वप्राणिषु समा तुल्या उपकारत्वेन प्रवृत्ता धीर्बुद्धिर्यस्य सः ॥४॥

आगे अन्य प्राणियों और आपकी प्रवृत्ति में विशेषता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ–(केचन) कितने ही (तपस्विनः) दयनीय प्राणी अथवा व्रतीजन (अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया) सन्तान, धन तथा उत्तरलोक–परलोक या उत्कृष्टलोक की तृष्णा से (कर्म) अग्निहोम आदि कार्य (कुर्वते) करते हैं (पुनः) किन्तु (भवान्) आपने (समधीः) सम बुद्धि होकर (जन्मजराजिहासया) जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से (त्रयीं प्रवृत्तिं) मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को (अवारुणत्) रोका है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्ररूप भेदरत्नत्रय को दूरकर शुद्ध आत्मस्वरूप की लीनतारूप अभेद रत्नत्रय को अङ्गीकृत किया है।

भावार्थ–संसार में मीमांसक, शैव आदि विभिन्न मतावलम्बी प्राणी अपनी-

अपनी आस्था के अनुसार तपश्चरण करते हुए यज्ञ आदि नाना प्रकार के कार्य करते हैं, परन्तु उन कार्यों को करते समय उनमें किन्हीं की इच्छा रहती है कि हमें सन्तान की प्राप्ति हो, किन्हीं की इच्छा रहती है कि हमें धन की प्राप्ति हो और किन्हीं की इच्छा रहती है कि हमें स्वर्ग आदिक उत्तम परलोक की प्राप्ति हो । इस तरह सांसारिक विषय सामग्री की इच्छा रखते हुए अपने तपश्चरण को व्यर्थ कर देते हैं, परन्तु हे शीतलजिनेन्द्र ! आप समधी हैं–आपका विवेक, मोह–मिथ्यात्व और क्षोभ–रागद्वेष से रहित होने के कारण सम[1] है, इसलिए आप सन्तान, धन तथा स्वर्गादि की आकाङ्क्षा न कर जन्म, जरा और मरण को नष्ट करने की इच्छा रखते हैं–आप सदा यही चाहते रहे हैं कि हम जन्म, जरा और मरण के दुःखों से बचकर शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त हों । इसी भावना से आपने मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोककर योग निरोध किया है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप भेदरत्नत्रय की प्रवृत्ति को छोड़ शुद्ध आत्मस्वरूप की लीनतारूप अभेदरत्नत्रय को धारण किया है ।।४।।

ननु भगवता तुल्या हरिहरादयोऽपि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह—

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे ।।५।।

त्वमित्यादि—त्वं भगवान् उत्तमज्योतिरुत्तममुत्कृष्टं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्य, पुनरपि कथंभूतः ? अजः न जायते इत्यजोऽपुनर्भवः संसारातीतः, निर्वृतः सुखीभूतः, क्व ते प्रसिद्धा हरिहरहिरण्यगर्भादयः, परे भवतोऽन्ये क्व उभयत्र क्व इत्यनेन महदन्तरं सूच्यते । किंविशिष्टास्ते ? बुद्धिलवोद्धवक्षताः बुद्धेः सकलविषयाया लवो लेशस्तेन उद्धवो गर्वो दर्पस्तेन क्षता नाशिताः संसारसरित्क्लेशपातिताः, यत एवं ततस्तस्मात् स्वनिःश्रेयस-भावनापरैः स्वस्यात्मनो निःश्रेयसं निर्वाणं तस्य भावना रत्नत्रयाभ्यासः तस्यां पराः तन्निष्ठास्तैः इत्थंभूतैः बुधप्रवेकैः बुधानां प्रवेकाः श्रेष्ठाः प्रधानाः गणधरदेवादयस्तैः, हे जिन ! कर्मारिविनाशन ! शीतल ! शीतलाभिधान ! ईड्यसे स्तूयसे ।।५।।

आगे हरिहरादिक भी आपके तुल्य हैं ? ऐसी आशङ्का कर उसका समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ–(हे शीतलजिन) हे शीतलजिनेन्द्र ! (उत्तमज्योतिः) केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट ज्योति से सहित (अजः) पुनर्जन्म से रहित और (निर्वृतः) सुखीभूत (त्वम्)

---
१. 'मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो'–प्रवचनसार ।

आप (क्व) कहाँ और (बुद्धिलवोद्धवक्षताः) ज्ञान के लेशमात्र से उत्पन्न गर्व से नष्ट (ते परे) वे हरि-हर-हिरण्यगर्भ आदि अन्य देवता (क्व) कहाँ ? दोनों में महान् अन्तर है (ततः) इसीलिए (स्वनिःश्रेयसभावनापरैः) आत्मकल्याण की भावना में तत्पर (बुधप्रवेकैः) श्रेष्ठ विद्वानों–गणधरादिक श्रेष्ठ ज्ञानियों के द्वारा (ईड्यसे) आप स्तुत हो रहे हैं–आपकी स्तुति की जा रही है ।

भावार्थ–संसार के अन्य देवताओं से शीतलनाथ जिनेन्द्र की विशेषता बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! आपमें और उनमें बड़ा अन्तर है, क्योंकि आप उत्कृष्ट केवलज्ञानरूप ज्योति से युक्त हैं–लोक-अलोक को जानने वाले ज्ञानगुण के चरम विकास से सहित हैं और वे ज्ञान के अल्पतम अंश से उत्पन्न अहंकार से नष्ट हो रहे हैं । आप अजन्मा हैं–आपको आगे जन्म धारण न कर अनन्तकाल के लिए मोक्षस्थान में विराजमान रहना है और वे सजन्मा हैं–उन्हें अनेक जन्म धारण करना हैं तथा आप निर्वृत हैं–सांसारिक सुखों की इच्छा से रहित होने के कारण सुखीभूत हैं–अनन्तसुख से सम्पन्न हैं और वे सांसारिक सुखों की चाह में निमग्न होने से–स्त्री तथा धन आदि के चक्र में–संग्रह में संलग्न रहने से दुखी हैं । इस महान् अन्तर के कारण आत्मकल्याण की भावना रखने वाले श्रेष्ठ ज्ञानीजन सदा आपकी ही स्तुति करते हैं ।।५।।

इति शीतलजिनस्तवनम्

श्री श्रेयोजिनस्तवनम्

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकासे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ।।१।।

श्रेयानित्यादि—उपजातिच्छन्दः । श्रेयानिति संज्ञा, इयमेकादशतीर्थङ्करदेवस्य, कथंभूतोऽसौ ? जिनः सकलकषायेन्द्रियजयाज्जिनः । स किं कृतवान् ? चकासे दीप्तवान्, क्व ? भुवनत्रयेऽस्मिन् अस्मिन्नागमादिप्रमाणप्रसिद्धे भुवनत्रये त्रैलोक्ये, किं कुर्वन् ? शासदनुशासन्नियोजयन् किं तत् ? श्रेयः धर्मं, काः ? इमाः प्रजाः अथवा काः शासत् ? इमाः श्रेयःप्रजाः इमाः प्रतीयमानाः श्रेयःप्रजाः भव्यजनान्, क्व वर्त्मनि मार्गे, किंविशिष्टे ? श्रेयसि निःश्रेयसनिमित्ते अतिशयेन प्रशस्ये मोक्षमार्गे इत्यर्थः । कथंभूतो भवान् ? अजेयवाक्यः अजेयमबाध्यं वाक्यमस्य । अत्र दृष्टान्तमाह—एक इत्यादि—एकोऽसहायो यथा यद्वत्, वीतघनो विशेषेण इता गता नष्टा घना मेघा यस्य, विवस्वानादित्यः, अयमत्र तात्पर्यार्थो यथा विगतमेघपटलावरण आदित्योऽप्रतिहतकरनिकरोऽनुपहतचक्षुष्मतीनां श्रेयः प्रजानामेकोऽभिप्रेतस्थानप्राप्तिनिमित्तं सन्मार्गमुपदर्शयन् राजते जगति तथा भगवान् अप्रतिहतवाक्यविशेषो मोक्षमार्गमिति ।।१।।

आगे भगवान् के 'श्रेयस्' इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अजेयवाक्यः) अबाधित वचनों से युक्त (श्रेयान् जिनः) हे श्रेयोजिन! (इमाः प्रजाः) इन संसारीजनों को (श्रेयसि वर्त्मनि) कल्याणकारी मोक्षमार्ग में (श्रेयः शासत्) हित का उपदेश देते हुए (भवान्) आप (अस्मिन् भुवनत्रये) इन तीनों लोकों में (एकः) अकेले ही (वीतघनः) मेघों के आवरण से रहित (विवस्वान् यथा) सूर्य के समान (चकासे) प्रकाशमान हुए हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार अप्रतिहत किरणों का धारक सूर्य, मेघों के आवरण से रहित होकर समस्त जनता को उत्तम मार्ग में लगाता हुआ तीनों लोकों में अकेला सुशोभित होता है, उसमें कोई उपमा नहीं रखता । उसी प्रकार प्रतिवादियों के द्वारा अखण्डनीय वचनों के धारक श्रेयोजिनेन्द्र घातिचतुष्करूप मेघ के आवरण से रहित होकर समस्त जनता को कल्याणकारी मोक्षमार्ग में लगाते हुए अकेले ही सुशोभित हुए हैं—उनकी कोई उपमा प्राप्त नहीं कर सका है । इस श्लोक में संस्कृत टीकाकार ने 'श्रेयः प्रजाः' इन पदों की दो प्रकार से व्याख्या की है । पहले प्रकार में दोनों को अलग-अलग पद मानकर 'प्रजाः श्रेयः शासद्'—प्रजा को कल्याण का उपदेश देते हुए

यह अर्थ किया है और दूसरे प्रकार में 'श्रेयः प्रजाः' को एक पद मानकर श्रेयस् को प्रजा का विशेषण बना दिया है तथा श्रेष्ठ प्रजा अर्थात् भव्यजनों को (श्रेयसि वर्त्मनि शासद्) श्रेष्ठ मोक्षमार्ग में लगाते हुए, यह अर्थ किया है ॥१॥

कथमसौ तां शासदित्याह—

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥२॥

विधिरित्यादि—विधिः स्वरूपादिचतुष्टयेनास्तित्वं कथंभूतो ? विषक्तप्रतिषेधरूपः विषक्तं कथंचित्तादात्म्येन सम्बद्धं प्रतिषेधस्य पररूपेण नास्तित्वस्य रूपं यत्र स तथाभूतः, प्रमाणं प्रमाणविषयत्वात् 'सकलादेशः प्रमाणाधीन' इत्यभिधानात् । इदानीं नयस्वरूपं प्रदर्शयन्नत्रेत्याद्याह—अत्रानयोर्विधिप्रतिषेधयोर्मध्येऽन्यतरद् विधिरूपं प्रतिषेधरूपं वा प्रधानं वक्तुरभिप्रायवशात् न पुनः स्वरूपतः सर्वदा तथाभावप्रसङ्गात्, गुणोऽप्रधानभूतोऽपरोऽन्यः । स कथंभूतो मुख्यनियामहेतुः मुख्यस्य प्रधानस्य विधेः प्रतिषेधस्य वा नियामः स्वरूपादि-चतुष्टयेनैव विधिः पररूपादिचतुष्टयेनैव च प्रतिषेध इति योऽयं नियामस्तस्य हेतुर्निमित्तं नयो नयविषयत्वात् 'विकलादेशो नयाधीन' इति वचनात् । कथंभूतोऽसावित्याह—स दृष्टान्तसमर्थन इति, स नयो नयविषयः स्वरूपचतुष्टयादिना अस्तित्वादिः दृष्टान्तसमर्थनो दृष्टान्ते घटादौ समर्थनं परं प्रति स्वरूपनिरूपणं यस्य दृष्टान्तस्य वा समर्थनमसाधारण-स्वरूपनिरूपणं येनासौ दृष्टान्तसमर्थनः । कस्य मते एवंविधो नय इत्याह ते तव भगवतो मते ॥२॥

आगे विधि और निषेध की मुख्यता तथा गौणता का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे श्रेयोजिन ! (ते) आपके मत में (विषक्तप्रतिषेधरूपः) कथञ्चित् पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्वरूप भी तादात्म्यसम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा (विधिः) स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व (प्रमाणं) प्रमाण का विषय है । (अत्र) इन विधि और प्रतिषेध में (अन्यतरत्) एक (प्रधानम्) प्रधान है और (अपरः) दूसरा (गुणः) अप्रधान है । यहाँ (मुख्यनियामहेतुः) मुख्य के नियम का जो हेतु है (नयः) वह नय है तथा (सः) वह नय (दृष्टान्तसमर्थनः) दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है ।

भावार्थ—जैनागम[1] में प्रमाण और नय के द्वारा पदार्थ का अधिगम बतलाया गया है । जो पदार्थ के सकल अंश—विधिपक्ष और निषेधपक्ष दोनों को ग्रहण करता है ,

१. प्रमाणनयैरधिगमः —तत्त्वार्थसूत्र ।

उसे प्रमाण कहते हैं। जैसा कि कहा गया है 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः' और जो विधिपक्ष और निषेधपक्ष इन दो में से किसी एक को वक्ता के अभिप्राय से मुख्य बनाकर निरूपित करता है, वह नय कहलाता है। जैसा कि कहा गया है 'विकलादेशो नयाधीनः'। इस श्लोक में प्रमाण और नय दोनों का विवेचन किया गया है। पदार्थ के विधि और निषेध ये दो मुख्य धर्म हैं। स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व का निरूपण करना विधि है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व का वर्णन करना निषेध है। विधि और निषेध दोनों ही धर्म पदार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, इसलिए इन दोनों धर्मों का भी परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है। फलस्वरूप विधि, निषेध से सम्बद्ध है और निषेध, विधि से सम्बद्ध है, इस तरह दोनों को युगपत् ग्रहण करना प्रमाण का विषय है, परन्तु विधि और निषेध इन दोनों धर्मों में परस्पर बहुत अन्तर है, अतः वक्ता दोनों को एक साथ नहीं कह सकता। वह कथन करते समय एक को मुख्य बनाता है और दूसरे को गौण, वक्ता की इस पद्धति को नय कहते हैं। यह नय, वक्ता के अभिप्रायानुसार निरूपित मुख्य अर्थ का नियामक होता है अर्थात् कभी विधिपक्ष को मुख्य और निषेधपक्ष को गौण और कभी निषेधपक्ष को मुख्य और विधिपक्ष को गौण बनाता है। यह दृष्टान्त पदार्थ के असाधारण धर्म का समर्थन करने वाला होता है ॥२॥

कः पुनर्मुख्यः को वा गौण इत्याह—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधिः कार्यकरं हि वस्तु ॥३॥

विवक्षित इत्यादि—वक्तुमिष्टो विवक्षितो मुख्य इत्येवमिष्यते, अन्योऽविवक्षितो वक्तुमनभिप्रेतो गुणोऽप्रधानः अविवक्षाविषयतया नञ्युक्तत्वात्। स तर्हि निःस्वभावो भविष्यतीत्यत्राह—नेत्यादि—न निरात्मको न निःस्वभावो नञ्युक्तपदार्थस्ते तव मतेऽनुदरा कन्येत्यादिवत्। ननु मुख्यगुणप्रकारेण किं क्वाप्यनेकधर्मसद्भावो दृष्टो येन नयविषयेषु तथा कल्प्यत इत्याह—तथेत्यादि—तथा तेन मुख्यगुणप्रकारेण एकमपि वस्तु अरिमित्रानुभयादिशक्तिः अरिश्च मित्रं च अनुभयं च तानि आदिर्यस्याः सा शक्तिर्यस्य तत् अरिमित्रानुभयादिशक्तिः। तथाह्येकोऽपि देवदत्तः कस्यचिदरिरनुपकारित्वात्, कस्यचित्तु मित्रमुपकारित्वात्, अपरस्योभयमुपकारानुपकारकारित्वात् अन्यस्यानुभयं तं प्रत्युदासीनत्वादिति। किं पुनर्मुख्यगुणरूपधर्मद्वयकल्पनया प्रयोजनमित्यत्राह—द्वयेत्यादि—भावाभावरूपं

द्रव्यपर्यायरूपं वा द्वयमवधिर्मर्यादा सर्वार्थानां तस्मात्तदाश्रित्य कार्यकरं हि स्फुटं वस्तु घटादि ॥३॥

अब मुख्य कौन है तथा गौण कौन है? यह बताते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (ते) आपके मत में (विवक्षितः) विवक्षित पदार्थ (मुख्य इतीष्यते) मुख्य कहलाता है और (अन्यः) दूसरा—अविवक्षित पदार्थ (गुणः) गौण कहलाता है। (अविवक्षः) जो पदार्थ अविवक्षित है वह (निरात्मकः न) अभावरूप नहीं है (तथा) मुख्य और गौण की इस विधि से (वस्तु) पदार्थ (अरिमित्रानुभयादि-शक्तिः) शत्रु, मित्र और अनुभय आदि शक्तियों से युक्त होता है (हि) निश्चय से समस्त पदार्थों की (द्वयावधिः) भाव-अभाव अथवा द्रव्य और पर्यायरूप मर्यादा है और उसी मर्यादा का आश्रय कर वस्तु (कार्यकरं) कार्यकारी होती है ॥३॥

भावार्थ—वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। विवक्षा से जो युक्त होता है वह विवक्षित कहलाता है। वक्ता जिस पदार्थ को विवक्षित करता है, वह मुख्य कहा जाता है और इससे भिन्न जो दूसरा पदार्थ है, वह गौण या अप्रधान कहलाता है। पदार्थ की मुख्यता और गौणता निश्चित नहीं है, वह वक्ता की इच्छानुसार परिवर्तित होती रहती है। अविवक्षित पदार्थ सर्वथा अभावरूप नहीं होता, उसकी सत्ता अवश्य रहती है, परन्तु तत्काल में आवश्यक न होने से वक्ता उसे गौण बनाकर दृष्टि से ओझल कर देता है। मुख्य और गौण की उक्त व्याख्या से एक ही वस्तु शत्रु, मित्र तथा अनुभयादि नाना शक्तियों से युक्त देखी जाती है। जैसे—देवदत्त अनुपकारी होने से यज्ञदत्त का शत्रु है, उपकारी होने से चैत्रदत्त का मित्र है, उपकारी तथा अनुपकारी होने से जिनदत्त का कालक्रम से मित्र और शत्रु दोनों है तथा विष्णुदत्त के प्रति उदासीन होने से शत्रु तथा मित्र कुछ भी नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ के विधि-निषेध, भाव-अभाव अथवा द्रव्य-पर्याय ये दो रूप पाये जाते हैं तथा इन्हीं का आश्रय प्राप्त कर घट-पटादि वस्तु कार्यकारी होती है ॥३॥

ननु दृष्टान्तसमर्थन इत्ययुक्तं दृष्टान्तेन प्रयोजनाभावादित्याशङ्क्याह—

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामि दृष्टं त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥४॥

दृष्टान्तसिद्धावित्यादि—दृष्टान्तो निदर्शनमुदाहरणं तस्य सिद्धौ निर्णीतौ साध्यं साधयितुमिष्टं प्रसिद्ध्येत्। कयोः? उभयोर्वादिप्रतिवादिनोः, कस्मिन्? विवादे विप्रति-

पत्तौ, तर्ह्येकान्त एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यत्राह—नेत्यादि—न तु नैव तादृक् तथाविधं दृष्टान्तभूतमस्ति विद्यते वस्तु यदुदाहरणं भूत्वा सर्वथैकान्तनियामि सर्वथैकान्त एवास्तीति नियामकं दृष्टं प्रतिपन्नं । कुतो न दृष्टमित्याह—त्वदीयेत्यादि—त्वदीया चासौ दृष्टिश्च त्वदीयदृष्टिरनेकान्तात्मकं मतं सा आविर्भवति प्रभवति, क्व ? अशेषे साध्ये, हेतौ दृष्टान्ते च अनेकान्तात्मकत्वेनाशेषं वस्तु व्याप्तमित्यर्थः ॥४॥

आगे दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(उभयोः) वादी और प्रतिवादी के (विवादे) विवाद में (दृष्टान्त-सिद्धौ) उदाहरण की सिद्धि होने पर (साध्यं) साध्य (प्रसिद्धचेत्) अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है (तु) परन्तु (तादृक् न दृष्टं अस्ति) वैसी दृष्टान्तभूत कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है (यत्) जो (सर्वथैकान्तनियामि) सर्वथा एकान्तवाद का नियमन करने वाली हो क्योंकि (त्वदीयदृष्टिः) आपका अनेकान्तमत (अशेषे) समस्त—साध्य, साधन और दृष्टान्त में (विभवति) अपना प्रभाव डाले हुए है ।

भावार्थ—जब वादी और प्रतिवादी के मध्य किसी साध्य को लेकर विवाद खड़ा होता है, तब उसका निर्णय दृष्टान्त की सिद्धि हो जाने पर सरलता से हो जाता है । यहाँ भी एकान्तदृष्टि और अनेकान्तदृष्टि को लेकर वादी तथा प्रतिवादी के मध्य विवाद खड़ा हुआ है, इसका निर्णय दृष्टान्त की सिद्धि होने पर सरलता से हो सकता है, परन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त दृष्टिगोचर नहीं होता जो सर्वथा एकान्तदृष्टि का समर्थन करने वाला हो, जबकि इसके बावजूद अनेकान्तदृष्टि का समर्थन करने वाले अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं । क्या साध्य में, क्या साधन में, क्या दृष्टान्त में सब जगह, हे भगवन् ! आपकी अनेकान्तदृष्टि ही अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है । अतः जिसके दृष्टान्त विद्यमान हैं तथा जिसका प्रभुत्व सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अनेकान्तदृष्टि ही साधीयसी—श्रेष्ठतर है ॥४॥

नन्वेकान्तप्रतिषेधे सिद्धे अनेकान्तात्मकत्वेनाशेषस्य वस्तुनो व्याप्तिसिद्धिः तत्प्रति-षेधश्च कैरित्याह—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५॥

एकान्तदृष्टिरित्यादि—सर्वं सदेवासदेव नित्यमेवानित्यमेवेत्याद्यभिनिवेश एकान्त-दृष्टिः तस्याः प्रतिषेधस्तस्य सिद्धिः, कैः ? न्यायेषुभिः न्यायाः प्रमाणानि त एव इषवो

बाणास्तैः प्रवचनादिप्रमाणबाणैरेकान्ताभिनिवेशनिवारणसिद्धिरित्यर्थः । अनेन परार्थसम्पत्तिर्भगवतः सूचिता । आत्मसम्पत्तिश्च स्वार्थसम्पत्तौ सत्यां स्यादिति तत्सूचनार्थं मोहेत्याद्याह—मोहोऽज्ञानं स एव रिपुः शत्रुः अथवा मोहो मोहनीयं कर्म रिपुर्ज्ञानावरणादिकर्मत्रयं मोहेन समन्वितो रिपुर्मोहरिपुस्तं निरस्य निराकृत्येत्ययं स्वार्थसम्पत्तेरुपायः, असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राडिति स्वार्थसंपत्तिः, असि स्म भूतवान्, केवलमसहायं क्षायिकं ज्ञानं, केवलमेव कैवल्यं तस्मिन् सति विभूतिः समवसरणादिलक्ष्मीस्तस्याः सम्राट् चक्रवर्ती यत एवं ततः कारणात् त्वमर्हन् असि भवसि मे मम स्तवार्हः स्तुतियोग्यः ॥५॥

अब एकान्तका निषेध और अनेकान्तकी सिद्धि किससे होती है ? यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे श्रेयोजिनेन्द्र ! (एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः) एकान्तदृष्टि के निषेध की सिद्धि (न्यायेषुभिः) न्यायरूप बाणों के द्वारा होती है अर्थात् आपने न्यायरूप बाणों के द्वारा सर्वथा एकान्तवादियों का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है और (यतः) जिस कारण आप (मोहरिपुं) अज्ञानरूपी शत्रु अथवा मोहनीयकर्म से युक्त ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों को (निरस्य) नष्टकर (कैवल्यविभूतिसम्राट्) केवलज्ञानरूप विभूति अथवा समवसरणादिरूप लक्ष्मी के सम्राट् (असि स्म) हुए हैं (ततः) इस कारण (अर्हन्) हे अरिहन्त (त्वम्) आप (मे) मेरे (स्तवार्हः) स्तवन के योग्य (असि) हैं अर्थात् मैं आपकी स्तुति करता हूँ ।

भावार्थ—समस्त पदार्थ सत्-रूप ही हैं, असत्-रूप ही हैं, नित्यरूप ही हैं अथवा अनित्यरूप ही हैं, इत्यादि प्रकार का अभिप्राय रखना एकान्तदृष्टि है । इस एकान्तदृष्टि का निराकरण न्याय अर्थात् प्रमाणरूप बाणों के द्वारा ही हो सकता है, सो आपने उत्तमोत्तम प्रमाणों से उस एकान्तवाद का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है । इस तरह आप परार्थसम्पत्ति से युक्त हैं तथा आप शुक्लध्यान के द्वारा मोहरिपु—अज्ञानरूपी शत्रु को अथवा मोहकर्म से युक्त ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्टकर केवलज्ञानरूप विभूति के चक्रवर्ती हुए हैं और उसके फलस्वरूप समवसरण अथवा अष्ट-प्रातिहार्यरूप लक्ष्मी के स्वामी हुए हैं, इस तरह आप स्वार्थसम्पत्ति से युक्त हैं । हे अर्हन् ! हे पूज्य जिनेन्द्र ! जिस कारण आप पूर्वोक्त प्रकार से परार्थसम्पत्ति और स्वार्थसम्पत्ति से युक्त हैं, इस कारण आप मेरी स्तुति के योग्य हैं ।

इति श्रेयोजिनस्तवनम्

श्री वासुपूज्यजिनस्तवनम्

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र ! दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥१॥

शिवासु पूज्य इत्यादि—उपजातिच्छन्दः। शिवासु शोभनासु अभ्युदयक्रियासु स्वर्गावतरणादिकल्याणेषु पूज्यः स्तुत्यः त्वं भगवान्, किं नामेत्याह—वासुपूज्य इति—वसुपूज्यस्यापत्यं वासुपूज्यो नामेदं द्वादशतीर्थङ्करदेवस्य, पुनरपि कथंभूतस्त्वं ? त्रिदशेन्द्र-पूज्यः उपलक्षणमेतत्तेन नराधिपादिपूज्य इति लभ्यते । य इत्थंभूतस्त्वं भगवान् स मयापि समन्तभद्रस्वामिनापि पूज्यः स्तुत्यः, कथंभूतेन ? अल्पधिया मन्दधिया, हे मुनीन्द्र गणधरदेवादिमुनिस्वामिन् ! यदि त्वमल्पधीः किमर्थं भगवन्तं पूजयसीत्याह—दीपेत्यादि—दीपस्य अर्चिः शिखा दीपार्चिः तेन स्वल्पतेजसा, किं वितर्के किं न तपन आदित्य-स्तेजोनिधिः पूज्यो अपि तु पूज्य एव ॥१॥

मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा भगवान् वासुपूज्य की पूजा-विधि का विधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र !) हे गणधरादि-मुनियों के स्वामी ! (शिवासु) कल्याणकारिणी (अभ्युदयक्रियासु) स्वर्गावतरण आदि कल्याणकों की क्रियाओं में (पूज्यः) पूज्य (वासुपूज्यः) वासुपूज्य नाम को धारण करने वाले (त्वम्) आप चूँकि (त्रिदशेन्द्रपूज्यः) इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूज्य हैं अतः (अल्पधिया) अल्पबुद्धि के धारक (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी (पूज्यः) पूज्य हैं (किं) क्या (दीपार्चिषा) दीपशिखा के द्वारा (तपनः) सूर्य (न पूज्यः) पूजनीय नहीं होता ?

भावार्थ—बारहवें तीर्थङ्कर, राजा वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण 'वासुपूज्य' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले थे । गर्भावतरण आदि की प्रशस्त क्रियाओं में इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लोकोत्तर पुरुष उनकी पूजा करते थे, उनकी इस महिमा से प्रभावित होकर समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे मुनिराज ! गर्भादि-कल्याणकों की प्रशस्त क्रियाओं में आप पूज्य हैं साधारण मनुष्यों के द्वारा नहीं, किन्तु अवधिज्ञान के धारक इन्द्र तथा विशिष्ट ज्ञानी, चक्रवर्ती आदि के द्वारा, परन्तु मैं अल्पबुद्धि का धारक हूँ मेरी इतनी क्षमता कहाँ कि इन्द्र आदि ज्ञानी जीवों के द्वारा पूज्य आपकी पूजा कर सकूँ ? फिर भी एक दृष्टान्त मेरे सामने है, सूर्य विशाल प्रभा का पुञ्ज है—संसार का अन्धकार नष्ट करने वाला है फिर भी भक्त लोग दीपशिखा के द्वारा उसकी पूजा करते हैं, वे यह विचार नहीं करते कि सूर्य के प्रबल प्रकाश के समक्ष टिमटिमाती

दीपशिखा कितना-सा प्रकाश कर सकेगी ? इसी तरह मैं जानता हूँ कि आप महान् हैं, मैं अपनी अल्पबुद्धि से आपकी क्या स्तुति कर सकता हूँ—आपके गुणों पर क्या प्रकाश डाल सकता हूँ ? फिर भी आपकी पूजा के लिए उद्यत हो रहा हूँ, क्या आप मेरी पूजा को स्वीकृत न करेंगे ? ॥१॥

भवदीयया पूजया भगवतः किं प्रयोजनमित्याह—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥२॥

नेत्यादि—नार्थो न प्रयोजनं, कया ? पूजया स्तुतिगन्धमाल्याद्यर्चनलक्षणया, क्व ? त्वयि, कथंभूते ? वीतरागे वीतरागत्वात्पूजया तव न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः । निन्दा तत्र कर्तव्येत्यत्राह—न निन्दयेत्यादि—निन्दया असद्भूतदोषोद्भावनाक्रोशादिलक्षणया, त्वयि नाथ ! स्वामिन् ! न अर्थ इति सम्बन्धः, कथंभूते त्वयि ? विवान्तवैरे विवान्तं विनिर्गतं वैरं यस्मादसौ विवान्तवैरः परित्यक्तकोप इत्यर्थः तस्मिन् । यदि भगवतः पूजया न किञ्चित् प्रयोजनं तर्हि किमर्थं भवांस्तत्र पूजां करोतीत्याह—तथापीत्यादि—यद्यपि भगवतः पूजया न किञ्चित् प्रयोजनं तथापि ते पुण्याः प्रशस्ताः पवित्रा वा ये गुणा अनन्तज्ञानादयस्तेषां स्मृतिः निर्मलमनसा स्वरूपानुचिन्तनं स्तवनं च नोऽस्माकं चित्तं चिद्रूपमात्मस्वरूपं पुनातु निर्मलीकरोतु, केभ्यो ? दुरिताञ्जनेभ्यः दुरितानि पापान्येवाञ्जनानि जीवस्य दुःखकालुष्य-हेतुत्वात् तेभ्यः ॥२॥

आपकी पूजा से आपको क्या प्रयोजन है ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! यद्यपि (वीतरागे) राग से रहित (त्वयि) आप में (पूजया) पूजा से (अर्थः न) प्रयोजन नहीं है और (विवान्तवैरे) वैर से रहित आपमें (निन्दया) निन्दा से (अर्थः न) मतलब नहीं है (तथापि) तो भी (ते) आपके (पुण्य-गुणस्मृतिः) प्रशस्त गुणों का स्मरण (दुरिताञ्जनेभ्यः) पापरूपी अञ्जन से (नः) हमारे (चित्तं) मन को (पुनातु) पवित्र करे—दूर रखे ।

भावार्थ—रागी मनुष्य अपनी स्तुति को सुनकर प्रसन्न होता है और द्वेषी मनुष्य अपनी निन्दा को सुनकर अप्रसन्न होता है, परन्तु भगवान् जिनेन्द्र वीतराग और वीतद्वेष हैं, इसलिए उन्हें यद्यपि न स्तुति से प्रयोजन है और न निन्दा से तथापि समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को

पापरूप कालिमा से बचावे–दूर रखे। इस जीव का अधिकांश काल पाप तथा उसकी सामग्री जुटाने की चिन्तना में ही व्यतीत होता है और उससे पापास्रव होता रहता है, भगवान् की स्तुति या पूजा करने से यद्यपि भगवान् को कुछ प्रसन्नता नहीं होती तथापि उतने समय तक स्तुति करने वाले का चित्त पाप के चिन्तन से बचकर भगवद्गुण अथवा उनके माध्यम से आत्मस्वरूप के चिन्तन में संलग्न रहता है, अतः पापास्रव से उसकी रक्षा होती रहती है ॥२॥

ननु दधिदुग्धगन्धमाल्यादिना भगवतः पूजाविधाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः सावद्यसद्भावादित्याशङ्क्याह—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥३॥

पूज्यमित्यादि—पूज्यमाराध्यं जिनमर्हन्तं त्वा त्वां वासुपूज्यं अर्चयतः पूजयतः जनस्य भव्यप्राणिगणस्य सावद्यलेशः अवद्यं पापं सह अवद्येन वर्तते इति सावद्यं कर्म तस्य लेशो लवः पूजां कुर्वतो यः संपन्नः स दोषाय पुण्योपार्जने प्रवृत्तदोषः पापोपार्जनः तस्मै न अलं न समर्थो भवति कस्मिन्? बहुपुण्यराशौ प्रचुरपुण्यपुञ्जे तेनोपहत-शक्तित्वात्तस्य। केवेत्याह—कणिकेत्यादि—कणिका मात्रालवो विषस्य न दूषिका न मारणात्मकविषधर्मसंपादिका। क्व? शीतशिवाम्बुराशौ शीतं च शीतलं च शिवं च स्पर्शनेन्द्रियप्रह्लादकरं तच्च तदम्बु च जलं तस्य राशिः संघातो यत्रासौ शीत-शिवाम्बुराशिः समुद्रस्तस्मिन् ॥३॥

पूजा में होनेवाली अल्पहिंसा दोष का कारण नहीं है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (पूज्यं) इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा (जिनं) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले (त्वा) आपकी (अर्चयतः) पूजा करने वाले (जनस्य) मनुष्य के जो (सावद्यलेशः) सरागपरिणति अथवा आरम्भादिजनित थोड़ा सा पाप का लेश होता है वह (बहुपुण्यराशौ) बहुत भारी पुण्य की राशि में (दोषाय) दोष के लिये (अलं न) समर्थ नहीं है क्योंकि (विषस्य) विष की (कणिका) अल्पमात्रा (शीत-शिवाम्बुराशौ) शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में (दूषिका न) दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है।

भावार्थ—हे नाथ! पूजा की सामग्री जुटाते समय आरम्भादि के कारण पूजा करने वाले मनुष्य के जो अल्पतम द्रव्यहिंसा होती है तथा सराग परिणति के कारण

अल्पतम भावहिंसा होती है, उससे पूजा करने वाले का कुछ अहित नहीं होता है, क्योंकि वीतराग जिनेन्द्र की पूजा करने से जो विशाल पुण्य उत्पन्न होता है, उसके समक्ष वह अल्पतम हिंसा नगण्य होती है । ठीक उस तरह, जिस तरह कि शीतल और आनन्ददायी जल के समुद्र में विष की एक कणिका ॥३॥

ननु मुनीनां पुष्पादिपरिग्रहासंभवात् कथं भगवति पूजा स्यादित्याशङ्क्याह—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते-र्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥४॥

यदित्यादि—यद्वस्तु पुष्पादिकं बहिर्भवं बाह्यं कथंभूतं निमित्तं कारणं, कस्याः? गुणदोषसूतेः गुणः पुण्यं दोषः पापं तयोः सूतिः प्रसूतिरुत्पत्तिस्तस्याः, तत्किमित्याह—तदङ्गभूतं तद्वस्तु बाह्यं पुष्पादिकमङ्गभूतं सहकारिकारणभूतं, कस्य? अभ्यन्तरमूलहेतोः अभ्यन्तरश्चासौ मूलहेतुश्च प्रधानहेतुः पुण्यपापोत्पत्तावुपादानहेतुरित्यर्थः, कथंभूतस्य अस्य? अध्यात्मवृत्तस्य आत्मनि अधि वृत्तं वर्तनं शुभाशुभपरिणामलक्षणं यस्य, अनेन भक्तिलक्षण-शुभपरिणामहीनस्य पूजादिकं न पुण्यकारणमित्युक्तं भवति ततः अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते अभ्यन्तरं शुभाशुभजीवपरिणामलक्षणं कारणं केवलं—बाह्यवस्तुनिरपेक्षं, न केवलं तत्सापेक्षमित्यपिशब्दार्थः, अलं समर्थं गुणदोषसूतेस्ते तव मते ॥४॥

पुष्पादि बाह्य सामग्री के बिना भी मुनि के पूजा संभव है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यद् वस्तु) जो पुष्पादिक पदार्थ (गुणदोषसूतेः) पुण्य और पाप की उत्पत्ति के (बाह्यं) बहिरङ्ग (निमित्तं) कारण हैं (तद्) वह (अध्यात्मवृत्तस्य) आत्मा में प्रवर्तने वाले (अभ्यन्तरमूलहेतोः) अन्तरङ्ग—उपादानरूप मूलकारण का (अङ्गभूतं) सहकारी कारण है । हे भगवन्! (ते) आपके मत में (अभ्यन्तरं) अन्तरङ्ग कारण (केवलमपि) बाह्य वस्तु से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही प्रकार का (अलं) गुण-दोष की उत्पत्ति में समर्थ है ।

भावार्थ—कार्य की उत्पत्ति में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दो कारण आवश्यक माने गये हैं । अन्तरङ्ग कारण को उपादान कारण कहते हैं और बहिरङ्ग कारण को सहकारी कारण । अन्तरङ्ग कारण, कार्य की उत्पत्ति में मूलकारण—प्रधान कारण है और बहिरङ्ग कारण उसका अङ्गभूत है—अप्रधान कारण है । यहाँ प्रकरण यह है कि पुष्पादिक बाह्यसामग्री के अभाव में मुनि, जिनेन्द्रपूजा किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान समन्तभद्रस्वामी ने निम्न प्रकार दिया है कि पुष्पादिक पदार्थ गुण-

दोष की उत्पत्ति में बाह्य निमित्त हैं और शुभाशुभ परिणाम अन्तरङ्ग निमित्त हैं। अन्तरङ्ग निमित्त आत्मा में प्रवर्तने के कारण मूल निमित्त है–प्रधान हेतु है और पुष्पादिक बाह्य सहायक होने से अङ्गभूत हैं–अप्रधानभूत हैं। मूलनिमित्त के अभाव में—भक्तिरूप अन्तरङ्ग कारण के न होने पर पुष्पादिक बाह्य पदार्थ पुण्य के कारण हो नहीं सकते, परन्तु कदाचित् पात्र की योग्यतानुसार पुष्पादिक बाह्य पदार्थ के अभाव में भक्तिरूप अन्तरङ्ग कारण अकेला भी पुण्य का कारण हो सकता है। अन्तरङ्ग कारण, बहिरङ्ग कारण से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही अवस्थाओं में कार्यकर होता है और बहिरङ्ग कारण, अन्तरङ्ग कारण से सापेक्ष ही कार्यकर होता है। यहाँ मूल में 'केवलं' के साथ 'अपि' शब्द दिया हुआ है और संस्कृत टीकाकार ने उसकी व्याख्या की है कि 'अभ्यन्तरं शुभाशुभजीवपरिणामलक्षणं कारणं केवलं–बाह्यवस्तुनिरपेक्षं, न केवलं तत्सापेक्षमित्यपि-शब्दार्थः' अर्थात् जीव के शुभाशुभ परिणामरूप अन्तरङ्ग कारण केवल बाह्य वस्तु सापेक्ष ही नहीं, किन्तु बाह्य वस्तु से निरपेक्ष होकर भी गुण-दोष की उत्पत्ति में समर्थ हैं। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्रस्वामी को न यह इष्ट है कि केवल उपादान कारण से ही कार्य होता है और न यह ही इष्ट है कि किसी भी दशा में बाह्य कारण के बिना कार्य होता ही नहीं है। वे आमतौर पर कार्य की उत्पत्ति के लिए बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों कारणों की समग्रता–पूर्णता को आवश्यक समझते हैं और किसी खास स्थिति में किसी व्यक्ति विशेष के किसी खास कार्य की उत्पत्ति किसी बाह्य कारण के बिना भी हो सकती है यह भी स्वीकृत करते हैं।

एतच्च सर्वं जैनमत एव घटते नान्यत्रेति दर्शयन्नाह—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥५॥

बाह्य इत्यादि–बाह्यश्च इतरश्चाभ्यन्तरः तौ च तौ उपाधी च हेतू उपादानसहकारिकारणे तयोः समग्रता संपूर्णता इयं प्रतीयमाना, क्व? कार्येषु घटादिषु ते तव मते कथंभूता सा? द्रव्यगतः स्वभावः जीवादिपदार्थगतमर्थक्रियाकारिस्वरूपं, अन्यथा एतस्मात् तत्समग्रतातत्स्वभावताप्रकारादन्ये न तदसमग्रतातदस्वभावताप्रकारेण नैव मोक्षविधिश्च च-शब्दः अपिशब्दार्थः, न केवलं घटादिविधानं नैवान्येन प्रकारेण घटते किन्तु मोक्षविधिरपि पुंसां मुक्त्यर्थिनां यत एवं तेन कारणेनाभिवन्द्यस्त्वं बुधानां गणधरदेवादिविपश्चिताम्। कथंभूतः? ऋषिः परमर्द्धिसंपन्नः ॥५॥

बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (कार्येषु) घट आदि कार्यों में (इयं) यह जो (बाह्येतरोपाधिसमग्रता) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की पूर्णता है वह (ते) आपके मत में (द्रव्यगतः) जीवादि द्रव्यगत (स्वभावः) स्वभाव है (अन्यथा) अन्य प्रकार से घटादि की विधि ही नहीं किन्तु (पुंसां) मोक्षाभिलाषी पुरुषों के (मोक्षविधिश्च) मोक्ष की विधि भी (नैव) घटित नहीं होती है (तेन) इसीलिए (ऋषिः) परम ऋषियों से युक्त (त्वम्) आप (बुधानां) गणधरादि बुधजनों के (अभिवन्द्यः) वन्दनीय हैं ॥५॥

भावार्थ—घटादि कार्यों की उत्पत्ति के लिए बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों कारणों की पूर्णता आवश्यक है, क्योंकि दण्ड, चक्र, चीवर आदि बहिरङ्ग कारणों के बिना घट निर्माण के योग्य मिट्टीरूप अन्तरङ्ग कारण के रहते हुए भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती और दण्ड, चक्र, चीवर आदि बहिरङ्ग कारणों के रहने पर भी घट निर्माण की योग्यता से रहित, प्रचुर बालुका से युक्त मिट्टी के द्वारा उपादान कारण के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब निज की योग्यतारूप अन्तरङ्ग उपादानकारण और उस योग्यता को विकसित करने में सहायकरूप बहिरङ्ग निमित्तकारण दोनों की अनुकूलता होती है तभी घटादि कार्यों की उत्पत्ति होती है यही द्रव्य का स्वभाव है—यही द्रव्य का अर्थक्रियाकारित्व है। घटादि कार्यों का स्वभाव जलधारणादि क्रियाकारित्व है सो यह स्वभाव उक्त विधि से प्रकट हो सकता है, अन्य विधि से नहीं। 'मोक्षविधिश्च पुंसां' यहाँ चकार का अर्थ अपि है, इसलिए यह अर्थ प्रकट होता है। यह विधि न केवल घटादि कार्यों के विषय में है, किन्तु मोक्षाभिलाषी पुरुषों के मोक्षरूप कार्य के विषय में भी है। मोक्ष, जीवद्रव्य की पर्याय है, इसका उपादान कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता से युक्त भव्यात्मा है तथा सहकारी कारण मुनिव्रत से युक्त कर्मभूमिज मनुष्य का शरीर आदि है। इन दोनों कारणों की अनुकूलता होने पर ही जीवद्रव्य में मोक्ष पर्यायरूप कार्य की उत्पत्ति होती है। मात्र उपादान से या मात्र निमित्त से कार्य की उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। यह ठीक है कि निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, इसलिए उपादानोपादेयभाव एक द्रव्य में ही बनता है भिन्न द्रव्यों में नहीं, परन्तु इतने मात्र से निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि निमित्त-नैमित्तिकभाव भिन्न द्रव्यों में बनता है। कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से जीव में रागादि विकारीभावों

की उत्पत्ति होती है और जीव के रागादि विकारीभावों के निमित्त से पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप पर्याय की उत्पत्ति होती है तथा जीव और कर्म के संयोग से चतुर्गतिरूप संसार चल रहा है। इस प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु-तत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। हे भगवन्! चूँकि आपने इस द्रव्यगत स्वभाव की–इस कार्य-कारणभाव की व्यवस्था बतलाई है तथा आप ऋषि हैं–अनेक ऋद्धियों से युक्त, निःस्पृह साधु हैं, इसीलिए गणधरादिक बड़े-बड़े विद्वान् आपको अभितः–सब ओर से मनसा, वाचा, कर्मणा वन्दना करते हैं।

चतुर्थ श्लोक के चतुर्थ चरण 'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते' के द्वारा मात्र इस प्रश्न का समाधान किया गया था कि मुनियों के पुष्पादि बाह्यपरिग्रह के बिना पूजा किस प्रकार संभव है ? और इस श्लोक में कार्य-कारणभाव की चर्चा की गई है, इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर दोनों श्लोकों के कथन में असंगति नहीं मालूम होती ॥५॥

इति वासुपूज्यजिनस्तवनम्

प्रज्ञाश्रमण मुनि

श्री विमलजिनस्तवनम्

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ।।१।।

य एवेत्यादि—वंशस्थछन्दः । य एव नया नित्यक्षणिकादयः नित्यश्च क्षणिकश्च तावादी येषां ते तथोक्ताः आदिशब्देन सत्ताद्येकान्तपरिग्रहः । कथंभूतास्ते स्वपरप्रणाशिनः स्वश्च तथाध्यवसायपरिणतः आत्मा परश्च तथाध्यवसाये प्रवर्तमानः तयोः प्रणाशयितुं संसारदुःखार्णवे पातयितुं शीलं येषां ते स्वपरप्रणाशिनः दुर्णया इत्यर्थः । कथंभूताः सन्तस्ते तथाविधा इत्याह—मिथोऽनपेक्षा अन्योऽन्यनिरपेक्षाः । य एवंविधाः परमतापेक्षया नयाः त एव तत्त्वं परमार्थस्वरूपं भवन्ति सम्यग्नया भवन्तीत्यर्थः । कस्य ? विमलस्य विगतो मलो ज्ञानावरणादिकर्मलक्षणो यस्यासौ विमलस्त्रयोदशतीर्थङ्करः तस्य, ते तव, मुनेः प्रत्यक्ष-वेदिनः । कथंभूताः सन्तस्ते तत्त्वं भवन्ति ? परस्परेक्षाः परस्परमन्योऽन्यमीक्षा अपेक्षा येषां, कुतस्ते तथाविधाः सन्तस्तत्त्वं भवन्ति स्वपरोपकारिणो यतः ।।१।।

आगे निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ये एव) जो ही (नित्यक्षणिकादयः नयाः) नित्य अथवा क्षणिक आदि नय (मिथोऽनपेक्षाः) परस्पर में निरपेक्ष होकर अन्यमतों में (स्वपरप्रणाशिनः) निज और पर का नाश करने वाले हैं (ते एव नयाः) वे ही नय (परस्परेक्षाः) परस्पर की अपेक्षा रखते हुए (स्वपरोपकारिणः) निज और पर का उपकार करने वाले होकर (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी (ते) आप (विमलस्य) विमलजिनेन्द्र के मत में (तत्त्वं) वस्तुस्वरूप (भवन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेषरूप होने से संसार के समस्त पदार्थ दो भागों में विभाजित हैं । यद्यपि इनमें प्रदेश भेद नहीं है तथापि ज्ञान की अपेक्षा भेदकल्पना की जाती है । जब ज्ञान, द्रव्य अथवा सामान्य अंश को ग्रहण करता है तब पदार्थ नित्य अनुभव में आता है और जब ज्ञान, पर्याय अथवा विशेष अंश को ग्रहण करता है, तब पदार्थ क्षणिक अथवा अनित्य अनुभव में आता है । चूँकि द्रव्य और पर्याय में अथवा सामान्य और विशेष में प्रदेश भेद नहीं है, इसलिए द्रव्य या सामान्य अंश को ग्रहण करते समय पर्याय या विशेष अंश को गौण तो किया जा सकता है, परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार पर्याय या विशेष अंश को ग्रहण करते समय, द्रव्य या सामान्य अंश को गौण तो किया जा

सकता है, परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि सर्वथा उपेक्षित किये जाने पर नय परस्परनिरपेक्ष हो जाते हैं और उस निरपेक्ष अवस्था में वे नय न तो स्व–अपने द्वारा गृहीत अंश को सुरक्षित रख सकते हैं और न पर–अपने द्वारा अगृहीत अंश को ग्रहण कर सकते हैं। द्रव्य, बिना पर्याय के नहीं रह सकता और पर्याय, बिना द्रव्य के निराधार नहीं रह सकती, इसलिए एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट होते हैं। सांख्य तथा बौद्ध आदि अन्य दर्शनों में पदार्थ के एक-एक अंश को ग्रहण कर उन्हें सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक माना गया है। इस स्थिति में वे नय, दुर्नय कहे जाते हैं–उनसे पदार्थ के परमार्थ स्वरूप का प्रतिपादन संभव नहीं है, परन्तु हे विमलजिनेन्द्र! आप ज्ञानावरणादि कर्मरूप मल से रहित हैं, इसलिए प्रत्यक्षज्ञानी हैं उस प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा आपने वस्तुतत्त्व का अच्छी तरह अवलोकन कर प्रतिपादन किया है, यही कारण है कि आपके नय परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए निज और पर का उपकार करने वाले हैं तथा परमार्थस्वरूप हैं ॥१॥

ननु यदि नित्योऽनित्यमपेक्षते सोऽपि नित्यं तर्हि सर्वस्य सर्वापेक्षाप्रसङ्गात् प्रतिनियतव्यवस्थाविलोपः स्यादित्याशङ्क्याह—

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम् ।
तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥२॥

यथेत्यादि—यथा यद्वत् एकमेकमेकशः कारकमुपादानकारणं सहकारिकारणं वा अर्थसिद्धये कर्मनिष्पत्तये प्रभवति, किं कृत्वा? समीक्ष्य अपेक्ष्य। किं तदित्याह—शेषमित्यादि—शेषमन्यत् स्वसहायकारकं स्वसहायं च तत्कारकं च तत्। अयमर्थः—उपादानकारणं सहकारिकारणमपेक्षते तच्च उपादानकारणं, न च सर्वेण सर्वमपेक्ष्यते किन्तु यद्येनापेक्ष्यमाणं दृश्यते तत्तेनापेक्ष्यते। एवं दृष्टान्तं व्याख्याय दार्ष्टान्तिके योजयन्नाह—तथैवेत्यादि—तथैव तेनैव सापेक्षत्वप्रकारेण नयाः प्रतिपत्तुरभिप्रायाः, तव विमलस्य इष्टाः अभिप्रेताः कथंभूताः? सामान्यविशेषमातृकाः सामान्यं च विशेषश्च तौ मातरौ जनकौ येषां तयोर्वा मातृकाः मातर एव मातृकाः परिच्छेदकाः। कथं ते तवेष्टाः? गुणमुख्य-कल्पतो गुणमुख्यकल्पनया सामान्यस्य हि मुख्यकल्पे विशेषस्य गुणकल्पना तस्य वा मुख्यकल्पे सामान्यस्य गुणकल्पना प्रयोजनवशात् ॥२॥

आगे नयों में प्रतिनियत व्यवस्था का विधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एकशः) एक-एक (कारकम्) उपादानकारण या निमित्तकारण (स्वसहायकारकं) अपनी सहायता करने वाले (शेषं) अन्य कारक की (समीक्ष्य) अच्छी तरह अपेक्षा करके (अर्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ होता है (तथैव) उसी प्रकार (सामान्यविशेषमातृका) सामान्य और विशेष से उत्पन्न अथवा सामान्य और विशेष को जानने वाले एवं (गुणमुख्यकल्पतः) गौण और मुख्य की कल्पना से (तव) आपके (इष्टाः) अभिप्रेत (नयाः) नय (अर्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ हैं।

भावार्थ—यहाँ कारक शब्द की व्युत्पत्ति 'करोति क्रियां निर्वर्तयतीति कारकं' इस प्रकार है अर्थात् जो क्रिया को करे उसे कारक कहते हैं। कारक कर्ता, कर्म, करण आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। वे सब कारक अपने सहायक अन्य कारक की अपेक्षा रखकर ही कार्य करने में समर्थ होते हैं, निरपेक्ष होकर नहीं। संस्कृत टीकाकार ने खासकर कारक शब्द का उपादान कारण और सहकारी कारण यह अर्थ किया है। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह उपादान कारण है और जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है वह सहकारी कारण है। उपादान कारण, सहकारी कारण की अपेक्षा रखता है और सहकारी कारण, उपादान कारण की अपेक्षा रखता है। दोनों कारण एक-दूसरे की अपेक्षा रखकर ही कार्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं, निरपेक्ष नहीं। यह बात जुदी है कि कहीं उपादान कारण को मुख्य और सहकारी कारण को गौण किया जाता है और कहीं सहकारी कारण को मुख्य और उपादान कारण को गौण किया जाता है। एक किसान बीज की शक्ति की ओर दृष्टि न रखकर मात्र सहकारी कारणों की ओर दृष्टि रखता है और खेती में सफलता न मिलने पर दुखी होता है। उसे कहा जाता है कि हे भद्र! जिस प्रकार तूँ बाह्य सहकारी कारणों की ओर दृष्टि रखता है उनकी संभाल करता है उसी प्रकार बीज की ओर भी दृष्टि रख। उत्तम जाति का निर्घुण बीज ही अङ्कुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है; घुना हुआ बीज नहीं। यहाँ बीजरूप उपादान कारण को मुख्यता देकर, सहकारी कारण को गौण किया गया है। इसी प्रकार एक किसान चुन-चुनकर अच्छा बीज बोता है, परन्तु जमीन और ऋतु आदि की अनुकूलता न देख ऊषर जमीन में आर्द्रता नष्ट हो जाने पर बीज बोता है और खेती में सफलता न मिलने पर दुखी होता है, उसे कहा जाता है कि हे भद्र! जिस प्रकार तूने बीज को उत्तम चुना

है उसी प्रकार जमीन आदि बाह्य सहकारी कारणों का भी तो चुनाव ठीक-ठीक कर। उत्तम बीज, ऊषर जमीन में क्या लाभ पहुँचा सकेगा? यहाँ सहकारी कारण को मुख्यता देकर उपादान कारण को गौण किया गया है। इसी प्रकार कोई भद्र आत्मशक्ति की ओर दृष्टि न रख मात्र शरीराश्रित क्रियाकाण्ड के द्वारा मुक्तिरूप कार्य की सिद्धि करना चाहता है, उसे कहा जाता है कि हे भद्र! मात्र शरीराश्रित क्रियाओं को कर तू अनन्तबार मुनि हुआ, परन्तु आत्मशक्ति की संभाल के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सका। यहाँ उपादान कारण को मुख्यता देकर, सहकारी कारण को गौण किया गया है और एक भद्र प्राणी मात्र आत्मशक्ति की ओर जोर देकर शरीराश्रित बाह्यचारित्र से पराङ्मुख हो रहा है, उसे कहा गया कि हे भद्र! यद्यपि बाह्यचारित्र शरीराश्रित क्रिया है तथापि इसके बिना आत्मशुद्धिरूप आभ्यन्तर चारित्र प्रकट होने वाला नहीं। यहाँ बाह्य सहकारी कारण को मुख्यता और उपादान कारण को गौणता दी गई है। इस प्रकार मुख्यता और गौणता को स्वीकृत करते हुए भी जब दूसरे की अपेक्षा को सर्वथा नहीं छोड़ा जाता है तभी उपादान या सहकारी कारण, कार्य करने में समर्थ होते हैं। यहाँ उपादान कारण और सहकारी कारण को दृष्टान्तकोटि में रखकर नयों को दार्ष्टान्त कोटि में रखा है। जैनागम में मुख्यरूप से दो नय माने गये हैं—१. द्रव्यार्थिक नय और २. पर्यायार्थिक नय अथवा १. निश्चय नय और २. व्यवहार नय। द्रव्यार्थिक नय का विषय, द्रव्य अथवा सामान्य माना है और पर्यायार्थिक नय का विषय, पर्याय अथवा विशेष माना है। इसी प्रकार निश्चयनय का विषय, द्रव्य है और व्यवहारनय का विषय, पर्याय है। ये दोनों नय प्रतिपाद्य—शिष्य की योग्यता देख प्रतिपत्ता—वक्ता के अभिप्रायानुसार मुख्य और गौण तो होते रहते हैं, परन्तु एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं छोड़ते। सापेक्ष रहकर ही कार्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं। हे विमल जिनेन्द्र! आपको इस प्रकार के सापेक्ष नय ही इष्ट हैं; निरपेक्ष नहीं ॥२॥

ननु सामान्यविशेषयोः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं ते तन्मातृका इत्याशङ्क्याह—

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव।
समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥३॥

परस्परेत्यादि—परस्परमन्योऽन्यमीक्षा अपेक्षा ययोस्तौ च तौ अन्वयभेदौ च सामान्य-विशेषौ तयोर्लिङ्गं ज्ञानं लिङ्ग्येते ज्ञायेते सामान्यविशेषौ येनेति व्युत्पत्तेः तस्मात् ततः। किमित्याह—प्रसिद्धेत्यादि—प्रसिद्धौ च तौ सामान्यविशेषौ च। अन्वयलिङ्गतो ह्यभेदज्ञाना-

परपर्यायात्सामान्यं प्रसिद्धं, भेदलिङ्गतो भेदज्ञानापराभिधानाद् विशेषः प्रसिद्धः एवं प्रसिद्धयोस्तयोः समग्रता सम्पूर्णता एकत्र वस्तुनि कथञ्चित्तादात्म्येन वर्तमानतास्ति, तव विमलतीर्थङ्करदेवस्य मते । नन्वेकस्य वस्तुनः सामान्यविशेषरूपताविरोधान्न युक्तेत्याशङ्क्य तद्विरोधपरिहारार्थं यथेत्याद्याह—यथा येन प्रकारेण बुद्धिलक्षणं बुद्धिस्वरूपं प्रमाणमेकं स्वपरावभासकं स्वपरप्रकाशधर्मद्वयोपेतं भुवि पृथिव्यां न विरुद्धं तथा वस्त्वप्येकं सामान्यविशेषरूपधर्मद्वयात्मकं न विरुद्धमिति तथा चैकत्र वस्तुनि विशेषणविशेष्यभावेन प्रवर्तमानौ सामान्यविशेषौ सिद्धौ तन्मातृकाश्च द्रव्यार्थिकादयो नयाः सिद्धाः ।।३।।

आगे नयों की सामान्यविशेषमातृकता सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यथा) जिस प्रकार (भुवि) पृथिवी पर (स्वपरावभासकं) स्व और पर को प्रकाशित करने वाला (बुद्धिलक्षणं) ज्ञानरूप लक्षण से युक्त (प्रमाणं) प्रमाण प्रसिद्ध है (तथा) उसी प्रकार (तव) आपके मत में (परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः) परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद के ज्ञान से (प्रसिद्धसामान्य-विशेषयोः) प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की (समग्रता) पूर्णता (अस्ति) विद्यमान है ।

भावार्थ—इस श्लोक के पुष्पिकावाक्य में कहा गया है कि सामान्य और विशेष किसी प्रमाण के सिद्ध नहीं हैं अतः नय, सामान्यमातृक और विशेषमातृक कैसे हो सकते हैं ? इस शङ्का का समाधान करते हुए समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में अन्वय—अभेद और भेद—व्यतिरेक का ज्ञान होता है । 'यह वही है—यह वही है' इस प्रकार के अन्वयरूप ज्ञान से पदार्थ में अभेद का ज्ञान होता है और यह दूसरा है—पूर्व पर्याय से भिन्न है, इस प्रकार के व्यतिरेकरूप ज्ञान से पदार्थ में भेद का ज्ञान होता है । उक्त अभेद ज्ञान से जान पड़ता है कि पदार्थ सामान्यरूप है और भेद ज्ञान से जान पड़ता है कि पदार्थ विशेषरूप है । पदार्थों में पाया जाने वाला यह अभेद और भेद का ज्ञान परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा अवश्य रखता है, क्योंकि पदार्थ न सर्वथा अभेदरूप है न सर्वथा भेदरूप । इस प्रकार पदार्थ की सामान्यरूपता और विशेषरूपता सिद्ध हो चुकने पर नयों की सामान्यमातृकता और विशेषमातृकता अनायास सिद्ध हो जाती है । प्रकृत बात को सिद्ध करने के लिए स्वामी जी ने ज्ञानरूप प्रमाण का दृष्टान्त दिया है । जैनदर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण[1] माना है और ज्ञान को स्वपरप्रकाशक स्वीकृत किया गया है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।।१।। —परीक्षामुख प्रथमपरिच्छेद ।

में स्वपरप्रकाशकत्व ये दो धर्म स्वतः सिद्ध हैं, उसी प्रकार पदार्थ में सामान्यरूपता और विशेषरूपता ये दो धर्म स्वतः सिद्ध हैं ।।३।।

किं पुनर्विशेष्यं किं वा विशेषणमित्यत्राह—

विशेष्यवाच्यस्य[1] विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ।।४।।

विशेष्येत्यादि—विशेष्यं च तद्वाच्यं च विशेष्यवाच्यं यदा सामान्यं वाच्यभूतं तदा विशेषो विशेषणं यदा तु विशेषो वाच्यभूतो विशेष्यस्तदा सामान्यं विशेषणं तस्य विशेषवाच्यस्य विशेषणं भवति । किं तत् ? वचो विशेषणाभिधायि वचनं तद्विशेषणाभिधानद्वारेण तस्य विशेषणम् अनेन तद्द्वयेन वस्तु वाचामगोचरम् इति निरस्तम् । कथंभूतं विशेषणमित्याह—यत इत्यादि—यतो विशेषणाद्विनियम्यते विशेषेण नियतरूपतया अवधार्यते, किं विशेष्यं, तद् विशेषणं यथा कृष्णत्वं सर्पस्य । किं विशेष्यमित्याह—विनियम्यते च यत्—यद् विशेष्यं विनियम्यते च-शब्द उभयत्र सम्बद्धयते । अत्र तयोरित्यादिना परो दूषणमाह—तयोश्चोभयोर्विशेषणविशेष्ययोः सामान्यं सामान्यरूपत्वमतिप्रसज्यते अतिप्रसङ्गवद्भवेत् सर्वोऽपि हि सर्पः कृष्णो भवेदिति विशेषसामान्यमतिप्रसङ्गवद्भवेत्, तथा स सर्पः पृष्ठादिनेव उदरादिनापि कृष्णो भवेदिति विशेषणं सामान्यमतिप्रसङ्गि भवेदिति, अत्रोत्तरमाह—विवक्षितादित्यादि—विवक्षिताद्विशेषणाद्विशेष्याच्च अन्यस्याविवक्षितस्य वर्जनं कुतः स्यादिति हेतोः तथापि स्यात्कृष्णः सर्पः इति वाक्ये स्यात्कृष्णः पृष्ठाद्यङ्गेन कृष्णो नोदरादिना । सर्पोऽपि कश्चिदेव कृष्णो न सर्वः शुक्लादेरप्यनिवारणादित्यन्यवर्जनं ते तव मते सुप्रतीतम् ।।४।।

अब विशेष्य और विशेषण का स्वरूप बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (विशेष्यवाच्यस्य) वाच्यभूत विशेष्य का (तत्) वह (वचः) वचन (यतः) जिससे (विशेष्यं) विशेष्य (विनियम्यते) नियमित किया जाता है (विशेषणं) विशेषण कहलाता है और (यत्) जो (विनियम्यते) नियमित होता है (तत्) वह (विशेष्यं) विशेष्य कहलाता है (च) और (तयोः) उन विशेषण और विशेष्य में यद्यपि (सामान्यमतिप्रसज्यते) सामान्य का प्रसङ्ग आता है परन्तु (ते) आपके मत में (स्यादिति) कथञ्चित् अर्थ के वाचक स्यात् पद के द्वारा (विवक्षितात्) विवक्षित विशेषण-विशेष्य से (अन्यवर्जनम्) अविवक्षित विशेषण-विशेष्य का परिहार हो जाता है।

---

१. विशेषवाक्यस्य (मूले) क-प्रतौ ख-प्रतौ ।

भावार्थ—जिसके द्वारा किसी पदार्थ की विशेषता बतलाई जाती है वह विशेषण कहलाता है और जिसकी विशेषता बतलाई जाती है वह विशेष्य कहलाता है । जैसे 'कृष्ण सर्प' यहाँ कृष्ण पद के द्वारा सर्प की विशेषता बतलाई गई है, इसलिए कृष्ण विशेषण है और सर्प की विशेषता बतलाई गई है, इसलिए सर्प विशेष्य है । यह विशेषण और विशेष्य कहीं सामान्य होता है और कहीं विशेष । वक्ता जिसे कहना चाहता है, वह विवक्षित होता है और जिसे नहीं कहना चाहता है, वह अविवक्षित होता है । स्यात् पद के प्रभाव से विवक्षित का ग्रहण होता है और अविवक्षित का निराकरण होता है ।।४।।

स्याच्छब्दस्य फलं दर्शयन्नाह—

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ।।५।।

नया इत्यादि—नया विकलादेशास्तव भगवतो भवन्त्यभिप्रेतगुणाः । कथंभूताः ? स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः स्यादिति पदेन सत्येन लाञ्छिता उपलक्षिताः । दृष्टान्तमाह—रसेत्यादि—इव-शब्दो यथार्थो, यथा रसेनोपविद्धा रसानुविद्धा लोहधातवस्ताम्रादिधातवः भवन्त्यभिप्रेतगुणाः अभिप्रेतः साधयितुमिष्टः सुवर्णलक्षणो गुणो धर्मो येषाम् । अयमर्थो—यथा रसोपविद्धा लोहधातवः सुवर्णरूपं फलं साधयन्ति तथा स्यात्पदोपविद्धा नयाः स्वर्गापवर्गादिफलमिति यतस्ते तथाभूतास्तव मते तत्साधयन्ति ततो भवन्तं विमलस्वामिनं आर्या गणधरदेवादयः प्रणता उपनताः हितैषिणो मोक्षाकाङ्क्षिणः ।।५।।

आगे स्यात् शब्द का फल दिखलाते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यतः) चूँकि (स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः) स्यात्पदरूपी सत्य से चिह्नित (तव) आपके (नयाः) नय (रसोपविद्धाः) रस से अनुलिप्त (लोहधातवः इव) लोहधातुओं के समान (अभिप्रेतगुणाः) इष्ट गुणों से युक्त पक्ष में सुवर्ण आदि इष्ट पदार्थ के गुणों से युक्त (भवन्ति) होते हैं (ततः) इसलिए (हितैषिणः) हित के इच्छुक (आर्याः) गणधर आदि उत्तम पुरुष (भवन्तं) आपके प्रति (प्रणताः) नम्रीभूत हैं ।।५।।

भावार्थ—इस श्लोक में स्यात् शब्द की महिमा बतलाते हुए स्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! जिस प्रकार पारद आदि रसों के संयोग से लिप्त लोहा—तांबा आदि

धातुएँ, सुवर्णरूप परिणत होकर साधक के मनोरथों को पूर्ण करती हैं। उसी प्रकार स्यात्पदरूप परमार्थ से युक्त आपके नय, साधक के मनोरथों को पूर्ण करते हैं–स्वर्ग-मोक्ष आदिरूप फल को सिद्ध करते हैं। यही कारण है कि आत्महित के इच्छुक उत्तमपुरुष आपको नमस्कार करते हैं। जैनागम में 'स्यात्' इस पद को 'कथञ्चित्' इस अर्थ का वाचक माना गया है। उसके साथ नयों का प्रयोग करने से 'वस्तु स्यात् नित्यं'–वस्तु किसी अपेक्षा नित्य है और 'वस्तु स्यात् अनित्यं'–वस्तु किसी अपेक्षा अनित्य है, इस तरह विवक्षा भेद से नित्यानित्यात्मक सिद्ध होती है। यह स्यात्पद सत्यरूप है–वस्तु के परमार्थस्वरूप का प्रतिपादक है। इसके बिना नय, मिथ्या-नय कहलाते हैं और उनसे साधक को इष्टफल की प्राप्ति नहीं होती ॥५॥

इति विमलजिनस्तवनम्

प्रज्ञाश्रमण मुनि

श्री अनन्तजिनस्तवनम्

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥१॥

अनन्तदोषेत्यादि—वंशस्थछन्दः । जितो निर्मूलितः, त्वया, कोऽसौ ? ग्रहः पिशाचविशेषः, किंविशिष्ट इत्याह—अनन्तेत्यादि—अनन्ताश्च ते दोषाश्च रागादयस्तेषामाशय आशेते निवसति रागादिदोषो यस्मिन् इत्याशयस्तदाधारभूतं चित्तं स एव विग्रहः शरीरं यस्य स तथोक्तः, पुनरपि कथंभूतः ? विषङ्गवान् ममेदं सर्वं स्त्र्यादिकमित्याबन्धो विषङ्गः सोऽस्यास्तीति तद्वान्, यदि वा विषङ्गवान् सम्बन्धवान् क्व ? हृदि, कथं ? चिरं बहुतरकालं भवति, पुनरपि कथंभूतो ? मोहमयः मोहेन निर्वृत्तो मोहमयो मोहरूप इत्यर्थः, क्व जितो ? हृदि चिदात्मन्यात्मस्वरूपे किं कुर्वता ? तत्त्वरुचौ प्रसीदता तत्त्वानि जीवादीनि तेषु रुचिः श्रद्धानं तस्यां प्रसीदता प्रसन्नेन भवता विपरीताभिनिवेशमलं शोधयतेत्यर्थः, यतो यस्मात्कारणादित्थंभूतो ग्रहस्त्वया जितः ततस्तस्मात्कारणादभूः संजातो भगवान् अनन्तजित् अनन्तजिन्नामा ॥१॥

भगवान् के अनन्तजित् नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अनन्तदोषाशयविग्रहः) जिसका शरीर अनन्त रागादि दोषों का आधार है तथा जो (चिरं) चिरकाल से (हृदि) हृदय में (विषङ्गवान्) संलग्न था अथवा ममता भाव से सहित था ऐसा (मोहमयः) मोहरूप (ग्रहः) पिशाच (तत्त्वरुचौ) तत्त्व श्रद्धा से (प्रसीदता) प्रसन्न रहने वाले (त्वया) आपके द्वारा (यतः) क्योंकि (जितः) जीत लिया था (ततः) इसलिए आप (भगवान्) भगवान् (अनन्तजित्) अनन्तजित् इस सार्थक नाम को धारण करने वाले (अभूः) हुए हैं ।

भावार्थ—यहाँ चौदहवें तीर्थङ्कर श्री अनन्तजित् के नाम की सार्थकता बतलाते हुए श्री समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि हे भगवन् ! चूँकि आपने अनादिकाल से हृदय में संलग्न तथा रागद्वेष आदि अनन्त दोषों से युक्त मोहरूपी ग्रह को जीत लिया है, इसलिए 'नास्ति अन्तो यस्य सः अनन्तः संसारस्तस्य कारणात् मिथ्यात्वमप्यनन्त इति कथ्यते तमनन्तं जयति स्मेति अनन्तजित्—जिसका अन्त नहीं है वह अनन्त है, इस तरह अनन्त नाम संसार का है, अनन्त का कारण होने से मिथ्यात्व भी अनन्त कहलाता है, ऐसे अनन्त को आपने जीत लिया है, इस व्युत्पत्ति के आधार से आपका

'अनन्तजित्' यह नाम अत्यन्त सार्थक है। यहाँ मिथ्यात्व में ग्रह का आरोप किया है, इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार ग्रह—पिशाच, मनुष्य से पृथक् होने पर भी उसे दुखी करता है। उसी प्रकार यह मिथ्यात्व, शुद्धचैतन्यरूप आत्मद्रव्य से पृथक् होने पर भी विकार्य-विकारक भाव के कारण इस जीव को दुखी करता है और जिस प्रकार ग्रह—पिशाच अनेक दोषों का आधार होता है, उसी प्रकार यह मिथ्यात्व भी रागादि अनन्त दोषों का आधार है, क्योंकि मिथ्यात्व के सद्भाव में ही रागादिदोष वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यह मिथ्यात्वरूपी ग्रह, आत्मा के साथ चिरकाल से लगा हुआ है और 'स्त्रीपुत्रादिक समस्त पदार्थ मेरे हैं' इस प्रकार के ममताभाव से सहित है। इस मिथ्यात्वरूपी ग्रह को नष्ट करने की प्रक्रिया बतलाते हुए स्वामी ने लिखा है कि हे भगवन्! आपने जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान में प्रसन्न होते हुए, विपरीताभिनिवेशरूप मल को दूर करते हुए मिथ्यात्वरूप ग्रह को जीता है। तत्त्वरुचि में प्रसन्नता का प्राप्त होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस सम्यग्दर्शन के द्वारा ही मिथ्यात्वरूपी ग्रह की पराजय होती है। मिथ्यात्व, आत्मा का सबसे बलिष्ठ शत्रु है, इसको निर्मूल किए बिना इस प्राणी का कल्याण होना दुर्भर है ॥१॥

तथा तज्जयं कुर्वन्नसौ कथंभूतः संजात इत्याह—

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥२॥

कषायेत्यादि—कषायनाम्नां कषायसंज्ञानां, द्विषतां शत्रूणां कथंभूतानां? प्रमाथिनां प्रमथनशीलानाम्, अशेषयन् निःशेषतः क्षपयन्, किं तत्? नाम, हृदीत्यनुवर्तते हृदि तेषां नामाप्यशेषयन् भवाननन्तजिदशेषवित् सर्वज्ञः संपन्नः, न केवलं तेषां नामाशेषयन्, व्यलीनयत् द्रवतां नीतवान् विनाशितवानित्यर्थः। कं? मन्मथदुर्मदामयं मन्मथः कामस्तस्य दुष्टो मदो दुरभिमानो दर्पः स एवामयो व्याधिस्तं, कथंभूतं? विशोषणं संतापकं, इत्थंभूतं तदामयं कैर्व्यलीनयत्? समाधिभैषज्यगुणैः समाधिर्ध्यानं स एव भैषज्यमौषधं तस्य गुणास्तदामयोपशमकत्वादयस्तैः ॥२॥

आगे कषायरूप शत्रुओं को जीतकर आप सर्वज्ञ हुए, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भवान्) आप (प्रमाथिनाम्) दुःख देने वाले (कषाय-नाम्नां द्विषताम्) कषाय नामक शत्रुओं के (नाम) नाम को हृदय में (अशेषयन्) समाप्त करते हुए (अशेषवित्) सर्वज्ञ हुए हैं तथा आपने (समाधिभैषज्यगुणैः) ध्यानरूप

ओषधि के गुणों के द्वारा (विशोषणं) संतापकारक (मन्मथदुर्मदामयं) कामदेव के दुष्ट दर्परूपी रोग को (व्यलीनयत्) विलीन किया है–नष्ट किया है।

भावार्थ–आत्मा के शत्रुओं में मिथ्यात्व के बाद कषायों का नाम आता है। ये कषायरूप शत्रु भी आत्मा को अत्यन्त दुःख देने वाले हैं। सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यक्चारित्ररूपी पुरुषार्थ के द्वारा; हे भगवन्! आपने क्रोधादि कषायरूपी शत्रुओं को नष्ट किया और इस तरह नष्ट किया कि हृदय में उनका नाम भी शेष नहीं रहने दिया। इस तरह कषायरूपी शत्रुओं का समूल क्षयकर आप अन्तर्मुहूर्त के भीतर सर्वज्ञ हो गये अर्थात् चराचरविश्व को जानने लगे। कषायों के समान काम भी अत्यन्त दुःखकारक है इसके दुष्ट दर्प–उद्रेक को आचार्य ने रोग की उपमा दी है, साधारण रोग की नहीं, किन्तु अत्यधिक शोषण करने वाले रोग की। इस प्रचण्ड कामोद्रेकरूपी रोग को भी; हे भगवन्! आपने उत्तम ध्यानरूप ओषधि के गुणों से विलीन कर दिया है–गला दिया है–नष्ट कर दिया है, इस तरह आप निष्कषाय, निष्काम और सर्वज्ञ हैं ॥२॥

ननु मन्मथदुर्मदामये सति भोगाकाङ्क्षायाः प्रवृत्तेः कथं निराकुलः समाधिर्जातो यतस्तदामयविनाशः स्यादित्याशङ्क्याह—

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य! शोषिता।
असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥३॥

परिश्रमेत्यादि–परिश्रमः खेदः स एवाम्बु यस्याः सा परिश्रमाम्बुः, कासौ? स्वतृष्णासरित् स्वस्य तृष्णा विषयाकाङ्क्षा स्वतृष्णा सैव सरिन्नदी, कथंभूता? भयवीचिमालिनी भयान्येव वीचयस्तरङ्गास्तेषां मालाः पङ्क्त्यः ता यस्यां सन्ति सा तथोक्ता, सा शोषिता क्षयमुपनीता, केन? त्वया अनन्तजिता, हे आर्य! साधो! केन कृत्वेत्याह–असङ्गेत्यादि–असङ्गो निःसङ्गता सकलसङ्गाभावः स एव घर्मार्को ज्येष्ठाषाढीयादित्यस्तस्य गभस्तयः किरणाः सन्ततनिःसङ्गत्वाभ्यासविवेकोपयोगपरमध्यानादयस्तेषां तेजः प्रतापस्तच्छोषणे सामर्थ्यं तेन असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा, यत एवं ततः तस्मात्कारणात्परं प्रकृष्टं निर्वृतेर्मोक्षस्य धाम अनन्तज्ञानादितेजः तावकं त्वदीयम् ॥३॥

आगे आपको निर्वाणधाम की प्राप्ति किस तरह हुई? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ–(परिश्रमाम्बुः) जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है और (भयवीचिमालिनी) भयरूप तरङ्गों की मालाएँ उठ रही हैं ऐसी (स्वतृष्णासरित्) अपनी

भोगाकाङ्क्षारूप नदी (हे आर्य) हे पूज्य ! (त्वया) आपके द्वारा (असङ्गघर्मार्कगभस्ति-तेजसा) निष्परिग्रहतारूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के तेज से (शोषिता) सुखा दी गई है (ततः) इसलिए (परम्) उसके आगे विद्यमान (निर्वृतिधाम) निर्वाण-स्थान (तावकम्) आपका ही है अथवा आपका अनन्तज्ञानादि तेज अत्यन्त उत्कृष्ट है ।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए बीच में पड़ी हुई लहराती नदी बाधा खड़ी कर देती है, उसी प्रकार मोक्षरूपी स्थान पर पहुँचने के लिए बीच में पड़ी हुई तृष्णारूपी नदी बाधा खड़ी करती है । जिस प्रकार नदी में पानी भरा होता है, उसी प्रकार इस तृष्णारूपी नदी में परिश्रमरूपी जल भरा हुआ है और जिस प्रकार नदी में लहरें उठा करती हैं, उसी प्रकार इस तृष्णारूपी नदी में भयरूप लहरें निरन्तर उठा करती हैं । तृष्णा का अर्थ भोगाकाङ्क्षा है, इस भोगाकाङ्क्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य को रात-दिन कठिन परिश्रम करना पड़ता है तथा किसी कारण हमारे भोग नष्ट न हो जावें इस बात का भय निरन्तर बना रहता है । इस भोगाकाङ्क्षारूपी नदी को पार करना सरल काम नहीं है, परन्तु हे अनन्तजित् ! हे मिथ्यात्व को जीतने वाले अनन्तजिनेन्द्र ! आपने इस तृष्णारूप नदी को निष्परिग्रहतारूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के प्रचण्डताप से ऐसा सुखा दिया है कि उसमें पानी की एक बूँद भी शेष नहीं रह सकी है । अब निर्वाणधाम को प्राप्त करने में बाधा कौन डाल सकता है ? अब तो निर्वाणधाम आपका ही है, इसमें संदेह की बात नहीं है । परिग्रह, भोगाकाङ्क्षा का नोकर्म है अर्थात् परिग्रह को देखकर भोगाकाङ्क्षा वृद्धि को प्राप्त होती है । आपने निर्ग्रन्थमुद्रा धारणकर उस नोकर्म को नष्ट कर दिया है, इसलिए भोगाकाङ्क्षा नष्ट हो गई है । संस्कृत टीकाकार ने धाम का अर्थ तेज किया है; इसलिए श्लोक का भाव ऐसा होता है कि हे भगवन् ! (यतः) जिस कारण आपने अपनी तृष्णा नदी को सुखा दिया है, (ततः) उस कारण आपका (निर्वृतिधाम)अनन्तज्ञानादि तेज उत्कृष्ट है ।।३।।

ननु भगवान् स्तुतिकारिणे लक्ष्मीं दत्तेऽन्यस्मै च दारिद्र्यमतः कथं वीतरागः कथं वा ईश्वराद्विशिष्यत इत्याशङ्क्याह—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ।।४।।

सुहृदित्यादि—सुहृद् भक्तिपरः, क्व ? त्वयि, किं करोति ? श्रीसुभगत्वं लक्ष्मीवल्लभ-त्वम्, अश्नुते प्राप्नोति, द्विषन्नभक्तस्त्वयि मिथ्यादृष्टिः प्रत्ययवत् प्रत्ययः क्विप् ज्ञानं वा

तद्वत् प्रलीयते विनश्यति नरकादिदुःखमनुभवतीत्यर्थः । भवान् पुनरुदासीनतमः अतिशयेनोदासीनो मध्यस्थः, तयोरपि द्वयोरपि सुहृद्द्विषतोः । कथं तर्हि परमोदासीनाद्भवतः प्रागुक्तफलसिद्धिरित्याह—प्रभो इत्यादि—हे प्रभो स्वामिन् परं प्रकृष्टं चित्रमाश्चर्यमद्भुतं तव ईहितं तव चेष्टितं यदुदासीनोऽपि चिन्तामणिरिवानन्तफलसम्पत्तिहेतुर्भगवानिति ॥४॥

अब भगवान् की वीतरागता का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वयि सुहृद्) आप में उत्तम हृदय को रखने वाला—भक्त पुरुष (श्रीसुभगत्वं) लक्ष्मी के वल्लभपने को (अश्नुते) प्राप्त होता है और (त्वयि द्विषन्) आप में द्वेष रखने वाला—अभक्त पुरुष (प्रत्ययवत्) व्याकरण के प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान के समान (प्रलीयते) नष्ट हो जाता है—चतुर्गति के दुःखों का अनुभव करता है परन्तु (भवान्) आप (तयोरपि) उन दोनों—भक्त और अभक्त पुरुषों के विषय में (उदासीनतमः) अत्यन्त उदासीन हैं—रागद्वेष से रहित हैं (प्रभो) हे स्वामिन् ! (तव) आपकी (इदम् ईहितं) यह चेष्टा (परं चित्रम्) अत्यन्त आश्चर्यकारी है ।

भावार्थ—इस श्लोक में अनन्तजित् जिनेन्द्र के वीतराग गुण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! जो आपकी स्तुति करता है, वह स्वयं ही अनन्तज्ञानादि आध्यात्मिक, अष्टप्रातिहार्यादि बाह्य तथा धन-सम्पदा आदि लौकिक लक्ष्मी का नाथ होता है, उसे आप प्रसन्न होकर कुछ देते नहीं हैं । इसी प्रकार जो आपकी निन्दा करता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है—नरकादि गतियों के दुख उठाता फिरता है, आप अप्रसन्न होकर उसे कुछ दुख देते नहीं हैं । परमवीतरागभाव के कारण आप उन दोनों में अत्यन्त उदासीन रहते हैं । हे प्रभो ! यह आपका चरित्र अत्यन्त आश्चर्य करने वाला है, ऐसा चरित्र संसार के अन्य रागी-द्वेषी देवों में कहाँ सुलभ है ? ॥४॥

स यदि भगवानुदासीनोऽपि स्तुतः स्तोतुः विशिष्टफलसम्पत्तिहेतुस्तदा भवदीयं माहात्म्यं भवान् किं स्तोतुं समर्थ इत्यत्राह—

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने ।
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ॥५॥

त्वमीदृश इत्यादि—त्वमनन्तजित्तीर्थङ्करदेवः ईदृशोऽनन्तरोक्तप्रकारस्तादृशश्चिरोक्तप्रकारः इति एवं स्तुतिरूपो मम प्रलापलेशः प्रलापस्य यत्किञ्चिद्भाषणस्य लेशो लवः, किंविशिष्टस्य मम ? अल्पमतेर्यथावद्भगवद्गुणपरिज्ञानहीनमतेर्यत एव चाल्पमतिरहं

अत एवायं स्तुत्यंशो मम प्रलापलेशः, हे महामुने ! सकलार्थप्रत्यक्षवेदिन् ! तर्हि विफलोऽयं भविष्यतीत्यत्राह–अशेषेत्यादि–अशेषं निरवशेषं तच्च तन्माहात्म्यं च गुणोत्कर्षः तदनीरयन्नप्यब्रुवन्नप्ययं मम प्रलापलेशः शिवाय मोक्षसुखसंपादननिमित्तं भवति । अत्रैव दृष्टान्तमाह–संस्पर्श इवेत्यादि–इव-शब्दो यथार्थे, यथा संस्पर्शः संस्पर्शनः अमृताम्बुधे-रमृतसमुद्रस्य किञ्चिदप्यब्रुवाणस्तत्संस्पर्शिनः सुखं संपादयति तथा स्तुतिप्रलापलेशोऽपीति ॥५॥

अब भगवान् का अल्पगुण वर्णन भी कल्याण का कारण है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ–(महामुने !) हे समस्त पदार्थों के प्रत्यक्ष जानने वाले मुनिनाथ ! (त्वम्) आप (ईदृशः) ऐसे हैं (तादृशः) वैसे हैं (इति) इस प्रकार का (अयं) यह (मम अल्पमतेः) मुझ अल्पबुद्धि का (प्रलापलेशः) थोड़ा सा प्रलाप (अशेषमाहात्म्यं) आपकी समस्त महिमा को (अनीरयन्नपि) न कहता हुआ भी (अमृताम्बुधेः) सुधासागर के (संस्पर्श इव) समीचीन स्पर्श के समान (शिवाय) मोक्ष के लिए है–मोक्षसुख की प्राप्ति का कारण है ।

भावार्थ–भगवान् के समस्त माहात्म्य का स्तुति द्वारा उल्लेख करने में अपनी असमर्थता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! चूँकि मैं अल्पमति हूँ–आपके यथार्थ गुणों के परिज्ञान से रहित बुद्धि का धारक हूँ, अतः आपके समस्त माहात्म्य का वर्णन करने में मेरी असमर्थता है । मैं तो आपकी स्तुति के रूप में इतना ही कह सकता हूँ कि आप ऐसे हैं अथवा वैसे हैं, परन्तु मेरी यह श्रद्धा है कि सकल पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञाता होने से आप मेरे हृदय की भावना को अच्छी तरह जानते हैं । न सही मेरे पास विशाल शब्दावली, किन्तु भक्ति से ओत-प्रोत हृदय तो है मेरा, यह भक्तिपूर्ण हृदय ही मेरे लिए, शिव–मोक्ष का अथवा सांसारिक सुख का कारण है । जिस प्रकार अमृत के समुद्र में अवगाहन करना तो दूर रहा, उसका स्पर्श भी आनन्ददायी होता है, उसी प्रकार आपकी पूर्ण स्तुति तो दूर रही, उसका लेशमात्र भी आनन्ददायी होता है ॥५॥

इति अनन्तजिनस्तवनम्

श्री धर्मजिनस्तवनम्

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥१॥

धर्मतीर्थमित्यादि—रथोद्धताछन्दः[१] । धर्मतीर्थं धर्म उत्तमक्षमादिलक्षणो चारित्रलक्षणो वा स एव तीर्थं धर्मस्य वा तीर्थं तत्प्रतिपादकः आगमः, कथंभूतं ? अनघमनवद्यं प्रवर्तयन् कुर्वन् भवान् धर्म इत्येवमन्वर्थसंज्ञकोऽनुमतः सतां गणधरदेवादिविपश्चिताम् । अपरमपि किं कृतवान् भवानित्याह—कर्मेत्यादि—कर्माण्येव कक्षं वनमटवी तददहत् दग्धवान् कैः ? तपोऽग्निभिः तपांस्येवाग्नयस्तपोऽग्नयस्तैः ततः किम् । अवाप प्राप्तवान्, किं तत् ? शर्म सुखं, कथंभूतं ? शाश्वतमविनश्वरम् । अतः शङ्करोऽनुमतः सतां भवान् शं सुखमात्मनः कर्मकक्षं दग्ध्वा सकलप्राणिनां च धर्मतीर्थं प्रवर्त्तयित्वा करोतीति शङ्करः ॥१॥

भगवान् के धर्मनाथ नाम की सार्थकता बताते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनघं) निर्दोष (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाले आगम को (प्रवर्तयन्) प्रवर्ताते हुए (भवान्) आप (सतां) गणधरदेवादि विद्वानों के द्वारा (धर्मः) धर्म इस सार्थक नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं । आपने (तपोऽग्निभिः) तपरूपी अग्नियों के द्वारा (कर्मकक्षम्) कर्मरूपी वन को (अदहत्) जलाया है तथा (शाश्वतं) अविनाशी (शर्म) सुख (अवाप) प्राप्त किया है इसलिए आप सत्पुरुषों के द्वारा (शङ्करः) शङ्कर इस नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं ।

भावार्थ—उत्तमक्षमा आदि को अथवा सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं । यह धर्म संसार समुद्र से तरने का साधन होने से तीर्थ कहलाता है । तीर्थ का दूसरा अर्थ आगम भी होता है, इस तरह धर्मतीर्थ का अर्थ धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाला आगम होता है । यह धर्मतीर्थ, हिंसादि पापों से रहित होने के कारण अनघ—अनवद्य अथवा पूर्वापर विरोध से रहित होने के कारण अनवद्य—निर्दोष होता है । चूँकि धर्मजिनेन्द्र ने इस धर्मतीर्थ को प्रवर्ताया था, इसलिए गणधरादि सत्पुरुष उनके 'धर्म' इस नाम को सार्थक मानते हैं । धर्मजिनेन्द्र का एक नाम शङ्कर भी माना गया है सो वह भी सार्थक है, क्योंकि जिस प्रकार शङ्कर—रुद्र ने अग्नि के द्वारा त्रिपुर

१. 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' जिसके प्रत्येक चरण में रगण, नगण और रगण तथा एक लघु और एकगुरु हो उसे रथोद्धता कहते हैं ।

को दग्ध किया था, उसी प्रकार धर्मजिनेन्द्र ने भी तपरूपी अग्नियों के द्वारा कर्मरूपी वन को दग्ध किया है तथा अविनाशी शं–सुख को स्वयं प्राप्त किया है और धर्मतीर्थ को प्रवृत्त कर सकल प्राणियों को शं–सुख प्राप्त कराया है ॥१॥

स इत्थंभूतो भगवान् किं कृतवानित्याह—

देवमानवनिकायसत्तमै रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः ।
तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥२॥

देवमानवेत्यादि—रेजिषे शोभितवान्, किंविशिष्ट इत्याह—परिवृतो वेष्टितः, कैः ? देवमानवनिकायसत्तमैः देवाश्च मानवाश्च तेषां निकायाः समूहास्तेषु सत्तमा अतिशयेन प्रशस्ता भव्याः इत्यर्थः तैः । न केवलं तैः परिवृतः किन्तु बुधैः पण्डितैः गणधरदेवादिभिर्वृतः परिवारितः । क इव किंविशिष्टः क्वेत्याह—तारकेत्यादि—शशलाञ्छन इव चन्द्र इव, किंविशिष्टः ? तारकापरिवृतः तारकाभिः परि समन्ताद् वृतो वेष्टितः, पुनरपि कथंभूतः ? अतिपुष्कलः सम्पूर्णः, पुनरपि किंविशिष्टः ? अमलो न विद्यते घनपटलादिर्मलो यस्य, क्व ? व्योमनि गगने ॥२॥

अब ऐसे भगवान् ने क्या किया, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे धर्मजिन ! (देवमानवनिकायसत्तमैः) देवसमूह और मनुष्यसमूह में अत्यन्त श्रेष्ठ भव्यजीवों के द्वारा (परिवृतः) चारों ओर से वेष्टित तथा (बुधैः) गणधरादि विद्वानों से (वृतः) घिरे हुए आप (व्योमनि) आकाश में (तारकापरिवृतः) ताराओं से परिवेष्टित (अमलः) घनपटलादि मल से रहित (अतिपुष्कलः) सम्पूर्ण (शशलाञ्छन इव) चन्द्रमा के समान (रेजिषे) सुशोभित हुए थे ।

भावार्थ—धर्मजिनेन्द्र का स्तवन करते हुए समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि चार घातिया-कर्मों का क्षयकर धर्मजिनेन्द्र समवसरण के मध्य में निर्मित गन्धकुटी में सिंहासनारूढ हैं । गन्धकुटी को घेरकर बारह सभाओं की रचना है जिनमें देव, मनुष्यों के समूह में श्रेष्ठतम भव्यप्राणी बैठे हुए हैं । मनुष्यों की सभा में गणधरादि विद्वान् भी बैठे हुए हैं, इन सबसे वेष्टित धर्मजिनेन्द्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे कि आकाश में ताराओं से घिरा हुआ निर्मल पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥२॥

ननु सिंहासनादिविभूतिसद्भावात्कथं भगवतो वीतरागता यतो हरिहरादेर्विशेषः स्यादित्यत्राह—

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः ॥३॥

प्रातिहार्येत्यादि— प्रातिहार्याणि च सिंहासनादीन्यष्टौ विभवश्च समवसरणादि - विभूतयस्तैः परिष्कृतः परिवृतः देहतोऽपि न केवलं सिंहासनादिभ्यो विरतो विगत ममत्वो वीतराग इत्यर्थः भवान् धर्मतीर्थङ्करदेवः अभूत् संजातः । इत्थंभूतोऽपि भगवान् तीर्थकरत्वपुण्यातिशयवशान्मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शनादिलक्षणम्, अशिषत् व्युत्पादितवान्, कान् ? नरामरान् नराश्चामराश्च तान्। किं तदुपदेशने फलमित्याह—नापीत्यादि—नापि नैव, शिष्यन्ते मोक्षमार्गं व्युत्पाद्यन्ते येन तच्छासनं प्रवचनं तस्य फलं तस्य एषणा इच्छा तस्यामातुर आदरपरः ॥३॥

अब सिंहासनादि विभूति के रहते हुए भी भगवान् के वीतरागता है, यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवान्) आप (प्रातिहार्यविभवैः) सिंहासनादि प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियों से (परिष्कृतः) विभूषित होते हुए भी न केवल उनसे किन्तु (देहतोऽपि) शरीर से भी (विरतः) ममत्व रहित (अभूत्) थे तथा आपने (नरामरान्) मनुष्यों और देवों को (मोक्षमार्गम्) मोक्षमार्ग का (अशिषत्) उपदेश दिया था फिर भी आप (शासनफलैषणातुरः) उपदेश के फल की इच्छा से आतुर—व्यग्र (नापि अभूत्) नहीं हुए थे ।

भावार्थ—समवसरण में धर्मजिनेन्द्र यद्यपि छत्रत्रय, चौंसठ चमर, सिंहासन, भामण्डल, अशोकवृक्ष, देवकृत-पुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन आठ प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियों से सुशोभित थे तथापि परमवीतराग होने से उन्हें इन सबसे कुछ भी रागभाव नहीं था अथवा इनकी बात दूर रहे शरीर से भी उन्हें कुछ राग नहीं था, उससे भी वे पूर्ण विरक्त थे । राग की जड़, शरीर के राग में है, क्योंकि शरीर के राग से ही अन्य वस्तुओं का राग बढ़ता है । धर्मजिनेन्द्र जब शरीर से भी विरक्त हो चुके थे तब अन्य पदार्थों में उनका रागभाव कैसे विस्तृत हो सकता था ? पूर्वसंचित भाषावर्गणा के परमाणु समय पाकर खिरते थे, उससे वे यद्यपि देव और मनुष्यों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते थे, परन्तु उपदेश देने में उनकी इच्छा नहीं रहती थी । इच्छा, मोहनीय कर्म के उदय से होती है तथा उसका क्षय दशमगुणस्थान में ही हो चुकता है, अतः धर्मजिनेन्द्र के उपदेश देने की इच्छा का अभाव था । जो मनुष्य किसी खास इच्छा से प्रेरित होकर उपदेश देता है वह उपदेश के फल की इच्छा से निरन्तर व्यग्र रहता है, परन्तु धर्मजिनेन्द्र चूँकि इच्छा के बिना ही उपदेश देते थे,

इसलिए उन्हें उपदेश सम्बन्धी फल की रञ्चमात्र भी इच्छा नहीं रहती थी और न उस इच्छाजन्य व्यग्रता ही कभी उन्हें दुखी करती थी ।।३।।

यदि शासनफलैषणातुरो न भवति भवान् किमर्थं तर्हि विहरणादिकमित्यत्राह—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ।।४।।

कायेत्यादि—कायश्च वाक्यं च मनश्च तेषां प्रवृत्तयश्चेष्टाः नाभवन् न संजाताः, कया ? चिकीर्षया कर्तुमिच्छया । तर्हि असमीक्ष्यकारित्वं भवतः स्यादित्यत्राह—नेत्यादि—नासमीक्ष्य न वस्तुस्वरूपं यथावदज्ञात्वा भवतः प्रवृत्तयः कायादिचेष्टाः । हे धीर ! परीषहादिभ्यः परप्रश्नादिभ्यश्चाक्षुभितचित्त ! तावकं त्वदीयमचिन्त्यमद्भुतमीहितं चेष्टितं तीर्थकरत्वनामकर्मोदयात् भव्यप्राण्यदृष्टविशेषवशाच्च सर्वमेतद्भवतीत्यर्थः ।।४।।

अब इच्छा के बिना भगवान् का विहार आदि होता है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (तव) आप (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी के (कायवाक्यमनसां) काय, वचन और मन की (प्रवृत्तयः) चेष्टाएँ (चिकीर्षया) करने की इच्छा से (न अभवन्) नहीं हुईं तथा (भवतः) आपकी (प्रवृत्तयः) प्रवृत्तियाँ—चेष्टाएँ (असमीक्ष्य) वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जाने बिना (न अभवन्) नहीं हुईं । (हे धीर) परीषहादिक तथा अन्यमतावलम्बियों के प्रश्न आदि से चित्त को क्षुभित न करने वाले हे धीर-वीर धर्मजिनेन्द्र ! (तावकं) आपका (ईहितं) चरित (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय है—आश्चर्य करने वाला है ।

भावार्थ—प्रश्न यह था कि; हे भगवन् ! जब आपको उपदेश के फल की इच्छा नहीं है तब आपका विहार तथा दिव्यध्वनि का खिरना आदि कार्य क्यों होते हैं ? इस श्लोक में उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि हे धर्मजिनेन्द्र ! आपके शरीर की प्रवृत्ति अर्थात् विहार आदि, वचन की प्रवृत्ति अर्थात् उपदेश और मन की प्रवृत्ति अर्थात् वस्तुस्वरूप का चिन्तन आदि कार्य इच्छापूर्वक नहीं होते, क्योंकि इच्छा को उत्पन्न करने वाला मोहकर्म पहले ही नष्ट हो चुका है । अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि आपके विहार आदि कार्य विचारपूर्वक—इच्छापूर्वक नहीं होते हैं तो फिर क्या बिना विचार किये होते हैं ? अविचारित कार्य तो प्रशस्त नहीं होते ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि हे भगवन् ! आपकी सब चेष्टाएँ असमीक्ष्यकारी नहीं हैं—अविचारितरम्य नहीं हैं, किन्तु सुविचारित ही हैं यथार्थ में आपका चरित्र ही अचिन्त्य है—विरोध से युक्त होने के कारण उसका यथार्थ विचार नहीं किया जा सकता ।

आपके विहार आदि की क्रियाएँ तीर्थङ्कर नामकर्म तथा प्राणियों के अदृष्ट—भाग्य के अनुसार होती हैं ।।४।।

न चान्यमनुष्याणां कायादिप्रवृत्तयश्चिकीर्षापूर्विका दृष्टा अतो भगवतोऽपि तास्तत्पूर्विका एव युक्ता इत्यभिधातव्यं यतः—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ! परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः ।।५।।

मानुषीमित्यादि—मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् मनुष्याणामियं मानुषीं तां, प्रकृतिं स्वभावम्, अभ्यतीतवान् अतिक्रान्तवान्, कुतस्तामभ्यतीतवान् भवानिति चेत्? नित्यं निःस्वेदत्वं निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्वमित्यादिस्वभावत्वात् । न केवलमेतस्मात्कारणात्, देवतास्वपि च देवता यतः ततो मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि चेन्द्रादिष्वपि च न केवलं मनुष्येषु देवता पूज्यो यतः तेन कारणेन तत्प्रकृतिमभ्यतीतत्वेन देवतात्वेन च हे नाथ असि भवसि परमा उत्कृष्टदेवता पूज्यतमो भवसीत्यर्थः । इत्थंभूतस्त्वं हे जिनवृष! देशजिनानां गणधरदेवादीनां वृष उत्कृष्ट, प्रसीद प्रसन्नो भव, नोऽस्माकं, किमर्थं? श्रेयसे मोक्षाय, मोक्षप्रदोऽस्माकं भवेत्यर्थः ।।५।।

आगे भगवान् की लोकोत्तर प्रकृति का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (यतः) चूँकि आप (मानुषीं प्रकृतिं) मानव स्वभाव को (अभ्यतीतवान्) अतिक्रान्त कर गये हैं (च) और (देवतास्वपि) इन्द्र, चन्द्र आदि देवों में भी (देवता) देवता हैं, पूज्य हैं (तेन) इसलिए (हे नाथ) हे स्वामिन्! आप (परमा देवता असि) उत्कृष्ट देवता हैं (हे जिनवृष) हे जिनेन्द्र! (नः) हमारे (श्रेयसे) कल्याण के लिए (प्रसीद) प्रसन्न होइये ।

भावार्थ—यद्यपि धर्मजिनेन्द्र मनुष्यगति में उत्पन्न होने से मनुष्य थे तथापि उनका शरीर निरन्तर पसीना से रहित था, मलमूत्र से रहित था और दूध के समान सफेद रुधिर से युक्त था, इस तरह वे मानवीय स्वभाव का उल्लङ्घन कर चुके थे । इतना ही नहीं वे इन्द्र, चन्द्र आदि देवताओं में भी देवता थे—पूज्य थे, इसलिए अन्य मनुष्यों के समान उनकी प्रवृत्तियाँ भी इच्छापूर्वक ही होनी चाहिए यह आवश्यक नहीं है । अन्य मनुष्यों तथा देवों के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती । उनसे तो सर्वस्व समर्पण के रूप में यही कहा जा सकता है कि हे नाथ! हे गणधरादिदेशजिनों में प्रधान! धर्मजिनेन्द्र! आप हमारे कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न होइये, आप हमारे लिए मोक्षप्रदाता होइये ।।५।।

इति धर्मजिनस्तवनम्

श्री शान्तिजिनस्तवनम्

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ॥१॥

विधाय रक्षामित्यादि–उपजातिच्छन्दः । विधाय कृत्वा, कां ? रक्षां पालनं, कासां ? प्रजानां, केभ्यः ? परतः परेभ्यः शत्रुभ्यः, चिरं बहुतरं कालं, राजा सन् यः शान्तिर्जिनः, अप्रतिमप्रतापोऽतुल्यविक्रमः, एतत्कृत्वा पुनः किं कृतवानित्याह–व्यधादित्यादि–व्यधात् कृतवान्, काम् ? अघशान्तिम् अघस्य पापस्य शान्तिमुपशमं प्रजानामात्मनश्च, कदा ? पुरस्तात् पश्चात् कोऽसौ ? शान्तिः शान्तिनामा जिनः, कथंभूतो ? दयामूर्तिरिव दयायाः कृपाया मूर्तिरिव शरीरमिव, पुनरपि कथंभूतो ? मुनिर्निखिलार्थसाक्षात्कारी, कथं तां व्यधात् ? स्वत एव स्वयमेव न परतः ॥१॥

भगवान् पापों की शान्ति करके स्वयं शान्तिनाथ हुए, यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–(यः शान्तिः) जो शान्तिजिनेन्द्र (परतः) शत्रुओं से (प्रजानां) प्रजाजनों की (रक्षां विधाय) रक्षा कर (चिरं) चिरकाल तक पहले (अप्रतिमप्रतापः) अतुल्य पराक्रमी (राजा) राजा हुए और (पुरस्तात्) फिर (स्वत एव) स्वयं ही (मुनिः) मुनि होकर जिन्होंने (दयामूर्तिरिव) दया की मूर्ति की तरह (अघशान्तिं) पापों की शान्ति (व्यधात्) की ।

भावार्थ–सोलहवें तीर्थङ्कर, शान्तिनाथ भगवान् पहले अतुल्य पराक्रम के धारक राजा थे, राजा ही नहीं चक्रवर्ती थे । उस समय उन्होंने चिरकाल तक शत्रुओं से प्रजाजनों की रक्षा की और बाद में दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं ही संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो मुनि हो गये । उस समय वे अपनी दयालुवृत्ति से ऐसे जान पड़ते थे मानो दया की मूर्ति ही हों । मुनि होकर उन्होंने पापों की शान्ति की । इस श्लोक में समन्तभद्रस्वामी ने शान्तिनाथ भगवान् की राज्य अवस्था तथा मुनि अवस्था का तुलनात्मक वर्णन किया है । वे राज्य अवस्था में इतने अधिक पराक्रमी तथा उग्रप्रकृति के थे कि उन्होंने शत्रुओं से लोहा लेकर प्रजाजनों की रक्षा की थी, परन्तु आगे चलकर वे स्वयं ही मुनि हो गये और इतने दयालु हो गये कि देखने वाले उन्हें दया की मूर्ति ही समझने लगे थे । मुनि अवस्था में उन्होंने पापों का शमन कर आत्मा को अतिशय निर्मल बनाया था ॥१॥

राज्यावस्थायामेतत्कृत्वा वीतरागावस्थायामेतत्कृतं भगवतेत्यत्राह—

चक्रेण यः शत्रुभयङ्करेण जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥२॥

चक्रेणेत्यादि—चक्रेण रथाङ्गेन, कथंभूतेन? शत्रुभयङ्करेण शत्रूणां भयङ्करं भयजनकं तेन, यः शान्तिजिनः गृहस्थावस्थायां जित्वा अभिभूय नृपश्चक्रवर्ती संजातः किं तज्जित्वा? सर्वनरेन्द्रचक्रं सर्वे च ते नरेन्द्राश्च राजानः तेषां चक्रं समूहं । वीतरागावस्थायां किं कृतवानित्याह—समाधीत्यादि—समाधिर्ध्यानं तस्य चक्रं समूहः धर्म्यशुक्लध्यानप्रपञ्चरूपस्तेन, पुनः पश्चात् जिगाय जितवान् किं तत्? दुर्जयमोहचक्रं दुर्जयश्चासौ मोहश्च मोहनीयं कर्म तस्य चक्रं मूलोत्तरप्रकृतिभेदप्रपञ्चं, किंविशिष्टो भगवान्? महोदयो महानुदयो गर्भावतरणादिकल्याणपरम्परा यस्य सः ॥२॥

अब भगवान् के राज्य अवस्था और वीतराग अवस्था के कार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(महोदयः) गर्भावतरण आदि कल्याणकों की परम्परा से युक्त (यः) जो शान्ति जिनेन्द्र गृहस्थावस्था में (शत्रुभयङ्करेण) शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले (चक्रेण) सुदर्शनचक्र के द्वारा (सर्वनरेन्द्रचक्रं) समस्त राजाओं के समूह को (जित्वा) जीतकर (नृपः) चक्रवर्ती हुए और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में जिन्होंने (समाधिचक्रेण) ध्यानरूप चक्र के द्वारा (दुर्जयमोहचक्रं) कठिनाई से जीतने योग्य मोहनीयकर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृतियों के समूह को (जिगाय) जीता था ।

भावार्थ—शान्तिनाथ भगवान्, तीर्थङ्कर होने के साथ पञ्चम चक्रवर्ती भी थे । चक्रवर्ती पद के कारण उन्हें एक हजार देवों से सुरक्षित सुदर्शन नाम का चक्ररत्न प्राप्त हुआ था । यह चक्ररत्न समस्त शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाला था, इसके द्वारा उन्होंने अपने आश्रित बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं को जीतकर अपने आधीन किया था । इस तरह इनकी गृहस्थ अवस्था महान् अभ्युदय से युक्त थी । गृहस्थ अवस्था के पश्चात् जब इन्होंने वीतराग दशा—दिगम्बर मुद्रा धारण की, तब शुक्लध्यानरूपी चक्ररत्न के द्वारा उन्होंने दुःख से जीतने योग्य मोहनीय कर्म की समस्त मूलोत्तर प्रकृतियों के समूह को जीत लिया तथा अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान आदि महान् अभ्युदय को प्राप्त किया, यहाँ ऐसे ही शान्ति जिनेन्द्र का स्तवन किया गया है ॥२॥

सरागावस्थायां वीतरागावस्थायाश्च भगवानित्थंभूतया लक्ष्म्या शोभितवानित्याह—

राजश्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसभे रराज ॥३॥

राजश्रियेत्यादि—राज्ञः श्रीर्लक्ष्मीः राजश्रीस्तया, राजसु नृपतिषु मध्ये, यः शान्तिनाथो, रराज शोभितवान् किंविशिष्टो? राजसिंहो राज्ञां सिंहः प्रधानः, पुनरपि किंविशिष्टो? राजसुभोगतन्त्रः राज्ञां ये शोभना भोगास्तेषां तन्त्र आयत्तः, ते वा तन्त्रा आयत्ता यस्य, पुनः पश्चाद् परमवीतरागावस्थायामार्हन्त्यलक्ष्म्या अष्टमहाप्रातिहार्याद्यनन्त-ज्ञानादिलक्षणया, रराजेति सम्बन्धः, कथंभूतः? आत्मतन्त्रः स्वरूपायत्तः, क्व रराजेत्याह—देवेत्यादि—देवाश्च असुराश्च देवासुराः, उदारा महती समवसरणवर्तिनी सभा उदारसभा, देवासुराणामुदारसभा देवासुरोदारसभं तस्मिन्, 'सभाराजऽमनुष्याद्' इति नपुंसकता ॥३॥

अब भगवान् की सराग और वीतराग अवस्था के कार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(राजसिंहः) राजाओं में श्रेष्ठ तथा (राजसुभोगतन्त्रः) राजाओं के उत्तम भोगों के आधीन अथवा राजाओं के उत्तम भोगों को स्वाधीन रखने वाले (यः) जो शान्तिजिनेन्द्र सराग अवस्था में (राजसु) राजाओं के बीच (राजश्रिया) नौ निधि तथा चौदह रत्नों से युक्त राजलक्ष्मी के द्वारा (रराज) सुशोभित हुए थे और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में (आत्मतन्त्रः) आत्माधीन होते हुए (देवासुरोदारसभे) देव और धरणेन्द्रादिकों की महती सभा में (आर्हन्त्यलक्ष्म्या) अष्टप्रातिहार्यरूप बाह्य तथा अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग विभूति से (रराज) सुशोभित हुए थे।

भावार्थ—भगवान् शान्तिनाथ साधारण राजा नहीं थे, किन्तु राजसिंह थे—राजाओं में अतिशय श्रेष्ठ चक्रवर्ती थे, राजाओं के उत्तमोत्तम—१. [1]भाजन, २. भोजन, ३. शय्या, ४. सेना, ५. यान, ६. आसन, ७. निधि, ८. रत्न, ९. नगर ,१०. नाट्य इन दश प्रकार के भोगों से युक्त थे और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के बीच चक्रवर्ती की राजलक्ष्मी—नौ निधि तथा चौदह रत्नों से अत्यन्त सुशोभित होते थे। वही शान्तिनाथ जिनेन्द्र, जब शुक्लध्यान के द्वारा घातिचतुष्क को नष्ट कर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुए थे, तब पूर्ण आत्माधीन हो गये—अब उन्हें शरीर की स्थिरता के लिए भोजन की भी परतन्त्रता शेष नहीं रह गई थी। अष्टप्रातिहार्य तथा अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी

१. भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम् ।
निधी रत्नं पुरं नाट्यमिति भोगान्दशान्वभूत् ॥ —उत्तरपुराण पर्व ५४/११९वाँ श्लोक

उनकी चेरी हो गई, कुबेर के द्वारा समवसरण की रचना की गई, उसके बारह कोठों में क्रमशः प्रथम कोठे में गणधरों से सुशोभित मुनिराज बैठे थे, दूसरे में इन्द्राणियों के साथ-साथ कल्पवासी देवों की देवाङ्गनाएँ थीं, तीसरे में गणिनियों—आर्यिकाओं एवं श्राविकाओं का समूह बैठा था, चौथे में ज्योतिषी देवों की देवाङ्गनाएँ थीं, पाँचवें में व्यन्तर देवों की अंगनाएँ बैठी थीं, छठें में भवनवासी देवों की अंगनाएँ बैठी थीं, सातवें में ज्योतिषी देव थे, आठवें में व्यन्तर देव थे, नौवें में भवनवासी देव थे, दसवें में कल्पवासी देव थे, ग्यारहवें में मनुष्य थे और बारहवें में वैरभाव से रहित तिर्यञ्च सुख से बैठे थे । उन सबकी विशाल सभा में शान्तिजिनेन्द्र आर्हन्त्य लक्ष्मी से अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ।।३।।

अपरमपि सरागवीतरागावस्थायां किं किं संजातमित्याह—

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ।।४।।

यस्मिन्निति—यस्मिन् शान्तिनाथे राजनि सति राजचक्रं नृपतिसंघातः प्राञ्जलि, प्रबद्धाञ्जलि, अभूत् संजातम् । मुनौ यतौ धर्मचक्रं धर्मश्चारित्रमुत्तमक्षमादिलक्षणो वा तस्य चक्रं समूहः प्राञ्जलि आत्मायत्तमभूत्, कथंभूतं ? दयादीधिति दया एव दीधितयः किरणाः यस्य, दयायाः वा दीधितिः प्रकाशो यत्र । यदि वा मुनौ सकलार्थसाक्षात्कारिणि समुत्पन्नकेवलज्ञाने सति धर्मचक्रं भगवतोऽग्रेसरं रथाङ्गं प्राञ्जलि आत्माधीनमभूत् । पूज्ये समवसरणस्थिते धर्मोपदेशके सति मुहुः पुनः प्राञ्जलि प्रबद्धाञ्जलि देवचक्रमिन्द्रादिदेव-संघातोऽभूत् । ध्यानोन्मुखे ध्यानस्य व्युपरतक्रियानिवर्तिलक्षणस्यायोगचरमवर्तिन उन्मुखे सति, ध्वंसि विध्वंसि विध्वंसनशीलं, कृतान्तचक्रं कर्मचक्रं, प्राञ्जलि अभूत् ।।४।।

सराग और वीतराग अवस्था में और क्या हुआ ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिन शान्तिनाथ भगवान् के (राजनि 'सति') राजा होने पर (राजचक्रं) राजाओं का समूह (प्राञ्जलि) बद्धाञ्जलि (अभूत्) हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ 'सति') मुनि होने पर (दयादीधिति) दयारूप किरणों से युक्त अथवा दया को प्रकाशित करने वाला (धर्मचक्रं) उत्तमक्षमा आदि धर्मों का समूह (प्राञ्जलि अभूत्) अपने आधीन हुआ था अथवा जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ) समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवलज्ञानी होने पर (दयादीधिति) दयारूप किरणों से युक्त (धर्मचक्रं) देवरचित धर्मचक्र (प्राञ्जलि अभूत्) अपने आधीन हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (पूज्ये) पूज्य होने पर—समवसरण में स्थित होकर धर्मोपदेशक होने पर (देवचक्रं) देवों का समूह (मुहुः) बार-बार (प्राञ्जलि अभूत्) बद्धाञ्जलि हुआ था और

जिन शान्तिनाथ भगवान् के (ध्यानोन्मुखे) व्युपरत-क्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सन्मुख होने पर (ध्वंसि) क्षय को प्राप्त होता हुआ (कृतान्तचक्रं) कर्मों का समूह (प्राञ्जलि) शरण की भिक्षा के लिये बद्धाञ्जलि (अभूत्) हुआ था।

भावार्थ—इस श्लोक में शान्तिजिनेन्द्र की गृहस्थावस्था से लेकर मुक्ति प्राप्त करने के योग्य अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय तक की अवस्थाओं तथा उनकी महिमाओं का वर्णन किया गया है। गृहस्थावस्था में जब वे राजा थे—चक्रवर्ती थे तब समस्त राजाओं का समूह उनके प्रभाव से उपनत होकर हाथ जोड़े हुए उनके आदेश की प्रतीक्षा में तत्पर रहता था। जब गृह त्यागकर मुनि हुए, तब उत्तमक्षमा आदि धर्मों का समूह दया को प्रकाशित करता हुआ उनके स्वाधीन हुआ अथवा जब चार घातिया कर्मों का क्षयकर केवलज्ञानी हुए तब विहारकाल में आगे-आगे चलने वाला धर्मचक्र—देवरचित एक अतिशय विशेष उनके आधीन हुआ। जब समवसरण में सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर पूज्य हुए तथा दिव्यध्वनि के द्वारा धर्मोपदेश करने लगे तब चतुर्णिकाय के देवों का समूह उनके उपदेश से गद्‌गद् होकर बार-बार हाथ जोड़ने लगता था तथा जब अयोगकेवली नामक चतुर्दश-गुणस्थान में व्युपरत-क्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सन्मुख हुए, तब सत्ता में स्थित पचासी कर्म प्रकृतियों का समूह नाशोन्मुख होता हुआ 'रक्ष मां, रक्ष मां' की आवाज लगाता हुआ हाथ जोड़ने लगा अथवा मृत्युरूपी यमराज का चक्र नष्ट होता हुआ उनके स्वाधीन हो गया—मुक्ति को प्राप्त होकर उन्होंने सदा के लिए मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली ।।४।।

स्तोता स्तुतेः फलं याचमान आह—

स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ।।५।।

स्वदोषेत्यादि—स्वस्य दोषा रागादयस्तेषां शान्त्या प्रक्षयेण विहितात्मशान्तिः विहिता कृता आत्मनः शान्तिरनन्तसुखप्राप्तिरूपा येन, एवंविधायाः एव शान्तेर्विधाता कर्ता, केषां? शरणं गतानां संसारमहार्णवोत्तरणार्थमुपगतानां, इत्थंभूतः शान्तिर्जिनो भूयादस्तु, किमर्थं? भवक्लेशभयोपशान्त्यै भवश्च संसारः क्लेशाश्च दुःखानि भयानि च त्रासास्तेषामुपशान्तिरुपशमनं प्रक्षय इत्यर्थः तस्मै, कस्य? मे मम स्तुतिकर्तुः, किंविशिष्टः शान्तिजिनः? कर्मारातिजेता, पुनरपि किंविशिष्टः? भगवान् विशिष्टज्ञानवान् इन्द्रादीनां पूज्यो वा, पुनरपि किंविशिष्टः? शरण्यः शरणेषु साधुः शरण्यः त्राता इत्यर्थः ।।५।।

आगे स्तुतिकर्ता, स्तुति से फल की याचना करता हुआ कहता है—

अन्वयार्थ—(स्वदोषशान्त्या) अपने रागादि दोषों की शान्ति से (विहितात्म-शान्तिः) जिन्हें आत्मशान्ति की प्राप्ति हुई है, जो (शरणं गतानां) शरण में आये हुए जीवों को (शान्तेर्विधाता) शान्ति के करने वाले हैं, जो (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं के जीतने वाले हैं, (भगवान्) विशिष्टज्ञान अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित हैं तथा (शरण्यः) शरण देने में निपुण हैं (सः) वे (शान्तिः) शान्तिनाथ जिनेन्द्र (मे) मेरे (भवक्लेश-भयोपशान्त्यै) संसारपरिभ्रमण, क्लेशों और भयों की शान्ति के लिये (भूयात्) हों ।

भावार्थ—इस श्लोक में शान्तिजिनेन्द्र से शान्ति की कामना करते हुए समन्तभद्रस्वामी ने उनका जो वर्णन किया है, वह बहुत ही मार्मिक है । जब तक मनुष्य अपने दोषों को शान्त नहीं कर लेता, तब तक उसे आत्मशान्ति प्राप्त नहीं होती और जब तक स्वयं आत्मशान्ति प्राप्त नहीं होती, तब तक वह शरणागत मनुष्यों को शान्ति प्राप्त नहीं करा सकता । इस युक्तिसंगत क्रम को दृष्टिगत रखते हुए समन्तभद्र-स्वामी ने शान्तिनाथ भगवान् की सबसे पहले यही विशेषता बतलाई है कि अपने रागादि दोषों को शान्त करने से उन्हें आत्मशान्ति प्राप्त हुई थी और उसके फलस्वरूप वे शरणागत प्राणियों को शान्ति के विधाता थे—शान्ति उत्पन्न करने वाले थे । रागादि विकारीभावों के दूर हो जाने पर यह मनुष्य कर्मशत्रुओं को जीतता है, इसलिए उसके बाद शान्तिनाथ भगवान् को जिन कहा है—कर्मशत्रुओं का विजेता कहा है । जो मोह आदि प्रबल कर्मशत्रुओं को जीत चुकता है, वही भगवान् बनता है—अनन्तज्ञान अथवा अष्टप्रातिहार्यरूप लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित होता है, इसलिए जिन होने के साथ-साथ उन्हें भगवान्—अनन्तज्ञानवान् अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्यवान् कहा है । ऐसी महिमा से युक्त जिनेन्द्र जहाँ विराजमान होते हैं, वहाँ अभय का वातावरण रहता है—अदया का भाव दूर हो जाता है—कोई किसी को दुखी नहीं करता—सबको रक्षा प्राप्त होती है, इसलिए शान्तिजिनेन्द्र को शरण्यः—शरणे साधुः—रक्षा करने में निपुण कहा है । इन सब विशेषणों से विशिष्ट शान्तिनाथ जिनेन्द्र से समन्तभद्रस्वामी स्तुति के फलस्वरूप यही याचना करते हैं कि वे भगवान् मेरे भव परिभ्रमण, क्लेशों तथा भयों की शान्ति करने वाले हों अथवा भव—जन्म सम्बन्धी क्लेशों—दुःखों के भयों की शान्ति के लिए हों । शान्तिजिनेन्द्र की स्तुति के फलस्वरूप मैं जन्म सम्बन्धी क्लेशों से छूट जाऊँ—अब मुझे जन्म धारण न करना पड़े—मुक्ति की प्राप्ति हो जावे ॥५॥

इति शान्तिजिनस्तवनम्

श्री कुन्थुजिनस्तवनम्

कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसिस्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः ॥१॥

कुन्थुप्रभृतीत्यादि–वसन्ततिलकाछन्दः[1]। कुन्थुः सूक्ष्मप्राणी स प्रभृतिरादिर्येषामखिल-सत्त्वानां ते तथोक्तास्तेषु दया करुणा तस्यां एकः प्रधानभूतस्तानोऽनन्तो विस्तार आमुक्तेर्यस्य स तथोक्तः, कोऽसौ? कुन्थुर्जिनः कुन्थुनामा जिनः, त्वं किं कृतवान्? वर्तयसिस्म प्रवर्तितवान्, किं तत्? धर्मचक्रं धर्मसंघातं, क्व? इह लोके, किमर्थं? भूत्यै मोक्षलक्ष्म्यै, कथंभूतायै? ज्वरजरामरणोपशान्त्यै ज्वर इत्युपलक्षणं सकलव्याधीनां ज्वरश्च जरा च मरणं च तेषामुपशान्तिर्विनाशो यस्यां तस्यै, किं कृत्वा? भूत्वा, कथंभूतो भूत्वा? क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः चक्रं पाणौ यस्यासौ चक्रपाणिः क्षितिपतीनामीश्वरः क्षितिपतीश्वरः स चासौ चक्रपाणिश्च चक्रवर्ती भूत्वेत्यर्थः, कदा? पुरा पूर्वं, किमर्थं तथाविधो भूतोऽयं? भूत्यै राज्यविभूतिनिमित्तं, भूत्यै इत्येतत्संबद्धं सकलन्यायेन पूर्वत्र इह चाभिसम्बद्ध्यते ॥१॥

अन्वयार्थ–(कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः) कुन्थु आदि समस्त जीवों पर एक मुख्यरूप से दया का विस्तार करने वाले (कुन्थुः जिनः) कुन्थुनाथ जिनेन्द्र थे। हे भगवन् (त्वं) आपने (पुरा) पहले गृहस्थावस्था में (भूत्यै) राजविभूति के निमित्त (क्षिति-पतीश्वरचक्रपाणिः) राजाधिराज चक्रवर्ती (भूत्वा) होकर पश्चात् (इह) इस संसार में (ज्वरजरामरणोपशान्त्यै) ज्वर आदि समस्त रोग, बुढ़ापा और मरण के विनाश से युक्त (भूत्यै) मोक्षलक्ष्मी के लिए (धर्मचक्रं) धर्म के समूह को अथवा देवरचित धर्मचक्रनामक अतिशय विशेष को (वर्तयसिस्म) प्रवर्तित किया था।

भावार्थ–कुन्थुनाथ भगवान्, कुन्थु आदि समस्त जीवों पर एक दया का ही विस्तार करते थे, इसलिए उनका 'कुन्थुनाथ' यह नाम अत्यन्त सार्थक था। कुन्थुनाथ भगवान्, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर दोनों पदों के धारक थे, इसलिए कहा गया है कि हे भगवन्! आपने गृहस्थ अवस्था में राज्य वैभव के लिए राजाधिराज होकर चक्ररत्न को प्रवर्तित किया था और पश्चात् वीतरागावस्था में ज्वरादि समस्त रोग, बुढ़ापा और मरण आदि से रहित, उत्कृष्ट मोक्षलक्ष्मी के लिए इस संसार में–षट्खण्ड भरतक्षेत्र में धर्मचक्र को प्रवर्तित किया था ॥१॥

---

१. ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः, जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु हों उसे वसन्ततिलका कहते हैं।

यदि राज्यविभूतिसंपन्नो भगवांस्तर्हि किमर्थं सा परित्यक्तेत्यत्राह—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥२॥

तृष्णेत्यादि—अद्भुतवान्, कथंभूतो? विषयसौख्यपराङ्मुखः विषयाणां स्रग्वनितादीनां कार्यभूतं सौख्यं विषयसौख्यं तस्मिन् पराङ्मुखो निवृत्तः, किंविशिष्टः सन्? आत्मवान् वश्येन्द्रियः, कुतस्तथाभूतः सन् सौख्यपराङ्मुखोऽभूदित्याह—तृष्णेत्यादि—तृष्णा विषयाकाङ्क्षास्ता एवार्चिषोऽग्निज्वालाः परि समन्ताद् दहन्ति। ननु मानुषमात्रं ताः परितापयन्ति तस्याभिलषितविषयाप्राप्तेः न तु चक्रवर्तिनं विपर्ययादित्यत्राह—नेत्यादि—न शान्तिरुपशमः आसां तृष्णार्चिषां, कैः? इष्टेन्द्रियार्थविभवैः इष्टा मनोज्ञास्ते च ते इन्द्रियार्थाश्च विषयास्तेषां विभवाः सम्पत्तयस्तैः, कुतस्तैस्तासां न शान्तिः? यस्मात् परिवृद्धिरेव परि समन्ताद् वृद्धिरेव उत्कर्ष एव यतस्तैस्तासां 'लाभाल्लोभः प्रवर्तते' इत्यभिधानात्[1]। कथं ताः परितापयन्ति? स्थित्यैव स्वभावेनैव यदि वा स्थित्यैव क्रियान्तरोपरमेणैव सन्ततमित्यर्थः। किं पुनः किञ्चिदपि तद्विभवैर्न क्रियते इत्यत्राह—कायेत्यादि—एते इष्टेन्द्रियार्थविभवाः कायस्य शरीरस्य परिसमन्ताद् तापः संतापस्तं हरतीति कायपरितापहरं निमित्तकारणं भवति न पुनस्तृष्णार्चिषामुपशान्तिकरा भवन्तीत्यर्थः, इति एवं ज्ञात्वा आत्मवान् भवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्।

आगे भगवान् की राज्यसंपदा के त्याग का कारण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तृष्णार्चिषः) विषयाकाङ्क्षारूप अग्नि की ज्वालाएँ (परिदहन्ति) इस जीव को सब ओर से जला रही हैं, (इष्टेन्द्रियार्थविभवैः) इष्ट इन्द्रियों के विषयों से (आसां) इन विषयाकाङ्क्षारूप अग्नि की ज्वालाओं की (न शान्तिः) शान्ति नहीं होती किन्तु (परिवृद्धिरेव) सब ओर से वृद्धि ही होती है। यह वृद्धि (स्थित्यैव) इन्द्रिय विषयों के स्वभाव से ही होती है (निमित्तं) निमित्त कारण (कायपरितापहरं) मात्र शरीर के संताप को हरने वाला होता है, विषयाकाङ्क्षारूप अग्निज्वालाओं का उपशमन करने वाला नहीं होता। हे भगवन्! (इति) यह सब विचार कर ही (आत्मवान्) जितेन्द्रिय होते हुए आप (विषयसौख्यपराङ्मुखः) विषयजन्य सुख से पराङ्मुख (अभूत्) हुए हैं।

१. इतोऽग्रे ख-पुस्तके निम्नाङ्कितः श्लोकोऽधिको वर्तते—
'त्रिरासां चिन्तितं कार्यं त्रिकोट्या नैव पूर्यते।
यथालाभस्तथा लोभो लाभाल्लोभः प्रवर्तते॥

भावार्थ—कुन्थुजिनेन्द्र, चक्रवर्ती की अटूट सम्पदा को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक हुए थे, उसका कारण था वह प्रतिबोध, जो उन्हें अन्तरङ्ग की प्रेरणा से प्राप्त हुआ था कि हे आत्मन् ! स्त्री, माला आदि विषयों की आकाङ्क्षारूप अग्नि की ज्वालाएँ इस जीव को निरन्तर जलाती रहती हैं । उन विषयाकाङ्क्षाओं की पूर्ति के लिए यह जीव यद्यपि इन्द्रियों के इष्ट विषयों का संग्रह करता है, परन्तु उनसे उन विषयाकाङ्क्षा-रूप अग्नि ज्वालाओं की शान्ति न होकर उल्टी वृद्धि ही होती है । जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की शान्ति नहीं होती, किन्तु वृद्धि ही होती है। उसी प्रकार इष्ट विषयों से विषयाकाङ्क्षाओं की शान्ति नहीं होती, किन्तु वृद्धि ही होती है । इन विषयों का ऐसा ही स्वभाव है । यह मनुष्य अपने पुरुषार्थ के अहंकार से उन विषयाकाङ्क्षाओं को उपशान्त करने के लिए यद्यपि तरह-तरह के निमित्त जुटाता है, पर वह निमित्त कदाचित् शरीर के संताप को ही दूर कर पाता है, अन्तरङ्ग के परिताप को दूर नहीं कर पाता । अन्तरङ्ग का ताप तो तब मिटे जब यह जीव विषयों को सुख का कारण न मानकर संतोष को ही सुख का कारण समझने लगे । कुन्थुनाथ भगवान् इस सब वस्तु स्थिति को समझते थे, अतः वे विषयसुख से पराङ्मुख होकर निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक हुए थे ।।२।।

किं पुनस्तत्पराङ्मुखेन भूत्वा कृतमित्याह—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।।३।।

बाह्यमित्यादि—आचरंस्त्वमाचरितवान्, त्वं कुन्थुर्जिनः, किं तत् ? तपः, कथंभूतम् ? बाह्यमनशनादिलक्षणं, किंविशिष्टं ? परमदुश्चरं परं च तद् दुश्चरं च अतिदुष्करम्, किमर्थ-माचरंस्त्वमित्याह—आध्यात्मिकस्येत्यादि—अध्यात्मभवमाध्यात्मिकं तस्य तपसो ध्यान-लक्षणस्य परिसमन्ताद् वृंहणार्थं वृद्ध्यर्थम् । अतो बाह्यं तप आचरन् ववृतिषे वर्तितवान्, क्व ? ध्यानद्वये धर्म्यशुक्ललक्षणे, कथंभूते ? अतिशयोपपन्ने परमातिशयप्राप्ते, यदि वा अतिशयेन भेदेन उपपन्ने युक्ते, धर्म्यध्यानं हि आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणैर्भेदै-र्युक्तं, शुक्लध्यानं तु पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तिलक्षणैरिति, पुनरपि कथंभूते एतस्मिन् ध्यानद्वये ? उत्तरस्मिन् आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीति विन्यासापेक्षया उत्तरस्मिन् धर्म्यशुक्लरूपे, किंकृत्वा तथाभूते ध्यानद्वये ववृतिषे ? निरस्य, किं तद् ? ध्यानं, किंविशिष्टं ? कलुषद्वयमार्त्तरौद्ररूपम् ।।३।।

अब भगवान् के बाह्य और आभ्यन्तर तप की प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आपने (आध्यात्मिकस्य) अन्तरङ्ग (तपसः) तप की (परिवृंहणार्थम्) वृद्धि के लिए (परमदुश्चरं) अत्यन्त कठिन (बाह्यं तपः) अनशनादि बाह्यतप का (आचरन्) आचरण करते हुए (कलुषद्वयं) आर्त्तरौद्ररूप दो खोटे (ध्यानं) ध्यानों को (निरस्य) छोड़कर आप (अतिशयोपपन्ने) उत्कृष्ट अतिशय से युक्त अथवा अपने अवान्तर भेदों से सहित (उत्तरस्मिन्) आगे के (ध्यानद्वये) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों में (ववृतिषे) स्थिर हुए थे ।

भावार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप के दो भेद हैं । अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश; ये छह बाह्यतप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान; ये छह आभ्यन्तरतप हैं । आभ्यन्तरतपों की वृद्धि के लिए यदि बाह्यतप तपे जाते हैं तो वे सुतप कहलाते हैं अन्यथा कायक्लेश मात्र के कारण कहे जाते हैं । हे कुन्थुजिनेन्द्र ! आपने आभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए ही अतिशय कठिन बाह्यतप का आचरण किया था । अभिप्राय यह है कि आप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों का आचरणकर संवर और निर्जरा के मार्ग में अग्रसर हुए थे । इसी तरह ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार भेद हैं । इनमें से प्रारम्भ के दो ध्यान कलुषित–खोटे ध्यान हैं–नरक तथा तिर्यञ्च आयु के बन्ध के कारण होने से अत्यन्त त्याज्य हैं तथा धर्म्य और शुक्लध्यान, स्वर्ग तथा मोक्ष के कारण होने से प्रशस्त ध्यान हैं–उपादेय हैं । ये दोनों ही ध्यान परम अतिशय से युक्त हैं अथवा अतिशय का अर्थ भेद भी होता है, इसलिए धर्म्यध्यान–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय; इन चार अवान्तर भेदों से सहित है तथा शुक्लध्यान–पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति; इन चार अवान्तर भेदों से युक्त है । भगवान् कुन्थुनाथ, मुनि अवस्था में आर्त्त और रौद्ररूप दो दुर्ध्यानों को छोड़कर धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो उत्तर ध्यानों में निमग्न हुए थे तथा उसके फलस्वरूप क्रम-क्रम से कर्मों का क्षय करते हुए, आपने छद्मस्थ अवस्था का काल व्यतीत किया था ।।३।।

तत्र वर्तित्वा किं कृतवानित्यत्राह—

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः ।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ।।४।।

हुत्वेति–बभ्राजिषे भासितवान्, कथंभूतः सन्? विनेता प्रणेता, कस्य? सकलवेदविधेः सकलस्य लोकालोकस्य वेदः परिज्ञानं सकलवेदस्तस्य विधिर्विधानं कारणं यस्मादसौ सकलवेदविधिरागमस्तस्य, किं कृत्वा? हुत्वा दग्ध्वा क्षयमुपनीय, काः? स्वकर्मकटुकप्रकृतीः कटुका विरूपफलदायिन्यः ताश्च ताः प्रकृतयश्च स्वकर्मणां कटुकप्रकृतयः स्वकर्मकटुकप्रकृतयः ताः, कति? चतस्रः घातिचतुष्टयमित्यर्थः, क्व ता हुत्वेत्याह–रत्नेत्यादि–रत्नानां सम्यग्दर्शनादीनां त्रयं तस्यातिशयः प्रकर्षः स एव तेजः कर्मेन्धनदहनस्वभावत्वात् तस्मिन् किंविशिष्टो? जातवीर्यः जातं प्रादुर्भूतं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य एवंभूतो भगवान् क इव क्व? बभ्राजिषे इत्याह–व्यभ्रे इत्यादि–विवस्वानादित्यो यथा यद्वत् बभ्राजिषे कथंभूतो? दीप्तरुचिः दीप्ता रुचिर्यस्य, क्व? वियति गगने, कथंभूते? व्यभ्रे विगतान्यभ्राणि यस्मिन् ॥४॥

अब ध्यान का फल कहते हैं—

अन्वयार्थ–हे भगवन्! (चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतीः) अपने कर्मों की चार कटुक प्रकृतियों को (रत्नत्रयातिशयतेजसि) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्रकृष्टतारूप अग्नि में (हुत्वा) होमकर (जातवीर्यः) आप सामर्थ्यवान् अनन्तवीर्य से युक्त हुए तथा (सकलवेदविधेः) समस्त लोकालोक विषयक ज्ञान के विधायक परमागम के (विनेता) प्रणेता होकर (तथा) उस तरह (बभ्राजिषे) देदीप्यमान हुए (यथा) जिस तरह कि (व्यभ्रे) मेघ रहित (वियति) आकाश में (दीप्तरुचिः) देदीप्यमान किरणों से युक्त (विवस्वान्) सूर्य।

भावार्थ–कुन्थुनाथ जिनेन्द्र, दशम गुणस्थान के अन्त में मोहनीय और बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन, इस तरह चार कर्म प्रकृतियों का क्षयकर, तेरहवें गुणस्थान में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य; इन चार आत्मीय गुणों से युक्त हुए थे। कुबेर निर्मित समवसरण में विराजमान होकर उन्होंने दिव्यध्वनि द्वारा जो पदार्थों का उपदेश दिया था, उसी के आधार पर चार ज्ञान के धारी गणधरदेव ने द्वादशाङ्गरूप परमागम की रचना की थी, इसलिए मूलकर्ता होने से भगवान् कुन्थुनाथ ही उस परमागम के प्रणेता कहे जाते थे। उस समय लोकोत्तर तेज से युक्त भगवान् कुन्थुजिनेन्द्र समवसरण में ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसे कि मेघरहित आकाश में प्रचण्ड किरणों से युक्त सूर्य सुशोभित होता है ॥४॥

उक्तार्थफलं दर्शयन्नाह—

यस्मान्मुनीन्द्र ! तव लोकपितामहाद्या विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद् भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥५॥

यस्मादित्यादि—यस्मात्कारणात्, मुनीन्द्र ! यतिप्रभो ! लोकपितामहो ब्रह्मा आद्यो येषामीश्वरकपिलसुगतानां ते तथोक्ताः, ते नाप्नुवन्ति न प्राप्नुवन्ति, कां ? तव विद्याविभूतिकणिकामपि—विद्या केवलज्ञानं विभूतिः समवसरणादिलक्ष्मीः तव या विद्या विभूतिश्च तयोः कणिकामपि लवमपि, तस्मात्कारणात् भवन्तं कुन्थुतीर्थङ्करदेवं, कथंभूतं ? अजं न जायत इत्यजो जन्मरहितस्तं पुनरपि कथंभूतं ? अप्रतिमेयमपरिमेयं अनन्तं केवलमित्यभिधानात्, पुनरपि कथंभूतं ? स्तुत्यं स्तवार्हं इत्थंभूतं भवन्तं स्तुवन्ति, के ते ? आर्या गणधरदेवादिमुनयः, किंविशिष्टाः ? सुधियः शोभना धीर्बुद्धिर्येषां, पुनरपि कथंभूताः ? स्वहितैकतानाः स्वस्मै हितं निःश्रेयसं तदेकस्तानो विषयो येषां ते स्वहितैकतानाः मोक्षाकाङ्क्षिण इत्यर्थः ॥५॥

अब भगवान् की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं–

अन्वयार्थ–(मुनीन्द्र !) हे यतिनाथ ! (यस्मात्) चूँकि (लोकपितामहाद्याः) ब्रह्मा आदि लौकिक देवता (तव) आपकी (विद्याविभूतिकणिकामपि) केवलज्ञानरूप विद्या और समवसरणरूप विभूति के एक कणमात्र को भी (न आप्नुवन्ति) नहीं प्राप्त करते हैं (तस्मात्) इसलिए (सुधियः) उत्तम बुद्धि के धारक (स्वहितैकतानाः) एक आत्महित में निमग्न–मोक्ष के अभिलाषी (आर्याः) गणधरादिदेव (अजं) जन्म से रहित, (अप्रतिमेयं) अपरिमित–अनन्त तथा (स्तुत्यं) स्तुति के योग्य (भवन्तं) आपकी (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं ।

भावार्थ–यहाँ कुन्थुनाथ भगवान् के बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के वैभव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका जो लोकालोकावभासी केवलज्ञान है तथा अष्टप्रातिहार्यरूप जो आपकी बाह्य विभूति है; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कपिल तथा बुद्ध आदि लौकिक देवता उसके एक छोटे से कण को भी नहीं प्राप्त कर सके हैं । साथ ही आप अज हैं–आगे आपको जन्म नहीं धारण करना है, अप्रतिमेय हैं–छद्मस्थ जीव अपने अल्पतम ज्ञान से आपके अनन्तगुणों की गरिमा को नहीं समझ सकते हैं तथा सौ इन्द्र निरन्तर आपकी वन्दना करते हैं । इन सब विशेषताओं से आकृष्ट होकर उत्कृष्ट बुद्धि के धारक मोक्षाभिलाषी गणधरादि आर्यपुरुष आपकी स्तुति करते हैं ॥५॥

इति कुन्थुजिनस्तवनम्

श्री अरजिनस्तवनम्

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१॥

गुणस्तोकमित्यादि—पथ्यावक्त्र-छन्दः[1]। गुणानां स्तोकं लवं सद् विद्यमानं उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य तद्बहुत्वकथा तेषां गुणानां बहुत्वकीर्त्तनं स्तुतिर्लोके प्रसिद्धा, सा स्तुतिस्त्वयि अरतीर्थकरदेवे कथं कर्तुं शक्या, कुतो न शक्या? ते गुणा वक्तुमशक्या यतः, कुतस्ते तव गुणा वक्तुं न शक्यन्त इति चेत्? आनन्त्यात् ॥१॥

गुणों की अधिकता के कारण आपकी स्तुति शक्य नहीं है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सद्) विद्यमान (गुणस्तोकं) अल्पगुणों का (उल्लङ्घ्य) उल्लङ्घन कर (तद्बहुत्वकथा) उन गुणों की अधिकता का कथन करना (स्तुतिः) स्तुति कहलाती है परन्तु (आनन्त्यात्) अनन्त होने के कारण (ते) आपके (गुणाः) गुण (वक्तुमशक्याः) कहने के लिए अशक्य हैं अतः (त्वयि) आपके विषय में (सा) वह स्तुति (कथं) किस प्रकार संभव है ।

भावार्थ—थोड़ी चीज को बढ़ाकर कहना स्तुति कहलाती है, परन्तु हे अरजिन! आपके गुण अनन्त होने से कहने में नहीं आते तब आपकी स्तुति कैसे हो सकती है? ॥१॥

तर्हि मौनं कर्तुमर्हमित्यत्राह—

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥२॥

तथापीत्यादि—तद्गुणानां स्तवनं कर्तुमशक्यत्वप्रकारेणापि ते तव मुनीन्द्रस्य गणधर-देवादिमुनिस्वामिनः यतो यस्मात्कारणात् नामापि न केवलं गुणाः कीर्तितं स्तुतं भक्त्या उच्चरितं पुनाति पवित्रीकरोति नोऽस्मान्, कथंभूतस्य ते? पुण्यकीर्तेः पुण्या प्रशस्ता कीर्तिर्वाणी ख्यातिर्वा यस्य, पुण्याय वा पुण्यनिमित्तं कीर्तिः स्तुतिर्यस्य सः पुण्य-कीर्तिस्तस्य, यत एवं ततस्तस्मात्कारणात् ब्रूयाम स्वभक्त्या स्वशक्त्या च स्तुयाम किञ्चन तव गुणलवमात्रम् ॥२॥

---

१. 'युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्,' जिसके द्वितीय और चतुर्थ चरण में चतुर्थ अक्षर के आगे जगण हो तथा प्रथम और तृतीय चरण में यगण हो उसे पथ्यावक्त्र छन्द कहते हैं । यह अनुष्टप् छन्द का ही एक भेद है ।

यदि शक्य नहीं है तो चुप बैठो, ऐसा कहे जाने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—यद्यपि आपके गुणों की स्तुति अशक्य है (तथापि) तो भी (पुण्य-कीर्तेः) प्रशस्तयशवाणी अथवा ख्याति के धारक तथा (मुनीन्द्रस्य) गणधरादि मुनियों के स्वामी (ते) आपका (कीर्तितं) उच्चरित (नामापि) नाम भी (यतः) चूँकि (नः) हमें (पुनाति) पवित्र करता है (ततः) इसलिए (किञ्चन) कुछ (ब्रूयाम) कहते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! स्तुति का कथित लक्षण घटित न होने से वह तो आपमें बनती नहीं है फिर भी आप पवित्र कीर्ति, वाणी अथवा ख्याति के धारक तथा गणधरादि मुनियों के स्वामी हैं, अतः आपका नामकीर्तन भी हमें पवित्र करता है, इसीलिए हम कुछ कह रहे हैं—आपके गुणों का लेशमात्र कथन करने के लिए उद्यत हैं ।।२।।

तदेवाह—

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ।।३।।

लक्ष्मीत्यादि—ते तव जरत्तृणमिवाभवत् जीर्णं तृणमिव संजातं, किं तत् ? साम्राज्यं, कथंभूतं ? सार्वभौमं सर्वभूमौ भवं सार्वभौमं, पुनरपि कथंभूतं ? चक्रलाञ्छनं चक्रं लाञ्छनं चिह्नं यस्य, पुनरपि किंविशिष्टं ? लक्ष्मीविभवसर्वस्वं लक्ष्म्या विभवो विभूतिः सर्वस्वं आत्मीयो यस्य, कथंभूतस्य ते ? मुमुक्षोः सर्वसङ्गपरित्यागमिच्छोः ।

भगवान् की निःस्पृहता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (लक्ष्मीविभवसर्वस्वं) लक्ष्मी की विभूतिरूप सर्वस्व से युक्त तथा (चक्रलाञ्छनं) सुदर्शनचक्ररूप चिह्न से सहित (सार्वभौमं) समस्त पृथिवी सम्बन्धी जो (ते) आपका (साम्राज्यं) साम्राज्य था वह (मुमुक्षोः) मोक्ष के इच्छुक होने से आपके लिए (जरत्तृणमिव) जीर्णतृण के समान (अभवत्) हो गया था ।

भावार्थ—अरनाथ भगवान्, तीर्थङ्कर होने के साथ-साथ चक्रवर्ती भी थे । भरतक्षेत्र की षट्खण्ड भूमि में उनका विशाल साम्राज्य फैला हुआ था, चौदह रत्न तथा नौ निधियों से प्राप्त होने वाली अटूट लक्ष्मी का वैभव उनके साम्राज्य का सर्वस्व था तथा देवोपनीत सुदर्शनचक्र उनके साम्राज्य का चिह्न था, परन्तु जब वे संसार से विरक्त हो मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक हुए, तब वह विशाल साम्राज्य उन्हें जीर्णतृण के समान तुच्छ जान पड़ने लगा, उस विशाल साम्राज्य को छोड़ते हुए उन्हें रञ्चमात्र भी लगाव उत्पन्न नहीं हुआ ।।३।।

एवमात्मगतं परमवीतरागत्वं गुणं प्रदर्श्य शरीरगतं गुणं प्रदर्शयन्नाह—

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ।।४।।

तवेत्यादि—तव रूपस्य त्वदीयशरीरमूर्तेः सौन्दर्यं रमणीयतां दृष्ट्वा तृप्तिं दर्शनाकाङ्क्षापरिपूर्तिं अनापिवान् अप्राप्तवान्, कोऽसौ ? शक्रः कथंभूतो ? द्व्यक्षः द्वे अक्षिणी लोचने यस्यासौ द्व्यक्षः, पश्चात् बभूव संजातः, किंविशिष्टः सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि[1] यस्यासौ सहस्राक्षः सहस्रलोचनः न केवलं सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः अनेकाश्चर्यश्च बभूव ।।४।।

भगवान् की शारीरिक सुन्दरता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपके (रूपस्य) शरीर सम्बन्धी रूप की (सौन्दर्यं) सुन्दरता को (दृष्ट्वा) देखकर (तृप्तिं) संतोष को (अनापिवान्) प्राप्त न होने वाला (द्व्यक्षः) दो नेत्रों का धारक (शक्रः) इन्द्र (बहुविस्मयः) बहुत भारी आश्चर्य से युक्त (सहस्राक्षः) एक हजार नेत्रों का धारक (बभूव) हुआ था ।

भावार्थ—भगवान् अरनाथ; तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारक थे । कामदेव होने के कारण उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर था । जन्मकल्याणक के समय जब इन्द्राणी बालकरूपधारी अरजिनेन्द्र को प्रसूतिकागृह से बाहर लाकर इन्द्र को सौंपने लगी, तब इन्द्र उनकी सुन्दरता देख आश्चर्य में पड़ गया । वह अपने स्वाभाविक दो नेत्रों से उनकी सुन्दरता देख सन्तोष को प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए विक्रिया से उसने एक हजार नेत्र बना लिए तभी से इन्द्र का 'सहस्राक्ष' नाम भी प्रचलित हो गया ।।४।।

इदानीमन्तरङ्गमहाशत्रुपराजयलक्षणं गुणं भगवतः स्तुवन्नाह—

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।
दृष्टिसंपदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ।।५।।

मोहरूप इत्यादि—मोह इत्युपलक्षणं ज्ञानावरणादिघातिकर्मणां, मोहो मोहनीयं कर्म रूपं स्वभावो यस्य स मोहरूपः, कोऽसौ ? रिपुः शत्रुः, कथंभूतः ? पापः पापरूपः घातिचतुष्टयं हि पापमुच्यते 'शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्' 'अतोऽन्यत्पापम्' इति वचनात्, पुनरपि कथंभूतः ? कषायभटसाधनः कषाया एव भटास्त एव साधनं सैन्यं तन्त्रं यस्य, इत्थंभूतो रिपुः त्वया मुनीन्द्रेण पराजितो निर्मूलितः, हे धीर ! परीषहादिभ्योऽक्षुभितचित्त ! कैः कृत्वेत्याह—दृष्टीत्यादि—दृष्टिः सम्यग्दर्शनं, पद्यते गम्यतेऽर्थो यया सा पत् प्रतिपत्तिः

१. अक्षणां सहस्रं

समीचीना पत् संपत् सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः, उपेक्षा परमोदासीनलक्षणं चारित्रं, दृष्टिश्च संपच्चोपेक्षा च ता एव अस्त्राणि प्रहरणानि तैः ॥५॥

आगे आपने मोहरूपी भट को जीता है, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे धीर) परीषहादि से जिनका चित्त कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ऐसे हे अरजिनेन्द्र! (त्वया) आपने (पापः) पापरूप तथा (कषायभटसाधनः) कषायरूप योद्धाओं की सेना से सहित (मोहरूपो रिपुः) मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को (दृष्टिसंपदुपेक्षास्त्रैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप शस्त्रों के द्वारा (पराजितः) पराजित किया है।

भावार्थ—आत्मा तो शुद्धज्ञायक भाव से युक्त है, परन्तु अनादिकाल से एक क्षेत्रावगाह को प्राप्त हुए कर्मरूप पुद्‌गल, आत्मा को कलुषित कर संसार भ्रमण का पात्र बना रहे हैं। उन कर्मरूप पुद्‌गलद्रव्यों में मोहकर्म सबसे प्रधान है। उसके दो भेद हैं—१. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से यह आत्मा मिथ्यादृष्टि बनकर स्वरूप को भूल जाता है और शरीरादि पर पदार्थों में आत्मबुद्धि करने लगता है। चारित्रमोह के उदय से क्रोधादिकषाय तथा हास्य आदि नोकषायों की उत्पत्ति होती है। यह मोहकर्म ही मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय के रूप में नवीन कर्मबन्ध का कारण है। आचार्य ने इस मोहकर्म को रिपु की उपमा दी है। जिस प्रकार किसी शक्तिशाली रिपु के पास योद्धाओं की सेना होती है, उसी प्रकार इस मोहकर्म के पास कषायरूपी योद्धाओं की सेना है। हे अरनाथ जिनेन्द्र! आपने इस मोहरूपी प्रबल शत्रु को दृष्टि—सम्यग्दर्शन, संपद्—सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परम उदासीन-भावरूप सम्यक्चारित्र, इस प्रकार रत्नत्रयरूप अस्त्रों के द्वारा पराजित किया है ॥५॥

मोहजयाद् यज्ञातं तद्दर्शयन्नाह—

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥६॥

कन्दर्पस्येत्यादि—कन्दर्पस्य कामदेवस्य उद्धरः उल्वणः उत्कटः दर्पो गर्वोऽहंकारः, कथंभूतः? त्रैलोक्यविजयार्जितः त्रैलोक्यस्य विजयस्तेन अर्जित उपार्जितः ह्रेपयामास लज्जां नीतवान् तं कन्दर्पं, कथंभूतः सन्? प्रतिहतो विनाशित उदयो यस्यासौ प्रतिहतोदयोऽलब्धास्पद इत्यर्थः, क्व? त्वयि कथंभूते? धीरेऽक्षुभितचित्ते ॥६॥

अब मोह विजय का फल दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यविजयार्जितः) तीनों लोकों की विजय से उपार्जित (कन्दर्पस्य) कामदेव के (उद्धरः) उत्कट—बहुत भारी (दर्पः) गर्व ने (धीरे) धीर-वीर (त्वयि) आपके विषय में (प्रतिहतोदयः सन्) खण्डित प्रसर हो (तं) कामदेव को (ह्रेपयामास) लज्जित किया था।

भावार्थ—हे भगवन्! कामदेव को इस बात का बड़ा गर्व था कि मैंने तीनों लोकों में विजय प्राप्त की है, परन्तु आप इतने धीर-वीर निकले कि उसका वह सारा गर्व आपमें खण्डित हो गया—आपमें स्थान नहीं पा सका। आपमें खण्डित गर्व ने कामदेव को बहुत लज्जित किया—उसकी सारी ऐंठ भुला दी। भाव यह है कि आप सचमुच ही कामविजयी हैं ॥६॥

मोहे कन्दर्पे च विनिर्जिते यज्ञातं तद्दर्शयन्नाह—

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्दुरुत्तरा।
तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥७॥

आयत्यामित्यादि—तृष्णैव नदी तृष्णानदी त्वया अरजिनेन उत्तीर्णा तृष्णानद्या दूरे भगवान् व्यवस्थित इत्यर्थः। कया? विद्यानावा विद्यैव नौस्तया, कथंभूतया? विविक्तया विशुद्धया निर्दोषया, किंविशिष्टासौ दुरुत्तरा दुःखेन महता कष्टेनोत्तीर्यत इति, पुनरपि कथंभूता? दुःखयोनिः दुःखस्य योनिरुत्पत्तिहेतुः कदा? आयत्यां च परलोके तदात्वे च इहलोके, चकार उभयत्र परस्परसमुच्चये ॥७॥

मोह और काम के जीतने का फल दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (आयत्यां च तदात्वे च) जो परलोक तथा इहलोक – दोनों ही जगह (दुःखयोनिः) दुःखों की उत्पत्ति का कारण है तथा (दुरुत्तरा) जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसी (तृष्णानदी) तृष्णारूपी नदी (त्वया) आपने (विविक्तया) निर्दोष (विद्यानावा) विद्या—सम्यग्ज्ञानरूपी नौका के द्वारा (उत्तीर्णा) पार की है।

भावार्थ—तृष्णा का अर्थ भोगाकाङ्क्षा है, इस भोगाकाङ्क्षा को आचार्य ने नदी की उपमा दी है। जिस तरह नदी लम्बी होती है और अपने उत्पत्तिस्थान से लेकर आगे बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार यह भोगाकाङ्क्षा भी बहुत लम्बी है तथा अपने प्रारम्भिक स्थान से लेकर आगे बढ़ती ही जाती है। यह भोगाकाङ्क्षारूपी नदी दुरुत्तर

है—कठिनाई से पार करने योग्य है, विरले ही निकट भव्यजीव इस नदी से पार हो पाते हैं, संसार के बहुसंख्यक प्राणी इसी भोगाकाङ्क्षारूपी नदी में मज्जनोन्मज्जन करते रहते हैं। यह नदी वर्तमान भव में दुख का कारण है और परभव में भी दुख का कारण है—भोगोपभोग की सामग्री जुटाते समय इस भव में जीवों को अपरिमित दुःख उठाना पड़ता है और उनके भोग से उत्पन्न तीव्र कर्मबन्ध का उदय होने पर परभव में—नरक निगोदादि की पर्याय में दुःख भोगना पड़ता है। यदि नदी को पार किया जा सकता है तो विद्यारूपी नौका के द्वारा ही पार किया जा सकता है। विद्या, सम्यग्ज्ञान को कहते हैं और उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। सम्यग्दर्शन-मूलक सम्यग्ज्ञान के द्वारा इस जीव के हृदय में यह विवेक प्रकट होता है, कि हे आत्मन्! इस भोगाकाङ्क्षा से कभी तृप्ति होने वाली नहीं है। भोगों को भोगकर आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ है। सुख, आत्मा का असाधारण गुण है, अतः उसकी उद्भूति आत्मा में ही हो सकती है भोगोपभोग के पदार्थों में नहीं, इसलिए उनकी ओर से चित्त हटाकर आत्मस्वरूप में लीन कर। जिस प्रकार सछिद्र नौका से नदी पार नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सदोष—ख्याति-लाभ आदि दोषों से सहित सम्यग्ज्ञानरूपी नौका के द्वारा भोगाकाङ्क्षारूपी नदी को पार नहीं किया जा सकता, इसके लिए तो विविक्त—निर्दोष नौका ही आवश्यक है ॥७॥

मोहकामतृष्णोन्मूलने च यज्जातं तद्दर्शयन्नाह—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥८॥

अन्तक इत्यादि—अन्तको यमः, कथंभूतः? क्रन्दकः आक्रन्दनहेतुः, केषां? नृणाम्, पुनः कथंभूतो? जन्मज्वरसखः जन्मज्वरयोः सखा, कदा? सदा सर्वकालं, स इत्थंभूतो-ऽन्तको व्यावृत्तः उपरतः, कस्मात्? कामकारतः कामेनेच्छया करणं कामकारस्तस्मात् कामकारतो यदृच्छावृत्तितः, त्वयि प्रतिहतेच्छः सम्पन्नः इत्यर्थः। किं कृत्वासौ ततो व्यावृत्तः? प्राप्य, कं? त्वां अरतीर्थकरदेवं कथंभूतं? अन्तकान्तकं अन्तकस्य यम-स्यान्तकं विनाशकम् ॥८॥

मोह, काम और तृष्णा के नष्ट होने पर जो हुआ, उसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (जन्मज्वरसखः) पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगों का मित्र और (सदा) हमेशा (नृणां क्रन्दकः) मनुष्यों को रुलाने वाला (अन्तकः) यम (अन्त-

कान्तकं) यम का अन्त करने वाले (त्वाम्) आपको (प्राप्य) प्राप्त कर (कामकारतः) अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से (व्यावृत्तः) उपरत हुआ है ।

भावार्थ–भुज्यमान आयु के प्रदेशों की निषेक रचना के अनुसार क्रम-क्रम से अथवा विष-वेदना-रक्तक्षय आदि का निमित्त मिलने पर युगपत् विघात होने से जो वर्तमान पर्याय की समाप्ति होती है, उसे अन्तक, यम या मरण कहते हैं । इस जीव को मरण के बाद नया जन्म धारण करना पड़ता है तथा जीवनपर्यन्त ज्वर आदि रोगों से जूझना पड़ता है, इसलिए मरण को जन्म तथा ज्वरादि का सखा–सहायक कहा जाता है । मरण, स्वयं निज की तथा स्त्री, पुत्र आदि इष्टजनों की वर्तमान पर्याय के नाश का कारण होने से मनुष्यों को सदा रुलाता है–दुःखी करता है, परन्तु हे अरजिनेन्द्र ! आप अन्तक–मरण का भी अन्त करने वाले हैं–समस्त कर्मों का क्षयकर अजर-अमर अविनाशी पद को प्राप्त करने वाले हैं, इसलिए आपको पाकर वह अन्तक–वह यम अपनी मनचाही प्रवृत्ति से दूर हट गया है–आपके ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है । सारांश यह है कि जो पूर्वोक्त क्रम से मोह, काम और तृष्णा को नष्ट कर देता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही होती है ॥८॥

ननु भगवति मोहादिप्रक्षयः कुतोऽवगत इत्याह—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् ।
रूपमेव तवाचष्टे धीर ! दोषविनिग्रहम् ॥९॥

भूषेत्यादि–तव रूपमेवाचष्टे कथयति, कं ? दोषविनिग्रहं दोषस्य मोहादेः विनिग्रहं प्रक्षयं हे धीर ! अरस्वामिन् ! कथंभूतं रूपं ? भूषावेषायुधत्यागि भूषा अलंकारः कटक-कटिसूत्रादिः वेषः शरीरोत्कर्षः उद्धततादिः, आयुधं प्रहरणं तानि त्यजति इत्येवंशीलं, पुनरपि कथंभूतं ? विद्यादमदयापरं परमज्ञानोपशमकारुण्यतन्त्रं स्वाधीनम् ॥९॥

अब भगवान् के मोहादि का क्षय कैसे जाना गया ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ–(धीर !) हे धीर ! अरजिनेन्द्र ! (भूषावेषायुधत्यागि) आभूषणों, वेषों तथा शस्त्र का त्याग करने वाला तथा (विद्यादमदयापरम्) ज्ञान, इन्द्रियदमन और दया में तत्पर (तव) आपका (रूपमेव) रूप ही (दोषविनिग्रहं) रागादि दोषों के अभाव को (आचष्टे) कहता है ।

भावार्थ–संसार के रागी-द्वेषी मानव कटक, कुण्डल, केयूर आदि आभूषणों के द्वारा अपनी शारीरिक शोभा को बढ़ाना चाहते हैं, तरह-तरह के वेष धारणकर अपनी

महत्ता स्थापित करना चाहते हैं तथा शस्त्र धारणकर अपना भय दूर करते हुए, दूसरों को आतङ्कित करने का प्रयत्न करते हैं। उनके शरीर की प्रवृत्ति स्वाध्याय आदि ज्ञान के साधनों में न होकर कषाय की पूर्ति करने में होती है, इन्द्रियों के विषयों में झंपापात करते हुए वे सदा भोगाकाङ्क्षा से आतुर रहते हैं और शरीर की इतनी निर्दयतापूर्ण प्रवृत्ति करते हैं कि उससे दया का भाव सदा पलायमान रहता है। इन सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी उनकी आत्मा असंख्य दोषों का पुञ्ज है, परन्तु हे अरजिनेन्द्र! आप शरीर से इतने निःस्पृह हैं कि उसे अलङ्कृत करने का भाव कभी आपके हृदय में उत्पन्न नहीं होता। आप कल्पित महत्वाकाङ्क्षा से इतने दूर हैं कि कभी शरीराश्रित वेषों की ओर दृष्टि नहीं देते—मात्र नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारणकर अन्य सब वेषों का आप त्याग कर चुके हैं। आप इतने निर्भय और प्रतिकार की भावना से रहित हैं कि आपको आत्मरक्षा तथा प्रतिकार करने के लिए अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, चूँकि ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है, अतः आप उसी के विकास में निरन्तर संलग्न रहते हैं। इन्द्रियों के विषयों पर आपने पूर्ण नियंत्रण प्राप्तकर लिया है अर्थात् स्पर्शनादि इन्द्रियाँ आपके स्वाधीन हैं और ईर्यासमिति आदि से आपकी दया—जीवरक्षा का भाव सदा प्रकट होता रहता है। इन सबसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हे भगवन्! आप समस्त दोषों का निग्रह, निग्रह ही नहीं विनिग्रह—विशिष्ट निग्रह कर चुके हैं ॥९॥

अपरमपि तन्निग्रहे यज्ञातं तद्दर्शयन्नाह—

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ॥१०॥

समन्तत इत्यादि—समन्ततः सर्वतः अङ्गभासां शरीरतेजसां परिवेषेण परिमण्डलेन, कथंभूतेन? भूयसा महता तमोऽन्धकारः, कथंभूतं? बाह्यं, अपाकीर्णं ध्वस्तम्, अध्यात्म-मभ्यन्तरं तमो ज्ञानावरणादिलक्षणं, ध्यानतेजसा अपाकीर्णम् ॥१०॥

मोह का निग्रह होनेपर जो हुआ, उसे दर्शाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (समन्ततः) सब ओर फैलने वाले (ते) आपके (अङ्गभासां) शरीर सम्बन्धी प्रभाओं के (भूयसा) विशाल (परिवेषेण) मण्डल के द्वारा (बाह्यं) बाह्य (तमः) अन्धकार (अपाकीर्णं) नष्ट हुआ है और (ध्यानतेजसा) ध्यानरूप तेज के द्वारा (अध्यात्मं) ज्ञानावरणादिकर्मरूप अन्तरङ्ग का अन्धकार (अपाकीर्णम्) नष्ट हुआ है।

भावार्थ—केवलज्ञान होते ही भगवान् का शरीर परमौदारिक शरीर कहलाने लगता है। उनके उस शरीर से एक विशिष्ट प्रकार की प्रभा निकलकर सब ओर व्याप्त हो जाती है, जिसे भामण्डल कहते हैं। उस भामण्डल के द्वारा समीपवर्ती समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है। केवलज्ञान के पूर्व शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि–घातियाकर्मों का क्षय होता है, जिससे अन्तरङ्ग में विद्यमान समस्त अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट होकर आत्मा, लोकालोकावभासी केवलज्ञान के द्वारा जगमगा उठती है। यहाँ अरजिनेन्द्र के इसी बाह्य भामण्डल तथा ध्यानरूप आभ्यन्तर तेज की महिमा गाई गई है ॥१०॥

एवमपायातिशयं स्तुत्वा भगवतः पूजातिशयं स्तोतुमाह—

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः ।
कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ! सचेतनम् ॥११॥

सर्वज्ञेत्यादि—सर्वज्ञस्य ज्योतिरनन्तज्ञानं तेन उत्कर्षेण भूतो जातः उद्भूतः, कोऽसौ? महिमोदयो महिम्नो माहात्म्यस्य उदयः प्रादुर्भावः, किंविशिष्टः? तावकः, त्वदीयः, कं न कुर्यादपि तु कुर्यादेव, कं? सत्त्वं प्राणिनं, कथंभूतं? सचेतनं गुणदोषविवेकचतुरं, कथंभूतं कुर्यात्? प्रणम्रं प्रणमनशीलं, ते तव ॥११॥

अब भगवान् की पूजा के अतिशय का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे अरनाथ जिनेन्द्र! (ते) आपकी (सर्वज्ञज्योतिषा) समस्त पदार्थों को जानने वाली केवलज्ञानरूपी ज्योति से (उद्भूतः) उत्पन्न हुआ (तावकः) आपकी (महिमोदयः) महिमा का उत्कर्ष (कं) किस (सचेतनं) गुणदोष के विचार में चतुर (सत्त्वं) प्राणी को (प्रणम्रं) नम्रीभूत (न कुर्यात्) नहीं कर देता है?— सबको कर देता है।

भावार्थ—वर्तमान में भी सामान्य ज्ञानियों की अपेक्षा यदि किसी को कुछ विशिष्टज्ञान होता है तो लोक में उसका प्रभाव अधिक होता है फिर समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान के प्रभाव का तो कहना ही क्या है? केवलज्ञान होते ही समस्त देव, दानवों, मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों में हर्ष का वातावरण छा जाता है। समवसरण की रचना होती है, उसमें विराजमान होकर दिव्यध्वनि के द्वारा भगवान् पदार्थ का उपदेश देते हैं। उन सर्वज्ञ के ज्ञान की महिमा से आकृष्ट होकर समवसरण की बारह सभाएँ श्रोताओं से भर जाती हैं। अहंकारी से अहंकारी मनुष्य, समवसरण

में पहुँचते ही नतमस्तक हो जाते हैं । यहाँ अरजिनेन्द्र की इसी लोकोत्तर महिमा का गान किया गया है ।।११।।

अथेदानीं भगवतो वागतिशयं स्तुवन्नाह—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ।।१२।।

तवेत्यादि—तव सम्बन्धि, वागेवामृतं वागमृतं अनन्तसुखहेतुतया प्राणिनामाप्यायकत्वात्, कथंभूतं ? श्रीमत् यथावन्निखिलार्थप्रतिपादनलक्षणश्रीर्विद्यते यस्य तच्छ्रीमत्, पुनरपि कथंभूतं ? सर्वभाषास्वभावकं सर्वभाषास्वभावो यस्य तदित्थंभूतं, तव वागमृतं प्रीणयति संतर्पयति, कान् ? प्राणिनः, किंवत् ? अमृतं यद्वत् अमृतं यथा, किंविशिष्टं ? व्यापि, क्व ? संसदि समवसरणरूपायां सभायाम् ।।१२।।

आगे भगवान् के वचनों का अतिशय दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (श्रीमत्) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने रूप लक्ष्मी सहित (सर्वभाषास्वभावकम्) समस्त भाषाओंरूप परिणमन करने वाले स्वभाव से युक्त तथा (संसदि) समवसरण सभा में (व्यापि) व्याप्त होने वाला (तव) आपका (वागमृतं) वचनरूप अमृत (अमृतं यद्वत्) अमृत के समान (प्राणिनः) प्राणियों को (प्रीणयति) सन्तुष्ट करता है ।

भावार्थ—यहाँ भगवान् की दिव्यध्वनि का वर्णन किया गया है, भगवान् की दिव्यध्वनि समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादन की क्षमता रखती है तथा श्रोता जिस भाषा का जानकार है, उसी भाषारूप परिणमन कर उसकी जिज्ञासा को पूर्ण करती है । साथ ही देवरचित अतिशय के कारण वह दिव्यध्वनि समवसरण के समस्त क्षेत्र में सुनाई पड़ती है । भगवान् के वचन अमृत के समान आह्लादकारी होते हैं, अतः वे समस्त प्राणियों को—न केवल मनुष्यों को, किन्तु चतुर्विधदेव और पशु-पक्षियों तक को अमृतपान के समान ही संतुष्ट करते हैं ।।१२।।

नन्वेकान्तेऽपि वाचो वास्तवार्थप्रतिपादकत्वेन प्राणिनां संतर्पकत्वसंभवान्न कश्चिद्भवदीयवचोऽतिशयः संभवतीत्याशङ्क्याह—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात् तदयुक्तं स्वघाततः ।।१३।।

अनेकान्तेत्यादि–ते तव, यानेकान्तात्मदृष्टिरनेकान्तात्मकं मतं सा सती सत्या विपर्यय एकान्तदृष्टिरूपः शून्योऽसत्यः यथा चैकान्तोऽसत्यस्तथा 'अन्वर्थसंज्ञः' इत्यादौ प्ररूपितं, ततः एकान्ताश्रयेण सर्वं निरवशेषं मृषाऽसत्यमनृतमुक्तं स्यात् । कथं मृषोक्तं तत्स्यादिति चेत् ? तदयुक्तं यतस्तया एकान्तदृष्ट्याऽयुक्तं सर्वं वक्तुमनुचितं । कुतस्तया तदयुक्तं ? स्वघाततः स्वशब्देन सदसदाद्येकान्तो गृह्यते तस्य घातः स्वघातस्तस्मात् । न हि नीलसुखादिपदार्थप्रपञ्चप्ररूपणया शून्यैकान्तः सत्ताद्येकान्तो वा न विरुध्यते यतस्तया तद्घातो न स्यात् ॥१३॥

आगे अनेकान्तदृष्टि ही समीचीन है, यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ–हे भगवन्! (ते) आपकी (अनेकान्तात्मदृष्टिः) अनेकान्तरूप दृष्टि (सती) सत्यार्थ है उससे (विपर्ययः) विपरीत एकान्तमत (शून्यः) शून्यरूप असत् है (ततः) इसलिए (तदयुक्तं) उस अनेकान्तदृष्टि से रहित (सर्वं) सब (उक्तं) कथन (स्वघाततः) स्वघातक होने से (मृषा स्यात्) मिथ्यारूप है। अथवा (ततः) एकान्तमत के आश्रय से (उक्तं) कहा हुआ (सर्वं) समस्त वस्तुस्वरूप (मृषा) असत्य है तथा (स्वघाततः) स्व घातक होने से (तद्) वह (अयुक्तं) अनुचित है।

भावार्थ–पूर्व श्लोक में कहा गया था कि हे भगवन्! आपका वचनरूप अमृत सब जीवों को संतुष्ट करने वाला है। उसका कारण स्पष्ट करते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि आपकी जो अनेकान्तरूप दृष्टि है–आप जो स्याद्वाद के द्वारा पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी अनेक अन्तों–धर्मों का प्रतिपादन करते हैं, वह यथार्थ है तथा यथार्थ होने से सब जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है। इसके विपरीत अन्य मतावलम्बी जो पदार्थों में पाये जाने वाले सद्-असद्, नित्य-अनित्य आदि धर्मों का एकान्तरूप से निरूपण करते हैं, वह द्वितीय पक्ष को अग्राह्य होने से अप्रिय रहता है – उसके सन्तोष का कारण नहीं हो पाता है। चूँकि संसार का प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक–अनेक धर्मात्मक है, इसलिए उन अनेकान्तों–अनेक धर्मों की उपेक्षा कर एकान्तरूप से जो भी कथन होगा वह मिथ्या होगा और मिथ्या होने से अग्राह्य होगा। वह एकान्त कथन, द्वितीय पक्ष से रहित तो होता ही है पर उसके बिना स्वपक्ष का भी समर्थक न हो सकने के कारण स्वघातक भी होता है। इसका स्पष्ट विवेचन 'अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं' इत्यादि सुमति जिनेन्द्र के स्तवन में देखना चाहिए। नील, पीत आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं तथा सुख-दुख आदि का

अनुभव प्रत्येक सचेतन प्राणी को होता है, इसलिए नील, पीत आदि गुणों के आधारभूत अचेतन पदार्थ तथा सुखदुःखादि के अनुभव रूप सचेतन पदार्थ का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। इस दशा में एकान्तरूप से शून्यवाद को निरूपित करना मिथ्या है। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थों में क्षण-क्षण में होने वाला परिवर्तन चूँकि बुद्धिगोचर है, इसलिए पदार्थ को सर्वथा सद्रूप अथवा नित्यरूप कैसे स्वीकृत किया जा सकता है? और क्षण-क्षण में होने वाले समस्त परिणमन चूँकि अन्वयरूप से किसी एक द्रव्य से संबद्ध अवश्य रहते हैं, इसलिए उसकी उपेक्षा कर पदार्थ को सर्वथा असद्रूप अथवा अनित्यरूप कैसे माना जा सकता है? इन सबके परिप्रेक्ष्य में अनेकान्तदृष्टि को ही समीचीन दृष्टि कहा जा सकता है। हे अरजिनेन्द्र! आपने इसी अनेकान्तदृष्टि का कथन किया है, इसलिए आपके वचन अमृत समान सब जीवों को आह्लादकारी हैं ।।१३।।

नन्वनेकान्ते सुखनीलादेर्विरोधादिदोषसंभवात् कथमसौ युक्त इत्याशङ्क्याह—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ।।१४।।

ये इत्यादि—ये एकान्तवादिनः परस्मिन्ननेकान्ते स्खलितं दोषो विरोधादिस्तस्मिन् उन्निद्रा व्यपगतनिद्रास्तद्दर्शने पटवः, स्वदोषेभनिमीलिनः स्वस्मिन्सदाद्येकान्ते सुखनीलादेर्विरोधादिदोषे इभनिमीलनं येषां, यथा इभः 'पश्यन्नप्यपश्यन्निव' वर्तते तथैते स्वदोषं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीति। कथंभूतास्ते? तपस्विनो वराकाः किं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं वा कुर्युर्नैव कुर्युः। कुतः अपात्रमभाजनं ते यतः, कस्याः? त्वन्मतश्रियः तव मतं त्वन्मतं द्वादशाङ्गादिलक्षणं तस्य श्रीर्यथावद्वस्तुस्वरूपविवेकत्वं तस्याः ।।१४।।

आगे अनेकान्तदृष्टि में संभवित दोषों का परिहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(ये) जो एकान्तवादी (परस्खलितोन्निद्राः) पर—अनेकान्तमत में स्खलित—विरोध आदि दोषों के देखने में उन्निद्र—जागृत रहते हैं और (स्वदोषेभनिमीलिनः) स्व—अपने सदेकान्त आदि एकान्त में दोष—स्वघातत्व आदि दोषों के विषय में इभनिमीलन—गज निमीलन से युक्त हैं अर्थात् उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते हैं (ते) वे (तपस्विनः) बेचारे (किं कुर्युः) क्या करें—स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष के निराकरण में वे असमर्थ हैं तथा (त्वन्मतश्रियः) आपके मतरूपी लक्ष्मी के (अपात्रं) अपात्र है।

भावार्थ—एकान्तवादीजन, अनेकान्तवाद में विरोध आदि दोषों का निरूपण करते हैं, परन्तु अपने द्वारा प्रतिपादित एकान्तवाद में आने वाले दोषों के प्रति गजनिमीलन का व्यवहार करते हैं अर्थात् जिस प्रकार हाथी जब कभी देखता हुआ भी नहीं देखता है, उसी प्रकार ये एकान्तवादी भी एकान्तवाद में आने वाले दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते हैं—उन्हें उपेक्षित कर देते हैं अथवा एक अर्थ यह भी हो सकता है कि ये एकान्तवादीजन, दूसरे पक्ष के अल्पतम दोषों को देखने के लिए तो सदा उनींदे रहते हैं—जागृत रहते हैं और अपने पक्ष में आने वाले हाथी जैसे बड़े-बड़े दोषों के प्रति नेत्र बन्द कर लेते हैं, ऐसे लोग दयनीय हैं—दया के पात्र हैं और आपके मत की लक्ष्मी—वस्तु के यथार्थ स्वरूप के कथन करने की कला से रहित हैं। ऐसे लोग क्या कर सकते हैं ? उनमें न स्वपक्ष के समर्थन की शक्ति है और न पर पक्ष के निराकरण की ॥१४॥

ननु सर्वमेतदयुक्तं वस्तुनो वाचामगोचरत्वादित्यत्राह—

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

ते इत्यादि—ते एकान्तवादिनः, तं स्वघातिनं दोषं स्वं हन्तीत्येवंशीलं, शमीकर्तुं परिहर्तुम् अनीश्वराः असमर्थाः त्वद्द्विषः त्वामनेकान्तवादिनं द्विषन्तीति, स्वहनः स्वमात्मानं घ्नन्तीति, बालाः यथावद्वस्तुस्वरूपानभिज्ञाः तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः आश्रिताः, अवक्तव्यं हि तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिस्तैरात्मनो न किञ्चिद्रूपं प्ररूप्यत इत्यात्मघातिनस्ते अनेकधर्मात्मनो वस्तुनः क्रमेण वक्तव्यसंभवेऽप्यवक्तव्यत्वाभ्युपगमाद् बाला इति ॥१५॥

अब तत्त्व की अवक्तव्यता का निराकरण करते हैं—

अन्वयार्थ—(ते) वे एकान्तवादी (तं) उस पूर्वोक्त (स्वघातिनं दोषं) स्वघाती दोष को (शमीकर्तुं) शमन करने के लिए (अनीश्वराः) असमर्थ हैं, (त्वद्द्विषः) आप—अनेकान्तवादी से द्वेष रखते हैं, (स्वहनः) अपने आपका घात करने वाले हैं, (बालाः) यथावद्वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं और इसीलिए (तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः) तत्त्व की अवक्तव्यता का आश्रय लेते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनेकान्तदृष्टि से आपने कहा था कि पदार्थ सत् है, असत् है, नित्य है, अनित्य है इस पर एकान्तवादियों ने यह आपत्ति उठाई थी कि नहीं, वचनों के अगोचर होने से वस्तु अवक्तव्य ही है। इसका उत्तर देते हुए यहाँ कहा गया

है कि जो तत्त्व को सर्वथा अवक्तव्य मानते हैं, वे स्वघातकत्व दोष का निराकरण करने में समर्थ नहीं हैं, वे आपसे द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं—अपने पक्ष का स्वयं घात करते हैं, तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण बाल हैं—अज्ञानी हैं। वस्तु में पाये जाने वाले सत्-असत्, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते, इस अपेक्षा से वस्तु में अवक्तव्यता है और क्रम से उनका कथन होता है, इस अपेक्षा से वस्तु में वक्तव्यता है। इस प्रकार अनेकान्तदृष्टि से वक्तव्यता और अवक्तव्यता का उल्लेख न कर, एकान्तरूप से सर्वथा किसी एक धर्म का उल्लेख करना दोषयुक्त है ॥१५॥

कीदृशास्तर्हि प्रतिपत्तुरभिप्रायाः सत्याः कीदृशाश्चासत्या इत्याह—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥१६॥

सदित्यादि—संश्च एकश्च नित्यश्च वक्तव्यश्च इत्येवंविधा ये नयाः, तद्विपक्षाश्च असदनेकानित्यावक्तव्याश्च ये नयास्ते प्रदुष्यन्ति प्रकर्षेण दुष्टा भवन्तीति असत्या भवन्ति। कथं सर्वथेति सर्वप्रकारेणेति। कथं तर्हि ते सत्या भवन्तीत्याह—पुष्यन्तीत्यादि—पुष्यन्ति स्वार्थप्रतिपादने निर्बाधत्वेन पुष्टा भवन्ति, स्यादित्यनेनोपलक्षिताः सन्तः, इह जगति, ते तव, मते ॥१६॥

आगे वक्ता के कैसे अभिप्राय सत्य हैं और कैसे असत्य हैं? यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सदेकनित्यवक्तव्याः) सद्, एक, नित्य, वक्तव्य (च) और (तद्विपक्षाः) इनसे विपरीत असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य (ये नयाः) ये जो नय हैं (ते) वे (इह) इस जगत् में (सर्वथा इति) सर्वथारूप से (प्रदुष्यन्ति) वस्तुतत्त्व को अत्यधिक विकृत करते हैं—सदोष बनाते हैं और (स्यात् इति) स्यात् कथञ्चित्रूप से वस्तुतत्त्व को (पुष्यन्ति) पुष्ट करते हैं।

भावार्थ—वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। वक्ता कभी पदार्थ को सत् कहता है, कभी एक कहता है, कभी नित्य कहता है, कभी वक्तव्य कहता है और इनके विपरीत कभी असत् कहता है, कभी अनेक कहता है, कभी अनित्य कहता है और कभी अवक्तव्य कहता है। वक्ता के ये सब कथन ही नय हैं, यदि ये नय, सर्वथारूप से वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक मानें जावें तो वे वस्तु में पाये जाने वाले विरोधी धर्म के निषेधक होने से वस्तु को विकृत कर देते हैं—दोषयुक्त बना देते हैं, इसलिए नय न

रहकर कुनय या मिथ्यानय हो जाते हैं और जब स्यात् कथञ्चित्रूप से वस्तु स्वरूप के प्रतिपादक होते हैं, तब विरोधी धर्म के निषेधक न होने से वस्तु को पुष्ट करते हैं–उसके पूर्ण स्वरूप का विवेचन करते हैं, इसलिए सुनय कहलाते हैं । यहाँ 'प्रदुष्यन्ति' और 'पुष्यन्ति' प्रयोग, क्रम से 'दुष वैकृत्ये' और 'पुष पुष्टौ' इन परस्मैपदी तुदादिगणी धातुओं के कर्तृवाच्य के रूप हैं, सकर्मक क्रियाएँ हैं, इसलिए 'वस्तुतत्त्वं' इस कर्म की ऊपर से कल्पना कर लेनी चाहिए । इस स्थिति में 'प्रदुष्यन्ते' और 'पुष्यन्ते' इन पाठान्तरों की कल्पना आवश्यक नहीं है ॥१६॥

स्याच्छब्दस्य गुणमाह—

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१७॥

सर्वथेत्यादि–सदेव-असदेवेत्यादिको नियमः सर्वथानियमस्तं त्यजतीत्येवंशीलस्तत्त्यागी, कोऽसौ ? स्याच्छब्दः, पुनरपि कथंभूतः ? यथादृष्टमपेक्षकः येन प्रकारेण सदसदित्यादि-रूपेण दृष्टं प्रमाणप्रतिपन्नं यथादृष्टं बहिरन्तश्च तत्त्वम्, अपेक्षतेऽन्वेषते, क्व इत्थंभूतः स्याच्छब्दः ? तावके न्याये त्वदीयायामनेकान्तात्मिकायां नीतौ न अन्येषामेकान्तवादिनाम्, कथंभूतानाम् ? आत्मविद्विषाम् आत्मवैरिणाम्, कथं तेषामात्मवैरित्वमिति चेत् ? सदाद्येकान्ताभ्युपगमेन तैरात्मनो विद्वेषणात् ॥१७॥

अब स्यात् शब्द की महिमा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ–(सर्वथानियमत्यागी) सर्वथारूप नियम का त्याग करने वाला तथा (यथादृष्टमपेक्षकः) यथादृष्टप्रमाणसिद्ध वस्तुस्वरूप की अपेक्षा रखने वाला (स्याच्छब्दः) स्यात् शब्द (तावके न्याये) आपके न्याय में है (आत्मविद्विषाम्) अपने-आपके वैरी (अन्येषां) अन्य एकान्तवादियों के न्याय में (न) नहीं हैं ।

भावार्थ–'स्यात्' यह कथञ्चित् अर्थ को कहने वाला निपात संज्ञक अव्यय है । यह स्यात् शब्द सर्वथा इस नियम को दूर से ही छोड़ता है अर्थात् वस्तु सत् ही है, एक ही है, नित्य ही है, अवक्तव्य ही है, इस प्रकार के नियमरूप कथन का निषेध करने वाला है और सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वक्तव्य-अवक्तव्य इस तरह स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा द्विविधरूपता को लिए हुए वस्तु का स्वरूप जैसा देखने में आता है–प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जैसा सिद्ध है, वैसा निरूपण करता है ।

तत्त्व विवेचना के पारस्परिक विरोध को दूर करने के लिए अमोघास्त्र के समान यह 'स्यात्' शब्द; हे भगवन् ! आपके ही न्याय में है, स्वपक्ष का हनन करने वाले अन्य एकान्तवादी दर्शनकारों के मत में नहीं है ॥१७॥

ननु भगवन्मते येन रूपेण जीवादिवस्तु नित्यादिस्वभावं तेन किं कथञ्चित् तत् तथा सर्वथा वा ? यदि सर्वथा तदेकान्तप्रसंगादनेकान्तक्षतिः, अथ कथञ्चित् तदाऽनवस्थेत्याशङ्क्याह—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१८॥

अनेकान्तोऽपीत्यादि—अनेकान्तोऽपि न केवलं सम्यगेकान्त इति अपि-शब्दार्थः, कथंभूतः ? अनेकान्तः कथञ्चित् स्यादित्यर्थः, पुनरपि कथंभूतः ? प्रमाणनयसाधनः प्रमाणे च नयाश्च साधनं यस्य । एतदेव दर्शयन्ननेकान्त इत्याद्याह—प्रमाणात् साधनादनेकान्तः सिद्ध्यति, ते तव मते, सकलादेशः प्रमाणाधीनः, इत्यभिधानात् । तदेकान्तः तस्मिन्ननेकान्ते एकान्तस्तदेकान्तः प्रतिनियतधर्मः, स कस्मात्सिद्ध्यति ? नयात्, कथंभूतात् ? अर्पितात् विवक्षितात् 'विकलादेशो नयाधीनः' इति वचनात् ॥१८॥

अब अनेकान्त भी अनेकान्त एवं एकान्तरूप है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपके मत में (अनेकान्तोऽपि) अनेकान्त भी (प्रमाणनयसाधनः) प्रमाण और नयरूप साधनों से युक्त होने के कारण (अनेकान्तः) अनेकान्तस्वरूप है । (प्रमाणात्) प्रमाण की अपेक्षा (अनेकान्तः) अनेकान्तस्वरूप है और (अर्पितात् नयात्) विवक्षित नय से (तदेकान्तः) अनेकान्त में एकान्तस्वरूप है ॥१८॥

भावार्थ—वस्तु के यथार्थ स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिए भगवान् ने जिस अनेकान्त को अङ्गीकृत किया है, वह अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप माना गया है, क्योंकि अन्य वस्तुओं के समान अनेकान्त का भी प्रतिपादन करने के लिए प्रमाण और नय ये दो ही साधन स्वीकृत किये गये हैं । 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः', इस वाक्य के अनुसार जो पदार्थ के परस्पर विरोधी समस्त धर्मों को ग्रहण करता है, उसे प्रमाण कहते हैं और 'विकलादेशो नयाधीनः' इस वाक्य के अनुसार जो परस्पर विरोधी धर्मों में से एक को ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं । जब प्रमाण के द्वारा अनेकान्त को ग्रहण करते हैं तब अनेकान्त, अनेकान्तस्वरूप रहता है और जब किसी विवक्षित नय

के द्वारा उसका प्रतिपादन करते हैं तब अनेकान्त, एकान्तस्वरूप रहता है । यहाँ 'अनेकान्तः' इस पद के साथ 'अपि' शब्द का पाठ किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि न केवल सम्यग् एकान्त, अनेकान्तस्वरूप है, किन्तु अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है ॥१८॥

प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नाह—

इति निरुपमयुक्तशासनः[1] प्रियहितयोगगुणानुशासनः ।
अरजिन ! दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ॥१९॥

इतीत्याह—अपरवक्त्रच्छन्दः[2]। इति एवं, निरुपमं उपमाया निष्क्रान्तं युक्तशासनं युक्तं प्रमाणोपपन्नं शासनं मतं यस्य । युक्तिशासन इति च क्वचित्पाठः । निरुपमा निर्बाधा युक्तिः प्रत्यक्षादिलक्षणा यस्य शासने मते इति । प्रियहितयोगगुणानुशासनः प्रियाः सुखदाः हिताः परिणामपथ्यास्ते च ते योगगुणाश्च योगाः प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापाराः गुणाः सम्यग्दर्शनादयस्तेषामनुशासनः अनुशासकः, इत्थंभूत अरजिन ! अरसंज्ञकजिन ! दमतीर्थ-नायकः दमस्येन्द्रियजयस्य सूचकं तीर्थं प्रवचनं तस्य नायकः प्रवर्तकस्त्वमिव सतां पण्डितानां प्रतिबोधनाय प्रतिबोधनार्थं कोऽन्यो नैव कश्चित् ॥१९॥

अब प्रकृत अर्थ का संकोच करते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (अरजिन) हे अरजिनेन्द्र ! आप (निरुपमयुक्त-शासनः) उपमा रहित प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त शासन से सहित हैं, (प्रियहितयोग-गुणानुशासनः) सुखदायक तथा फलकाल में हितकारक मन, वचन, काय के प्रशस्त व्यापाररूप योग और सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देने वाले हैं तथा (दमतीर्थनायकः) इन्द्रिय विजय को सूचित करने वाले आगम के नायक हैं । हे नाथ ! (त्वमिव) आपके समान (सतां प्रतिबोधनाय) विद्वज्जनों को प्रतिबोध देने के लिए (अन्यः कः) दूसरा कौन है ? कोई नहीं है ।

भावार्थ—सत्पुरुषों को प्रतिबोध देने वाले वक्ता में सर्वप्रथम इस गुण की आवश्यकता है कि उसका शासन, अनुपम तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणों से संगत अथवा युक्तियुक्त हो, पश्चात् उसके मन, वचन, काय की प्रवृत्ति सुखदायक और हितकारक हो तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देने वाला हो, तदनन्तर संयम के मार्ग में

१. युक्तिशासनः २. 'अयुजि ननरला गुरुः समे । न्जमपरवक्त्रमिदं ततो जरौ' जिसके प्रथम और तृतीय चरण में नगण, नगण, रगण, लघु और गुरु इस क्रमसे ११ अक्षर हों तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में नगण, जगण, जगण और रगण इस क्रम से १२ अक्षर हों उसे अपरवक्त्र छन्द कहते हैं ।

जनता को अग्रसर करने के लिए जितेन्द्रियता के समर्थक आगम का प्रवर्तक हो। ऊपर के विवेचन से वक्ता के समस्त गुण; अरजिनेन्द्र में विद्यमान थे, इसलिए कहा गया है कि हे भगवन्! आपके समान दूसरा वक्ता और कौन हो सकता है—कोई नहीं ॥१९॥

इदानीं स्तुतेः फलं याचमान आह—

मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥२०॥

मतीत्यादि—मतेर्बुद्धेर्गुणो यथावदर्थपरिच्छेदकत्वं तस्य विभवः संपत्तिस्तस्यानुरूपतो यावान् मतिगुणविभव इत्यर्थः, त्वयि विषये, वरद! आगमदृष्टिरूपतः आगमेन दृष्टिर्दर्शनं परिज्ञानं भवद्गुणानां तस्या रूपं तस्मादागमदृष्टिरूपतः आगमप्रतिपादितभवद्गुणानति-क्रमेणेत्यर्थः, गुणकृशमपि गुणानां भवद्गुणानां कृशमपि स्तोकमपि लेशोऽपि किञ्चन किञ्चित् उदितं व्यावर्णितं, मम स्तोतुः भवताद् भूयात्, दुरितासनोदितं दुरितं पापं तस्य असनं क्षेपणं विनाशनं तस्मिन् उदितमुदयसमर्थम् ॥२०॥

अब स्तुति के फल की याचना करते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे वरद) हे वर को प्रदान करने वाले अरजिनेन्द्र! मैंने (मतिगुण-विभवानुरूपतः) अपनी बुद्धि के गुणों की सामर्थ्य के अनुरूप तथा (आगमदृष्टिरूपतः) आगम से प्राप्त हुई दृष्टि के अनुसार (त्वयि) आपके विषय में (किञ्चन गुणकृशमपि) आपके गुणों का जो कुछ थोड़ा सा (उदितं) वर्णन किया है वह वर्णन (मम) मेरे (दुरितासनोदितम्) पापों के नष्ट करने में समर्थ (भवतात्) होवे ॥२०॥

भावार्थ—हे भगवन्! आप में अनन्तगुण हैं, उन सब गुणों का उल्लेख करने की क्षमता मुझमें कहाँ है? मैं तो अपने क्षायोपशमिक-मतिज्ञान तथा आगम-दर्शन से प्राप्त श्रुतज्ञान के अनुसार आपके गुणों का अत्यन्त अल्प—लेशमात्र ही वर्णन कर सका हूँ। सो इस अल्पतम गुण वर्णन के फलस्वरूप आपसे यही वर चाहता हूँ कि मेरा यह प्रयास, मेरे पाप कर्मों के क्षय करने में समर्थ हो। जो कार्य मनुष्य के पुरुषार्थ से सिद्ध न होकर किसी दिव्यपुरुष की वाक्सिद्धि—वचनबल से सिद्ध होता है, वह वर कहलाता है। हे भगवन्! आप वरद हैं—उक्त लक्षण वाले वर को देने वाले हैं। अपने पापकर्मों का क्षय करना मेरे पुरुषार्थ से परे है, इसलिए आप जैसे वरद से मैं इस फल की याचना करता हूँ ॥२०॥

इत्यरजिनस्तवनम्

श्री मल्लिजिनस्तवनम्

यस्य महर्षेः सकलपदार्थप्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपततिस्म ॥१॥

यस्येति—सान्द्रपदं[1] श्रीर्वानवासिका[2] वा[3] छन्दः[4] । यस्य मल्लिनाम्नस्तीर्थङ्करदेवस्य, कथंभूतस्य? महर्षेः महान् इन्द्रादीनां पूज्यः स चासौ ऋषिश्च तस्य, किं? समजनि संजातः, कोऽसौ? सकलपदार्थप्रत्यवबोधः सकलाश्च ते पदार्थाश्च तेषां प्रति समन्तात् अव अशेषविशेषतो बोधः परिज्ञानं, कथं समजनि? साक्षात् परिस्फुटतया, अतएव प्रणिपतति स्म, प्रणतं संजातं, किं तत्? जगत्, कथंभूतं? सर्वमपि, पुनरपि कथंभूतं? सामरमर्त्यं अमराश्च मर्त्याश्च तैः सह वर्तते इति सामरमर्त्यः, किं कृत्वा? प्राञ्जलि भूत्वा, प्रबद्धाञ्जलि भूत्वा ॥१॥

केवलज्ञान होने पर भगवान् को सब प्रणाम करते थे, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य महर्षेः) जिन महर्षि के (सकलपदार्थप्रत्यवबोधः) जीवादि समस्त पदार्थों को सब ओर से अशेषविशेषता के साथ जानने वाला केवलज्ञान (साक्षात्) स्पष्टरूप से (समजनि) उत्पन्न हुआ और इसलिए जिन्हें (सामरमर्त्यं) देवों तथा मनुष्यों से सहित (सर्वमपि जगत्) सभी संसार ने (प्राञ्जलि भूत्वा) बद्धाञ्जलि होकर (प्रणिपतति स्म) प्रणाम किया, उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—जो मल्लिनाथ भगवान्, इन्द्रादि के द्वारा पूज्य, महान् ऋषि थे तथा समस्त पदार्थों को पूर्णरूप से जानने वाला केवलज्ञान उत्पन्न होने पर; जिन्हें देवों और मनुष्यों से सहित समस्त संसार ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया था, मैं उन मल्लिनाथ जिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥१॥

---

१. 'सान्द्रपदं भ्तौ गनलघुभिश्च' जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, गुरु, नगण और लघु इस क्रम से ११ अक्षर हों उसे सान्द्रपद छन्द कहते हैं ।

२. 'बाणरसैः स्याद्भतनगगैः श्रीः' जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, नगण, गुरु और इस क्रम से गुरु ११ अक्षर हों तथा ५ और ६ अक्षर पर यति हो उसे श्री छन्द कहते हैं ।

३. जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हों और उनमें ९वीं तथा १२वीं मात्रा लघु हो उसे वानवासिका कहते हैं ।

४. छन्दोमञ्जरी में इसे 'स्यादनुकूला भतनगगाश्चेत्' जिसके प्रत्येक चरण में भगण, तगण, नगण, गुरु और गुरु इस क्रम से ११ अक्षर हों उसे अनुकूला छन्द कहते हैं ।

भगवदीयं शरीरं वचनं चैवंविधमित्याह—

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥२॥

यस्य चेत्यादि—यस्य मल्लितीर्थङ्करदेवस्य मूर्तिश्च शरीरं च, कथंभूता ? कनकमयीव सुवर्णेन निर्वृत्ता इव, पुनरपि कथंभूतेत्याह—स्वेत्यादि—स्वस्य स्फुरन्ती चासौ आभा च दीप्तिः स्फुरदाभा स्वस्फुरदाभा तया कृतः परिवेषः सकलशरीरव्याप्तिर्भामण्डलं वा यस्यां सा तथोक्ता, न केवलं मूर्तिरेवंविधा किन्तु वागपि वचनमपि यस्येति सम्बन्धः, किंविशिष्टा ? कथयितुकामा प्रकाशयितुकामा, किं तत् ? तत्त्वं यथावद्वस्तुस्वरूपं, अचेतनापीयमुपचारादेवमुच्यते यथा 'भिक्षा वासयतीति' । सा इत्थंभूता वाक् किं करोतीत्याह—रमयति प्रीताननुरक्तान्[1] करोति कान् ? साधून् भव्यान्, कथंभूता ? स्यात्पदपूर्वा स्यादिति पदं पूर्वं यस्याः सा स्यात्पदपूर्वा स्यात्पदोपलक्षितेत्यर्थः ॥२॥

आगे भगवान् के शरीर और वचन का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(कनकमयीव) सुवर्ण से निर्मित के समान (स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा) अपनी देदीप्यमान आभा से समस्त शरीर में व्याप्त भामण्डल को करने वाली (यस्य मूर्तिः) जिनकी मूर्ति—शरीराकृति (च) और (तत्त्वं कथयितुकामा) वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छुक एवं (स्यात्पदपूर्वा) स्यात्पद से सहित (यस्य) जिनकी (वागपि) वाणी भी (साधून्) भव्यजीवों को (रमयति) प्रसन्न करती है, उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—जिन मल्लिनाथ भगवान् का शरीर ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्ण से ही रचा गया तथा अपनी देदीप्यमान आभा से सब ओर भामण्डल का निर्माणकर रहा था तथा जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाली जिनकी वाणी स्यात् पद से चिह्नित थी । इस तरह उनका शरीर और वाणी दोनों ही भव्यजीवों को अनुरक्त बना रही थी; मैं उन मल्लिनाथ भगवान् की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥२॥

ननु प्रमाणबाधितासौ भविष्यतः कथंभूतान् रमयतीत्याह—

यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्ज्ञातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥३॥

यस्येत्यादि—यस्य भगवतः पुरस्तादग्रतः प्रतितीर्थ्या एकान्तवादिनो न विवदन्ते न विप्रतिपत्तिं कुर्वन्ति, क्व ? भुवि पृथिव्याम्, कथंभूताः ? विगलितमाना विगलितो विनष्टो

[1] आत्मन्यनुरक्तान्

मानो दर्पो येषां ते तथोक्ताः । अतः कथं प्रमाणबाधिता तद्वाग्, भगवत्समागमने भूमिरपीत्थंभूता संजातेत्याह–भूरपि इत्यादि–भूरपि पृथिव्यपि रम्या मनोज्ञा, पदं पदं प्रति प्रतिपदं, आसीत् संजाता, कथंभूतेत्याह–जातेत्यादि–विकोशानि विकसितानि च तानि अम्बुजानि पद्मानि जातस्तैः मृदुः कोमलो हासो यस्याम् ।।३।।

अब भगवान् के विहार के समय होनेवाली पृथिवी की विशेषता दिखलाते हैं–

अन्वयार्थ–(यस्य) जिनके (पुरस्तात्) आगे (विगलितमानाः) गलितमान हुए (प्रतितीर्थ्याः) एकान्तवादीजन (भुवि) पृथ्वी पर (न विवदन्ते) विवाद नहीं करते थे और जिनके विहार के समय (भूरपि) पृथिवी भी (प्रतिपदं) डग-डग पर (जात-विकोशाम्बुजमृदुहासा) विकसित कमलों से कोमल हास को धारण करती हुई (रम्या) मनोहर (आसीत्) हुई थी; उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ–स्यात्पद से सुशोभित भगवान् मल्लिनाथ की वाणी इतनी निर्विवाद थी कि विरोधीजन उनके सामने सब विरोध भूल जाते थे, मान रहित होकर उनकी शरण में आने लगते थे । इसी प्रकार जब उनका विहार होता था, तब डग-डग पर देवलोग कमलों की रचना करते थे, उन खिले हुए कमलों से पृथिवी ऐसी मनोहर जान पड़ती थी; मानों मन्द-मन्द हास से अपनी प्रसन्नता ही प्रगट कर रही हो, इसीलिए मैं उनकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।।३।।

इदानीं भगवतो वचनप्रतिग्राही शिष्यसंपदं दर्शयन्नाह–

यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्वं जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम् ।।४।।

यस्येत्यादि–यस्य मल्लिनाथस्य समन्तात्सर्वतः अंशव इव किरणा इव अंशवो वचनविशेषा वस्तुस्वरूपप्रकाशकत्वात् शिशिराः सकललोकाप्यायकत्वेन शीतला अंशवो वचनानि यस्य स तथोक्तः जिनश्चासौ शिशिरांशुश्च तस्य, शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत् शिष्यकाश्च ते साधवश्च यतयो भव्या वा त एव ग्रहास्तारकास्तेषां विभवः संपत् अभूत् संजातः, न केवलं तद्विभव एवाभूत् किन्तु तीर्थमपि श्रुतमप्यभूत्, कथंभूतं ? स्वमात्मीयम् पुनरपि कथंभूतमित्याह–जननेत्यादि–जननं जन्म संसारः तदेव समुद्रो दुःपारत्वात् तेन त्रासिता भयं नीतास्ते च ते सत्त्वाश्च तेषामुत्तरणपथः अतएव सकलतीर्थेभ्योऽग्रं प्रधानं तत् ।।४।।

अब भगवान् की शिष्य-सम्पदा का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य जिनशिशिरांशोः) जिन मल्लिजिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा के (समन्तात्) चारों ओर (शिष्यकसाधुग्रहविभवः) शिष्यसाधुरूप ग्रहों का—ताराओं का विभव (अभूत्) विद्यमान था और जिनका (स्वं) अपना (तीर्थमपि) शास्त्र भी (जनन-समुद्र-त्रासित-सत्त्वोत्तरणपथः अग्रम्) संसाररूपी समुद्र से भयभीत प्राणियों के पार उतरने का प्रधान मार्ग था उन मल्लिजिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—यहाँ मल्लिजिनेन्द्र में चन्द्रमा का आरोप किया है । जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें शीतल होती हैं, उसी प्रकार मल्लिजिनेन्द्र के वचन जो कि वस्तुस्वरूप के प्रकाशक होने से किरण कहलाते थे, शीतल थे और जिस प्रकार चन्द्रमा के चारों ओर ग्रहों—ताराओं का विभव विद्यमान रहता है, उसी प्रकार मल्लिजिनेन्द्र के चारों ओर शिष्य साधुओं का—शिष्यावस्था को प्राप्त हुए मुनियों अथवा भव्यजीवों का विभव विद्यमान रहता था । इतना ही नहीं, मल्लिजिनेन्द्र का जो अपना तीर्थ था—श्रुत या शासन था, वह भी संसार-समुद्र से भयभीत प्राणियों को पार उतरने के लिए अग्र—श्रेष्ठ मार्ग था, इन्हीं सब कारणों से मैं उनकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।।४।।

ननु प्रागुक्तविशेषणविशिष्टोऽपि भगवान् कथं कर्मणां प्रक्षयं कुर्याद्यतः सकलपदार्थ-प्रत्यवबोधभाक् सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणमोक्षभाग् भवेदित्याह—

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ।।५।।

यस्य चेत्यादि—यस्य भगवतः शुक्लं च ध्यानं परमतपोऽग्निः परमं च तत्तपश्च तदेवाग्निरशेषकर्मनिर्दाहकत्वात् तद्रूपं यतः शुक्लं ध्यानं तद्दुरितमष्टकर्मरूपम् अधाक्षीत् कथंभूतं दुरितं ? अनन्तं न केनचिदन्तः कर्तुं शक्यते यस्य, एकत्ववितर्कावीचारलक्षणेन हि शुक्लध्यानेन घातिकर्माणि दग्धानि अतः सकलार्थावबोधसंभवः व्युपरतक्रियानिवर्ति-लक्षणेन तु शेषकर्माणि ततः सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणमोक्षसंभवः, तं जिनसिंहं तं प्रागुक्तविशेषणविशिष्टं जिनश्चासौ सिंहश्च जिनानां वा मध्ये यः सिंहः प्रधानस्तं मल्लिं मल्लिनामानं तीर्थङ्करदेवं, कथंभूतं ? कृतकरणीयं कृतं करणीयं संसारोच्छेदलक्षणं येन, पुनरपि कथंभूतं ? अशल्यं न सन्ति मायादीनि शल्यान्यस्य, शरणं इतो गतोऽस्मि भवामि ।।५।।

अब भगवान् के शुक्लध्यान की महिमा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(च) और (यस्य) जिनके (शुक्लं ध्यानं) शुक्लध्यानरूप (परम-तपोऽग्निः) उत्कृष्ट तपरूपी अग्नि ने (अनन्तं) अन्त को प्राप्त न होने वाले (दुरितं) अष्टकर्मरूप पाप को (अधाक्षीत्) दग्ध किया था (तं) उन (जिनसिंहं) जिनश्रेष्ठ (कृतकरणीयं) कृतकृत्य, (अशल्यं) माया मिथ्यात्वादि शल्यों से रहित (मल्लिं) मल्लिजिनेन्द्र की (शरणमितोऽस्मि) शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—आभ्यन्तर तप के छह भेदों में शुक्लध्यान नाम का तप, सर्वोत्कृष्ट तप है । इसके चार भेद हैं (१) पृथक्त्ववितर्कवीचार, (२) एकत्ववितर्क, (३) सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति और (४) व्युपरतक्रियानिवर्ति । इस तप को अग्नि का रूपक दिया गया है । जिस प्रकार अग्नि अपरिमित ईन्धन के समूह को भस्म कर देती है, उसी प्रकार यह तप भी अनन्त कर्मपरमाणुओं को भस्म कर देता है । पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का पहला शुक्लध्यान दशमगुणस्थान के अन्त में मोहकर्म का क्षय करता है । एकत्ववितर्क नाम का दूसरा शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों तथा नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्त में अनन्त कर्मपरमाणुओं की निर्जरा करता है और व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य और अन्त समय में क्रम से बहत्तर और तेरह कर्म प्रकृतियों का क्षय करता है । मल्लिनाथ भगवान् ने उक्त चतुर्विध शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अनन्त परमाणुओं को भस्मसात् किया था । चौबीस तीर्थङ्करों में वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान; ये पाँच तीर्थङ्कर बाल ब्रह्मचारी होने से अपनी खास प्रधानता रखते हैं, इसलिए यहाँ मल्लिजिनेन्द्र को जिनसिंह-जिनश्रेष्ठ कहा गया है । मल्लिजिनेन्द्र संसारोच्छेदरूप कार्य कर चुके थे, इसलिए कृतकृत्य थे तथा माया, मिथ्या और निदान; इन तीनों शल्यों से रहित थे अथवा 'अशल्यं यथा स्यात् तथा मल्लिं शरणमितोऽस्मि' इस तरह 'अशल्यं' पद क्रियाविशेषण है । मैं माया, मिथ्या और निदान इस त्रिविधशल्य को छोड़कर मल्लिजिनेन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ॥५॥

इति मल्लिजिनस्तवनम्

श्री मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ।।१।।

अधिगतेत्यादि—वैतालीयं छन्दः[1] । शोभनानि च तानि व्रतानि च सुव्रतानि मुनीनां सुव्रतानि मुनिसुव्रतानि तेषां स्थितिः सा अधिगता निश्चिता येन स तथोक्तः । कोऽसौ ? मुनिसुव्रतः अनेनान्वर्थसंज्ञा भगवतः प्रतिपादिता, पुनरपि कथंभूतो ? मुनिवृषभो मुनिनायकः, पुनरपि किंविशिष्टः ? अनघो न विद्यतेऽघं घातिकर्मचतुष्टयरूपं पापं यस्य स इत्थंभूतो भगवान् निर्बभौ विराजितवान्, क्व ? मुनिपरिषदि समवसरणे, क इव क्वेत्याह—उड्वित्यादि—उडूनां नक्षत्राणां परिषत् संघातः तया परिवीतः परिवेष्टितः स चासौ सोमश्चन्द्रस्तद्वत् ।।१।।

अब भगवान् के मुनिसुव्रत इस नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिः) जिन्होंने मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति को अधिगत—सुनिश्चित अथवा प्राप्त कर लिया है, जो (मुनिवृषभः) मुनियों में श्रेष्ठ हैं और जो (अनघः) चार घातियाकर्मरूपी पाप से रहित हैं ऐसे (भवान्) आप (मुनिसुव्रतः) 'मुनिसुव्रत' इस सार्थक नाम को धारण करनेवाले जिनेन्द्र (मुनिपरिषदि) समवसरण के बीच मुनियों की सभा में (उडुपरिषत्परिवीतसोमवत्) नक्षत्रों के समूह से घिरे हुए चन्द्रमा के समान (निर्बभौ) सुशोभित हुए थे ।

भावार्थ—भगवान् मुनिसुव्रतनाथ ने मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों की स्थिति को अच्छी तरह जान ही नहीं लिया था, किन्तु अपने आचरण में उतार भी लिया था, इसलिए उनका 'मुनिसुव्रत' नाम सार्थक था । वे गणधरादि अन्य मुनियों में श्रेष्ठ होने से 'मुनिवृषभ'—मुनिश्रेष्ठ थे तथा घातिया कर्मों से रहित होने के कारण 'अनघ'—निष्पाप थे । समवसरण में गणधरादि मुनियों के बीच वे ऐसे सुशोभित होते थे, जैसे नक्षत्र-समूह के बीच चन्द्रमा सुशोभित होता है ।।१।।

---

१. 'वदन्त्यपरवक्त्राख्यं वैतालीयं विपश्चितः' वृत्तरत्नाकर के इस उल्लेख के अनुसार 'अपरवक्त्र' का ही दूसरा नाम वैतालीय है । अपरवक्त्र का लक्षण अरजिन स्तवन के १९वें श्लोक की टिप्पणी में दिया गया है ।

भगवतः शरीरातिशयमाह[१]—

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया ।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥२॥

परिणतेत्यादि—अनन्तरश्लोके[२] वपुरित्यास्ते तदिहाभिसंबद्ध्यते तेनेत्थं व्याख्यायते— शोभितं किं तद् ? वपुः, कस्य ? तव, हे जिन ! कया ? कृतमदनिग्रहविग्रहाभया मदो मदनो दर्पो वा कृतो मदस्य निग्रहो येन स चासौ विग्रहश्च तस्याभा दीप्तिस्तया, अथवा कृतमदनिग्रहेति सम्बोधनान्तं जिनस्य विशेषणं, कथंभूतयेत्याह—परिणतेत्यादि—परिणतो युवावस्थः स चासौ शिखी च मयूरस्तस्य कण्ठस्तस्य राग इव रागो यस्याः सा तथोक्ता रागः छाया सादृश्यमित्यर्थः, पुनरपि कथंभूतया ? तपसः प्रसूतया अनशनादिलक्षणं तपस्तस्मात् प्रसूतया जातया, क इव शोभितमित्याह—ग्रहेत्यादि—ग्रहस्य चन्द्रमसः परिवेषो मण्डलं तस्य रुक् दीप्तिस्तयेव ॥२॥

अब भगवान् के शरीर का अतिशय कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कृतमदनिग्रहः) काम अथवा अहंकार का निग्रह करने वाले (जिन !) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! (परिणतशिखिकण्ठरागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली (तपसः प्रसूतया) तप से उत्पन्न (तव विग्रहाभया) आपके शरीर की आभा—चारों ओर फैलने वाली दीप्ति (ग्रहपरिवेषरुचेव) चन्द्रमा के परिवेष—परिमण्डल की दीप्ति के समान (शोभितं) सुशोभित हुई थी ।

भावार्थ—कामविकार अथवा सब प्रकार के अहंकार का नाशकर, मुनिसुव्रत-जिनेन्द्र तपश्चरण में लीन थे । उनका शरीर तरुण मयूर के कण्ठ के समान नीलवर्ण था । यद्यपि उनका वह शरीर स्वभावतः प्रभा से युक्त था तथापि तपश्चरण के निमित्त से वह और भी अधिक प्रभापूर्ण हो गया था । तपश्चरण के कारण उनके शरीर की प्रभा शरीर के चारों ओर मण्डल बनाकर व्याप्त हो गई थी, उससे वह ऐसी सुशोभित होती थी, जैसी कि चन्द्रमा के चारों ओर उसके परिवेष—परिमण्डल की कान्ति सुशोभित होती है ॥२॥

---

१. शरीरातिशयं दर्शयन्नाह २. इस श्लोक की व्याख्या करते समय संस्कृत टीकाकार ने अग्रिम श्लोक से 'वपुः' शब्द लिया है तथा दूसरे और तीसरे श्लोक को युग्म माना है पर यह उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि उस स्थिति में 'ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितं' यहाँ उपमान की कल्पना अलग से करनी पड़ती है तथा तृतीय श्लोक में 'तव' पाठ की निरर्थकता होती है । मेरी समझ से द्वितीय श्लोक में भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के शरीर का वर्णन न कर मात्र उसकी आभा का वर्णन किया गया है । 'शोभितं' पद भाववाचक क्तप्रत्ययान्त है, इसलिए उसके योग में 'विग्रहाभया' यह कर्तृपद तृतीयान्त हो गया है । 'कृतमदनिग्रह' यह सम्बोधनान्त पद जिनका विशेषण है । तीसरे श्लोक में शरीर, वचन और मन की विस्मयनीयता का वर्णन है ।

पुनरपि कथंभूतं वपुरित्याह—

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते ! यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥३॥

शशीत्यादि—शशी चन्द्रस्तस्य रुचिर्दीप्तिस्तद्वच्छुचि निर्मलं शुक्लं लोहितं रुधिरं यस्य, सुरभितरं सुगन्धितरं, विरजो विगतं रजो यस्य, निजमात्मीयं वपुः, शरीरं, तव हे यते ! महामुने ! शिवं प्रशस्तं शुभं, अतिविस्मयं सौन्दर्येण साश्चर्यं, यदपि च वाङ्मनसोद्भवमीहितं चेष्टितं तदप्यतिविस्मयम् ॥३॥

भगवान् का शरीर कैसा था ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यते) हे महामुनिराज ! (शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित और (विरजः) रजरहित—मलरहित जो (तव) आपका (निजं वपुः) अपना शरीर (शिवं) अत्यन्त शुभ तथा (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाला था (च) और (वाङ्-मनसीयमपि) वचन तथा मन की भी (यत् ईहितं) जो चेष्टा (तदपि) वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली थी ।

भावार्थ—माता-पिता के रज-वीर्यरूप एक सदृश उपादानों से उत्पन्न होने पर भी अन्य मनुष्यों का शरीर लाल रुधिर से युक्त होता है, दुर्गन्धित होता है तथा मल-मूत्र से युक्त होता है, परन्तु तीर्थङ्कर जिनेन्द्र का शरीर जन्म से ही चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त होता है, अत्यन्त सुगन्धित रहता है और मल-मूत्र तथा पसीना आदि की बाधा से रहित होता है, इससे सिद्ध होता है कि हे भगवन् ! आपका शरीर अत्यन्त शुभ तथा सबको आश्चर्य में डालने वाला है । शरीर के समान आपके वचन और मन की जो प्रवृत्ति है वह भी आश्चर्य में डालने वाली है, क्योंकि संसार के समस्त मनुष्यों के वचन इच्छापूर्वक प्रकट होते हैं, परन्तु आपके दिव्यध्वनि-रूप वचन आपकी इच्छा के बिना ही प्रकट होते हैं । अन्य मनुष्यों के वचन जिस भाषारूप उच्चरित होते हैं, उसी भाषारूप रहते हैं, परन्तु आपके दिव्यध्वनिरूप वचन सर्वभाषारूप परिणत हो जाते थे । संसार के अन्य मनुष्यों के मन की प्रवृत्ति आजीवन स्थिर रहती है, परन्तु केवलज्ञान हो जाने पर आपके मन की प्रवृत्ति रुक जाती है । संसार के अन्य मनुष्यों के मन, राग-द्वेष से दूषित रहते हैं, परन्तु आपका मन उनसे दूर रहता है ॥३॥

संस्कृत टीका के आधार पर द्वितीय और तृतीय श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे मुनिसुव्रतजिनेन्द्र ! (तव) आपका (वपुः) शरीर (परिणतशिखिकण्ठरागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली, (तपसः) अनशनादि तप से (प्रसूतया) उत्पन्न (कृतमदनिग्रहविग्रहाभया) मदनमद अथवा गर्व का निग्रह करने वाले शरीर की आभा से उस तरह (शोभितं) शोभित हुआ था जिस तरह (ग्रहपरिवेषरुचा 'चन्द्र' इव) ग्रहपरिवेष की कान्ति से चन्द्रमा । (तव) आपका वह (निजं) अपना (वपुः) शरीर (शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित (विरजः) रज रहित, (शिवं) शुभ तथा (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाला था (च) और (यते) हे महामुनिराज ! आपके (वाङ्मनसीयमपि) वचन और मन की भी (यत्) जो (ईहितं) चेष्टा थी (तदपि) वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली थी ॥२-३॥

सर्वज्ञतालिङ्गं चेदमित्याह—

स्थितिजनननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन ! सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

स्थितीत्यादि—स्थितिः ध्रौव्यं जननमुत्पादो निरोधो विनाशस्तल्लक्षणं स्वरूपं यस्य तथोक्तं, किं तत् ? जगत्, कथंभूतं ? चरमचरं च चेतनाचेतनरूपमित्यर्थः, किं कदाचित् तत् तथाभूतमित्यत्राह—प्रतिक्षणं क्षणं क्षणं प्रति, इति एवं यद्वचनं तत् ते तव, जिन ! सकलज्ञलाञ्छनं सर्वज्ञताचिह्नं, किंविशिष्टस्य ते ? वदतांवरस्य वदतां तत्त्वमुपदिशतां मध्ये वरस्य श्रेष्ठस्य ॥४॥

अब भगवान् की सर्वज्ञता के परिचायक वचनों की महिमा दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(जिन) हे मुनिसुव्रतजिनेन्द्र ! (चरं) चेतन (च) और (अचरं) अचेतनरूप (जगत्) संसार (प्रतिक्षणं) क्षण-क्षण में (स्थितिजनननिरोधलक्षणं) ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययरूप लक्षण से युक्त है (इति इदं) इस प्रकार का यह जो (वदतांवरस्य ते) वक्तृप्रवर आपका (वचनं) वचन है (तत्) वह (सकलज्ञलाञ्छनं) सर्वज्ञ का चिह्न है—आपकी सर्वज्ञता का द्योतक है ।

भावार्थ—संवाद अर्थात् जो पदार्थ जैसा कहा गया हो उसका वैसा ही पाया जाना पदार्थ की यथार्थता का लक्षण है और पदार्थ की यथार्थता वक्ता की श्रेष्ठता तथा उसकी ज्ञानसम्पन्नता को सूचित करती है। हे मुनिसुव्रतजिनेन्द्र! आपने जो कहा था कि यह चराचर विश्व प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है अर्थात् पर्याय की अपेक्षा इसमें नवीन पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा द्रव्य की अपेक्षा सामान्य अंश दोनों पर्यायों में विद्यमान रहता है, वह प्रत्यक्ष ही अनुभव में आ रहा है। इस तरह विसंवाद—विरोध से रहित आपके यह वचन सूचित करते हैं कि आप वदतांवर हैं—वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं और सर्वज्ञ हैं ।।४।।

भगवतोऽपायाप्राप्तिप्रतिपादनपूर्वकं स्तोता स्तुतेः फलं याचमान आह—

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान्भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ।।५।।

दुरितेत्यादि—अभवत् संजातः, कोऽसौ? भवान् मुनिसुव्रततीर्थकरदेवः, कथंभूतः? अभवसौख्यवान् भवे संसारे सौख्यमिन्द्रियप्रभवं भवसौख्यं न भवसौख्यमभवसौख्य-मतीन्द्रियमोक्षसौख्यमित्यर्थः तदस्यास्तीति तद्वान्, किं कुर्वन् अभवसौख्यवानभवत्? निर्दहन् भस्मसात्कुर्वन् किं तत्? दुरितमलकलङ्कं दुरितं कर्म तदेव मलो जीवस्वरूप-प्रच्छादकत्वात् तेन कलङ्कं आत्मन उपलेपस्तं, कथंभूतं? अष्टकं ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं, केन निर्दहन्? निरुपमयोगबलेन योगः समाधिः शुक्लध्यानलक्षणो निरुपमश्चासौ योगश्च तस्य बलं सामर्थ्यं तेन स इत्थंभूतो भगवान् भवतु अस्तु, किमर्थं? भवोपशान्तये संसार-विनाशाय, कस्य ममापि स्तोतुरपि न केवलं स्वात्मन एव ।।५।।

अब स्तोता, स्तुति के फल की याचना करता है—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (निरुपमयोगबलेन) अनुपम शुक्लध्यान के बल से (अष्टकं) आठ प्रकार के (दुरितमलकलङ्कं) कर्ममल-कलङ्क को (निर्दहन्) जलाते हुए (भवान्) आप (अभवसौख्यवान्) मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय सुख से युक्त (अभवत्) हुए हैं ऐसे आप (ममापि) मुझ समन्तभद्र के भी (भवोपशान्तये) संसार की उपशान्ति के लिए (भवतु) होवें।

भावार्थ—जो जिस वस्तु को प्राप्त कर चुकता है, उसी से उस वस्तु की याचना की जाती है। हे भगवन्! आप अनुपम शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी मल के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले कलङ्क—विकारीभावों को भस्मकर मोक्ष

सम्बन्धी अतीन्द्रिय आत्मसुख के उपभोक्ता बन चुके हैं, इसलिए मैं याचना करता हूँ कि आप मुझ समन्तभद्र के भी संसार की उपशान्ति के लिए हों—आपका निमित्त पाकर मेरी आत्मा में भी शुक्लध्यानरूपी प्रबल अग्नि प्रज्ज्वलित हो और उसकी सामर्थ्य से मैं भी आठकर्मों के निमित्त से होने वाले कलङ्क को भस्म कर अविनाशी आत्मसुख का पात्र बनूँ ॥५॥

इति मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

प्रज्ञाश्रमण मुनि

श्री नमिजिनस्तवनम्

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥१॥

स्तुतिरित्यादि—शिखरिणीच्छन्दः[१]। स्तुतिः स्तोत्रं, कुशलपरिणामाय कुशलं पुण्यं तस्य साधकः परिणामः कुशलपरिणामः तस्मै भवतीत्यध्याहार्यम्, कस्य? स्तोतुः स्तुतिकर्तुः, कथंभूतस्य? साधोर्भव्यस्य, स स्तुत्यः तदा स्तुतिकाले उपलक्षणमेतद्देशस्य तत्र भवेन्मा वा भवेत् 'नायंमाङ्तो माङि लुङ्' इति लुङ् भवति, ततः स्तुत्यात् फलमपि स्वर्गादिकं भवेन्मा वेति योग्यं, तस्य च सतः, चो यस्मादर्थे, तस्य स्तोतुः सतः विद्यमानस्य, यस्मात्कुशल-परिणाम-प्रसाध्यपुण्यविशेषादेव तत्फलं संभवति अतश्च स कथं प्रेक्षापूर्वकारी भवन्तं न स्तुयादित्याह—किमेवमित्यादि—किं न त्वा स्तुयादपि तु स्तुयादेव, कोऽसौ विद्वान् विवेकी कस्मिन् सति? श्रायसपथे श्रेयो निःश्रेयसं तदधिकृत्य कृतः श्रायसः 'देविकाशिंशपा दीर्घसत्रश्रेयसामा' इत्येकारस्याकारः स चासौ पन्थाश्च सम्यग्दर्शनादि-लक्षणो मोक्षमार्गस्तस्मिन्, कथंभूते? सुलभे सुखप्राप्ते, क्व? जगति, कस्मात्, स्वाधीन्यात् आत्मायत्तत्वात्, कथम्? एवमुक्तप्रकारेण, कथंभूतं त्वां नमिजिनं नमिनामानं जिनं तीर्थङ्करदेवं, पुनरपि कथंभूतं? सततमभिपूज्यं सततं सर्वदा अभि समन्तादिन्द्रादीनां पूज्यमाराध्यम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्तुतिः) भगवान् की स्तुति (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (साधोः) भव्यपुरुष के (कुशलपरिणामाय) पुण्यसाधक—प्रशस्त परिणाम के लिए होती है (तदा) स्तुति के काल अथवा स्तुति के देश में (सः स्तुत्यः) वह स्तुति का पात्र आराध्यदेव (भवेत् मा वा) हो अथवा न हो (च) और (ततः) उस स्तुत्य से (तस्य सतः) उस स्तुति करने वाले भव्यपुरुष को (फलमपि) स्वर्गादि फल की प्राप्ति भी (भवेन्मा वा) हो अथवा न हो (एवं) इस प्रकार (जगति) संसार में (स्वाधीन्यात्) स्वाधीनता से (श्रायसपथे) कल्याण अथवा सम्यग्दर्शनादि मोक्षसम्बन्धी मार्ग के (सुलभे 'सति') सुलभ रहने पर (किं) क्या (विद्वान्) विचारपूर्वक कार्य करने वाला

१. 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' जिसके प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु इस क्रम से १७ अक्षर हों तथा ६वें और ११वें अक्षर पर यति हो उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं।

विवेकी जन (सततं) सदा (अभिपूज्यं) इन्द्रादि के द्वारा पूज्य (त्वां नमिजिनं) आप नमिजिनेन्द्र की (न स्तुयात्) स्तुति न करे ? अवश्य करे ।

भावार्थ—जिस काल अथवा जिस क्षेत्र में जिसकी स्तुति की जा रही है, वह उस काल अथवा उस क्षेत्र में विद्यमान हो या न हो तथा उससे स्तुति करने वाले को इष्ट फल की प्राप्ति हो अथवा न हो, परन्तु यह निश्चित है कि स्तुति; स्तुति करने वाले भव्यपुरुष के पुण्य परिणाम का कारण अवश्य होती है—स्तुति से उसे पुण्यबन्ध में सहायक प्रशस्त परिणाम की प्राप्ति अवश्य होती है । इस तरह संसार में कल्याण का मार्ग स्तोता के आधीन है, स्तुत्य के आधीन नहीं । स्वाधीनता के कारण स्तोता को वह कल्याण का मार्ग सुलभ भी है, इस सुलभता के रहते हुए भी ऐसा कौन विवेकी होगा जो इन्द्रादि के द्वारा पूज्य नमिजिनेन्द्र की स्तुति न करेगा ? यहाँ समन्तभद्र-स्वामी से कोई यह प्रश्न करता हुआ-सा जान पड़ता है कि हे समन्तभद्र ! तुम इस समय वर्तमान क्षेत्र में जिन नमिजिनेन्द्र के स्तवन को उद्यत हो रहे हो, वे यहाँ विद्यमान नहीं है फिर उनके अभाव में तुम उनका स्तवन कैसे कर सकते हो ? इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि मैं जिन नमिजिनेन्द्र की स्तुति करना चाहता हूँ, वे यहाँ न भी रहें और न उनका दिया हुआ कुछ फल भी मुझे प्राप्त हो पर मेरी उनके प्रति जो भक्ति है, वह मेरे परिणाम को निर्मल अवश्य बनाती है परिणाम की निर्मलता ही कार्यकारी है,परिणाम की निर्मलता के बिना आराध्यदेव मेरा कुछ हित नहीं कर सकते । इस तरह मेरे कल्याण का मार्ग मेरे आधीन है, नमिजिनेन्द्र के सद्भाव या असद्भाव के आधीन नहीं । जब यह बात है, तब मैं इन्द्रादि के द्वारा पूज्य नमिजिनेन्द्र की स्तुति क्यों न करूँ ? विद्वान्—विवेकी तो वही है, जो प्रत्येक स्थिति में अपना कार्य सिद्ध कर ले ।।१।।

किं तेन कृतं येनेत्थं पूज्योऽसौ संपन्न इत्याह—

त्वया धीमन् ! ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं ,
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी ।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव- ,
न्नभूवन्खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ।।२।।

त्वयेति—त्वया नमितीर्थङ्करदेवेन, धीमन् ! विशिष्टबुद्धियुक्त ! निर्भिन्नं विनाशितं किं तत् ? जन्मनिगलं जन्मैव निगलं बन्धनं, कथं निर्भिन्नं ? समूलं तत्कारणभूतकर्मणा सहेत्यर्थः, कथंभूतेन त्वया ? ब्रह्मप्रणिधिमनसा ब्रह्मणि परमात्मस्वरूपे प्रणिधिः प्रणिधानमेकाग्रता

यस्य तत्तथाभूतं मनो यस्य तेन, यतस्त्वया तन्निर्भिन्नं ततः त्वमसि भवसि मोक्षपदवी मोक्षमार्गः, केषां? विदुषां विपश्चिताम्। ननु सुगतादिभिरपि तन्निर्भिन्नं भविष्यत्यतस्तेऽपि तत्पदवीरूपाः स्युरित्यत्राह—त्वयीत्यादि—त्वयि नमिजिने, कथंभूते? शुचिरवौ शुचिर्निर्मलो रविः शुचिकाले वा आषाढकाले रविः तस्मिन् तद्रवाविव, तद्रवौ किं कुर्वति? भाति, कैरित्याह—ज्ञानेत्यादि—ज्ञानमेव केवलस्वरूपं ज्योतिस्तस्य विभवः सम्पत्तिः स एव किरणास्तैः इत्थं त्वयि भाति सति हे भगवन्! अभूवन् संजाताः, के? अन्यमतयः भवत्प्रणीततत्त्वादन्यस्मिंस्तत्त्वे मतिर्बुद्धिर्येषामीश्वरकपिलसुगतादीनां, ते कथंभूता अभूवन्? खद्योता इव खे आकाशे द्योतन्त इति खद्योता, कीटकविशेषाः त इव हतप्रतापाः संजाता इत्यर्थः ॥२॥

नमि जिनेन्द्र ने ऐसा कौन-सा कार्य किया जिससे वे इस प्रकार पूज्य हुए? यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(हे धीमन्!) हे विशिष्ट बुद्धि से युक्त नमिजिनेन्द्र! (ब्रह्मप्रणिधि-मनसा) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर चित्त वाले (त्वया) आपके द्वारा (जन्मनिगलं) संसाररूपी बन्धन (समूलं) मूल—कारण सहित (निर्भिन्नं) नष्ट किया गया है इसलिए (त्वम्) आप (विदुषां) विद्वानों के लिए (मोक्षपदवी) मोक्षमार्गस्वरूप (असि) हैं। (भगवन्) हे भगवन्! (त्वयि) आपके (ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैः) केवलज्ञानज्योति की संपदारूप किरणों के द्वारा (भाति 'सति') सुशोभित होने पर (अन्यमतयः) सुगत, कपिल, ईश्वर आदि अन्यमतावलम्बी जन (शुचिरवौ) ग्रीष्मऋतु के सूर्य के देदीप्यमान रहने पर (खद्योता इव) जुगनुओं के समान (अभूवन्) हो गये थे।

भावार्थ—हे भगवन्! शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन-चित्त होकर आपने संसाररूपी बन्धन को चूँकि जड़ सहित काट दिया है, इसलिए आप विवेकीजनों के लिए मोक्षमार्ग-स्वरूप हुए हैं—आपका अनुकरण कर विवेकीजन मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यदि यहाँ कोई यह कहे कि सुगत, कपिल, ईश्वर आदि अन्यमतावलम्बी भी तो तत्त्व का प्रतिपादन कर लोगों को मोक्षमार्ग बतलाते हैं फिर एक आप ही मोक्षमार्ग कैसे हो सकते हैं? तो उसका उत्तर यह है कि हे भगवन्! चूँकि आप निर्मल सूर्य के समान केवलज्ञानरूप किरणों से सुशोभित हो रहे हैं, अतः आपके सामने अन्यमतावलम्बी लोग ठीक उस तरह हतप्रभाव हो जाते हैं, जिस तरह कि ग्रीष्मऋतु के सूर्य के सामने जुगनू नाम का कीट विशेष ॥२॥

इदानीं सप्तभङ्गसमाश्रयणेन भगवता यथा तत्त्वमुपदिष्टं तथा प्रदर्शयन्नाह—

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद् ,
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा ,
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥३॥

विधेयमित्यादि—त्वया नमितीर्थङ्करदेवेन, गीतं कथितं, किं तत्? तत्त्वं जीवादिः कुतो? बहुनयविवक्षेतरवशात् बहवश्च ते नयाश्च नैगमादयस्तेषां विवक्षा च इतरा चाविवक्षा तयोर्वशादायत्तत्वात् । कथं तद्वशात्तत्प्रतिपादितं विधेयमित्यादि—विधेयं स्वरूपचतुष्टयापेक्षयास्तित्वं, वार्यं चापि पररूपादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वं, च समुच्चये अपि संभावने, अनुभयमवाच्यं युगपत्तयोर्वक्तुमशक्यत्वात् उभयं च अस्तिनास्तिरूपं क्रमविवक्षितस्वरूपपररूपचतुष्टयापेक्षया, मिश्रमपि स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्ति चावक्तव्यं च तत्तत्त्वं । एते सप्तभङ्गाः कैर्भवन्ति? विशेषैस्त्रिकालधर्मैः, कथं? प्रत्येकं एकमेकं प्रति प्रत्येकं कथंभूतैर्नियमविषयैः सप्तधैव नाधिका भङ्गा इति योऽयं नियमस्तद्विषयैः, पुनरपि कथंभूतैर्विशेषैः? अपरिमितैः एकस्यापि वस्तुनोऽनन्तधर्मसंभवात्, पुनरपि कथंभूतैः? सदान्योन्यापेक्षैः सदा सर्वकालं अन्योऽन्यापेक्षैः परस्परापेक्षैः स्वरूपादिचतुष्टयेन सत्त्वं हि पररूपादिचतुष्टयेनासत्त्वमपेक्ष्यते । एवं मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं स्थूलत्वं सूक्ष्मत्वमित्यादि । कथंभूतेन त्वयेत्याह—सकलेत्यादि—सकलं च तद् भुवनं च तस्य ज्येष्ठो महान् स चासौ गुरुश्च आराध्यस्तेन ॥३॥

अब सप्तभङ्गों के आश्रय से भगवान् ने तत्त्व का उपदेश दिया है, यह दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा) समस्त संसार के महान् गुरुस्वरूप (त्वया) आपने (बहुनयविवक्षेतरवशात्) अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा के वश (प्रत्येकं) विधि-निषेध, मूर्त-अमूर्त, स्थूल-सूक्ष्म आदि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य कर (नियमविषयैः) 'भङ्ग' सात ही होते हैं हीनाधिक नहीं इस नियम के विषयभूत (च) और (सदान्योन्यापेक्षैः) सदा एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले (अपरिमितैः) अनन्त (विशेषैः) त्रैकालिक धर्मों के द्वारा (तत्तत्त्वं) उस वस्तु स्वरूप को (विधेयं) विधिस्वरूप, (वार्यं) निषेध स्वरूप, (उभयं) विधि-निषेध स्वरूप, (अनुभयं) अवक्तव्य स्वरूप (च) और (मिश्रमपि) मिश्ररूप भी—अर्थात् स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति-अवक्तव्य तथा स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इस तरह सात भङ्गरूप (गीतं) कहा है ।

भावार्थ—संसार के प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व, नास्तित्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि अनन्त-धर्म पाये जाते हैं। कथन करते समय इन प्रत्येक धर्मों के सात-सात ही भङ्ग होते हैं, न कम और न अधिक, क्योंकि प्रत्येक धर्म के मूलतः विधि, निषेध और अवक्तव्य के भेद से तीन भङ्ग होते हैं, पश्चात् तीन भङ्गों को परस्पर में संयुक्त करने से इनके सात भङ्ग हो जाते हैं। जैसे अस्तित्व-धर्म को लीजिए, इसके सात भङ्ग इस प्रकार होते हैं – स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व है, परचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व नहीं है – नास्तित्व है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की एक साथ अपेक्षा करने पर वस्तु का कथन नहीं हो सकता, इसलिए अवक्तव्य है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की क्रम से अपेक्षा करने पर अस्तित्व-नास्तित्व है। अस्तित्व के साथ अवक्तव्य का सम्बन्ध करने पर अस्तित्व-अवक्तव्य है। नास्तित्व के साथ अवक्तव्य का सम्बन्ध करने पर नास्तित्व-अवक्तव्य है और अस्तित्व-नास्तित्व दोनों के साथ अवक्तव्य का सम्बन्ध करने पर अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य है। इस तरह अस्तित्व-धर्म के सात ही भङ्ग होते हैं, सात से न कम होते हैं और न अधिक होते हैं। पदार्थ में पाये जाने वाले ये सब धर्म सदा एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तथा इन सबका कथन द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा नैगमादि अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा के आधार पर होता है। वक्ता जिस समय, जिस धर्म को, जिस नय से कहने की इच्छा रखता है, उस समय वह धर्म, वह नय, मुख्य हो जाता है और शेष धर्म तथा शेष नय, गौण हो जाते हैं। हे नमिनाथ जिनेन्द्र! आप समस्त जगत् के श्रेष्ठतम गुरु हो, इसीलिए आपने वस्तुस्वरूप का मनन कर उसे १. विधेय-विधिरूप, २. वार्य-प्रतिषेध्यरूप, ३. उभय-विधेय और प्रतिषेध्यरूप, ४. अनुभय-अवक्तव्यरूप तथा मिश्ररूप, ५. विधेय-अवक्तव्य, ६. प्रतिषेध्य-अवक्तव्य और ७. विधेय-प्रतिषेध्य-अवक्तव्य इन सात भङ्गों रूप कथन किया है ॥३॥

परमपि भगवतो गुणमाह—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥४॥

अहिंसेत्यादि—अहिंसा दया भगवता जगति लोके विदिता यथावद्ज्ञाता, विदित-मित्येतल्लिङ्गपरिणामेनाभिसम्बद्ध्यते, सा केषां? भूतानां प्राणिनां, तथा ब्रह्म परममात्म-स्वरूपं ब्रह्मचर्यं वा परममुत्कृष्टं जगति विदितं यथावज्ज्ञातं । न सा अहिंसा तत्र तस्मिन्नाश्रमविधौ पाषण्डिप्रकारे यत्र यस्मिन् तद्विधौ आरम्भो व्यापारोऽस्ति, कथंभूतः? अणुरपि च स्वल्पोऽपि न केवलं महान्, यत एवं ततः तस्मात्कारणात् तत्सिद्ध्यर्थं तस्या अहिंसायाः सिद्ध्यर्थं निरतिचाराहिंसाव्रतसिद्ध्यर्थं ग्रन्थं परिग्रहमुभयं बाह्यमाभ्यन्तरं च भवानेव न सुगतादिः अत्याक्षीत् परित्यक्तवान्, किंविशिष्टः? परमकरुणः परमा करुणा दया यस्य । तथाभूतस्यापि भगवतो यथाजातलिङ्गविरोधी कश्चिद् विकारादिर्भविष्यतीत्यत्राह—न चेत्यादि—वेषश्च जटामुकुटभस्मोद्धूलनादिः उपधिश्च वस्त्राभरणाक्षसूत्राजिनादि-परिग्रहः, विकृतौ यथाजातलिङ्गविरोधिनौ तौ च तौ वेषोपधी च तयो रत आसक्तो न च नैव ॥४॥

आगे निर्ग्रन्थ दशा के बिना अहिंसा संभव नहीं है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भूतानां) प्राणियों की (अहिंसा) अहिंसा (जगति) जगत् में (परमं ब्रह्म) परम ब्रह्मरूप से (विदितं) प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु (सा) वह अहिंसा (तत्र) उस (आश्रमविधौ) आश्रम विधि में (न अस्ति) नहीं है (यत्र) जिसमें कि (अणुरपि) थोड़ा भी (आरम्भः) आरम्भ होता है (ततः) इसलिए (तत्सिद्ध्यर्थं) उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिए (परमकरुणः) परम दयालु होकर (भवानेव) आपने ही (उभयं) बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दोनों प्रकार के (ग्रन्थं) परिग्रह को (अत्याक्षीत्) छोड़ा है (च) और (विकृतवेषोपधिरतः) यथाजात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह में आसक्त (न 'अभवत्') नहीं हुए हैं ।

भावार्थ—ब्रह्म का अर्थ उत्कृष्ट आत्मस्वरूप अथवा ब्रह्मचर्य है । संसार में अहिंसा, इसी उत्कृष्ट आत्मस्वरूप अथवा ब्रह्मचर्य रूप मानी गई है अर्थात् अहिंसा और ब्रह्म ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । संसार में प्रत्येक मतावलम्बी लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक आश्रमों की स्थापना कर उनका लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति बतलाते हैं । उन आश्रमों में रहने वाले लोगों की जलावगाहन, जटाधारण, कन्दमूलादिभक्षण तथा पञ्चाग्नितप आदि जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब अनेक जीवों की हिंसा से ओतप्रोत हैं । यही नहीं, इनमें रहने वाले लोग नाना प्रकार के विकृत वेष धारण करते हैं, कोई जटा रखते हैं, कोई शिर पर मयूरपिच्छ का मुकुट धारण करते

हैं और कोई शरीर में भस्म लपेटते हैं, परिग्रह त्याग का नियम लेकर भी नाना परिग्रह रखते हैं, कोई पीताम्बर रखते हैं, कोई कण्ठाभरण रखते हैं, कोई अक्षसूत्र रखते हैं और कोई मृगचर्म, व्याघ्रचर्म तथा दण्ड, त्रिशूल आदि रखते हैं । इन सबकी समीक्षा करते हुए समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हे भगवन् ! जिस आश्रम-विधि में महा हिंसा तो दूर रही अणुमात्र भी हिंसा होती है, वहाँ अहिंसारूप परमब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसीलिए आपने परम दयालु होकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग किया है और ऐसा त्याग किया है कि नग्न दिगम्बर मुद्रा को दूषित करने वाले वेष और परिग्रह को पास भी नहीं आने दिया है । हे नमिजिनेन्द्र ! यह सब भवानेव–आप ही कर सके हैं, संसार के अन्य देवी-देवता इस आदर्श को नहीं प्राप्त कर सके हैं, इसलिए हम आपको नमस्कार करते हैं ।।४।।

यत एवंविधस्त्वं ततस्त्वदीयं वपुस्ते परमवीतरागतां कथयतीत्याह–

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तकरणं ,
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातङ्कविजयम् ।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं ,
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ।।५।।

वपुरित्यादि–ते तव, वपुः शरीरं, संचष्टे कथयति, कं? स्मरशरविषातङ्कविजयं स्मरः कामस्तस्य शरा बाणास्त एव विषं संतापमोहहेतुत्वात् तेनातङ्कश्चित्तपीडा स एव वा आतङ्कोऽप्रतीकारो व्याधिः तस्य विजयं विनाशं, कथंभूतं वपुरित्याह–भूषेत्यादि–भूषा कटककटिसूत्राद्यलङ्कारः, तस्या आसमन्ताद् वेषो व्याप्तिर्यथास्थानं विनिवेशः तेन व्यवधिर्वपुषः प्रच्छादनं तेन रहितं, पुनरपि कथंभूतं? शान्तकरणं शान्तानि उपशान्तानि स्वस्वविषयस्पृहाव्यावृत्तानि करणानीन्द्रियाणि यस्य, पुनरपि कथंभूतमित्याह–अदयेत्यादि–न विद्यते दया यस्येत्यदयं हिंस्तृ तच्च तद् हृदयं च तस्यामर्षः क्रोधस्तस्य विलयो विनाशो तत्र । ननु भगवानायुधरहितस्तत्कथं तज्जयः स्यादित्याह–विनेत्यादि–विना अन्तरेण भीमैर्भयानकैः शस्त्रैः प्रहरणैः, इत्थंभूतं वपुर्यतस्ते तज्जयं संचष्टे ततस्तस्मात्कारणात् त्वं नमितीर्थंकरदेवः शरणं असि भवसि, नोऽस्माकं, किंविशिष्टो? निर्मोहः मोहान्निःक्रान्तो मोहो वा निःक्रान्तो यस्मात्, पुनरपि किंविशिष्टः? शान्तिनिलयः सकलकर्मप्रक्षयस्य निलयः आश्रयः, शान्तिर्वा मुक्तिर्निलयः आश्रयो यस्य ।।५।।

आगे कहते हैं कि आपका शरीर ही वीतरागता को प्रकट कर रहा है—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भूषावेषव्यवधिरहितं) आभूषण वेष तथा वस्त्रादिक के आवरण से रहित और (शान्तकरणं) अपने-अपने विषयों से निःस्पृह इन्द्रियों से युक्त (ते) आपका (वपुः) शरीर (यतः) चूँकि (स्मरशरविषातङ्कविजयम्) काम के बाणरूप विष से उत्पन्न व्याधि की विजय को तथा (भीमैः शस्त्रैः बिना) भयंकर शस्त्रों के बिना (अदयहृदयामर्षविलयं) निर्दयहृदय सम्बन्धी क्रोध के विनाश को (संचष्टे) कह रहा है (ततः) इसलिए (त्वं) आप (निर्मोहः) मोह रहित और (शान्तिनिलयः) कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाली शान्ति के स्थान हैं तथा (नः) हमारे (शरणम्) शरणभूत—रक्षक (असि) हैं।

भावार्थ—संसार के अन्य मनुष्य कामबाणों के प्रहार से होनेवाली विकृति को वस्त्रादि के आवरण से छिपाकर अपने आपको स्वस्थ प्रकट करते हैं परन्तु, हे नमिजिनेन्द्र! आप तो वस्त्राभूषणादि से रहित सर्वथा दिगम्बर मुद्रा के धारक हैं, अतः आप काम-विकार को कैसे छिपा सकते हैं? इससे विदित होता है कि आपने कामविकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। संसारी मनुष्यों की चञ्चल इन्द्रियाँ उनके मानसिक विकार को प्रकट कर देती हैं, पर आपकी इन्द्रियाँ अत्यन्त शान्त हैं, इससे भी विदित होता है कि आप मानसिक विकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं। संसारी प्राणियों के हृदय में निर्दय क्रोध का वास है उस क्रोध के वशीभूत होकर वे भयंकर शस्त्रों द्वारा शत्रु का नाशकर अपने क्रोध को शान्त करना चाहते हैं परन्तु हे भगवन्! आप भयंकर शस्त्रों के बिना ही हृदय में बसने वाले क्रोध का बिलकुल नाश कर चुके हैं इससे सिद्ध होता है कि आप काम तथा क्रोध को जन्म देने वाले मोह से रहित हैं और मोह से रहित होने के कारण शान्ति के स्थान हैं। आपकी इन सभी विशेषताओं से आकृष्ट होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ; आप मेरी रक्षा कीजिये, मेरे काम क्रोधादि-विकारों को दूरकर मुझे आप शान्ति—सुख का स्थान बनाइये ॥५॥

इति नमिजिनस्तवनम्

श्री अरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्द्य बुद्धकमलायतेक्षणः ॥१॥

भगवानित्यादि—विषमजातौ उद्गतानाम[1] छन्दः । भगवान् विशिष्टज्ञानवानिन्द्रादीनां पूज्यो वा, अरिष्टनेमिरिति द्वितीयवृत्तगतेनाभिसम्बन्धः, कथंभूतः ? ऋषिः परमर्द्धिसंपन्नः, पुनरपि कथंभूत इत्याह—परमेत्यादि—परमश्चासौ योगश्च शुक्लध्यानं स एव दहनः कल्मषं ज्ञानावरणादिकर्म तदेवेन्धनं तद्दहने हुतं कल्मषेन्धनं येनासौ परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः, किं कृत्वा ? प्रतिबुध्द्य प्रकाश्य ज्ञात्वा, किं तत् ? सकलं लोकालोकजातं, कैः ? ज्ञानविपुलकिरणैः ज्ञानमेव विपुला विस्तीर्णा निरवशेषोद्योतनसमर्थाः किरणा रश्मयस्तैः, पुनरपि कथंभूतो ? बुद्धकमलायतेक्षणः बुद्धं विकसितं तच्च तत्कमलं कमलशब्देनात्र तत्पत्रमुच्यते तद्वदायते दीर्घे ईक्षणे लोचने यस्य स ॥१॥

एतद्विशेषणविशिष्टो भगवान् कथंभूतः संजात इत्याह—

हरिवंशकेतु-रनवद्य-विनय-दम-तीर्थनायकः ।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

हरीत्यादि—अभवः आसीत् भूतवान् कथंभूतः ? विभवो विगतभवः संसारमुक्त इत्यर्थः, किंनामा त्वमित्याह—अरिष्टनेमीत्यादि—अरिष्टनेमिनामा अरिष्टानां कर्मणां नेमिश्चक्रधारा स चासौ जिनकुञ्जरश्च जिनानां देशजिनानां कुञ्जरो नायकः प्रधानः, पुनरपि कथंभूतः ? अजरो न विद्यते जरा वार्द्धक्यमस्येति, पुनरपि किंविशिष्टः ? हरिवंशकेतुः हरिवंशे विष्णुवंशे केतुः ध्वजः, पुनरपि कथंभूतः ? अनवद्यविनयदमतीर्थनायकः न विद्यतेऽवद्यं दोषोऽनयोरित्यनवद्यौ तौ च तौ विनयदमौ च ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रोपचारभेदाद्विनयः पञ्चविधः पञ्चेन्द्रियजयनाद्दमोऽपि, अनवद्यता चानयोर्मायादिरहितत्वात् तयोस्तीर्थं तत्प्रतिपादकं प्रवचनं तस्य नायकः प्रवर्तकः, पुनरपि किंविशिष्टः ? शीलजलधिः शीलानां जलधिः शीलसमुद्रः ॥२॥युग्मं॥

---

१. प्रथमे सजौ यदि सलौ च, नसजगुरुकाण्यनन्तरम् ।
यद्यथ भनजलगाः स्युरथो, सजसा जगौ च भवतीयमुद्गता ॥ (छन्दोमञ्जरी)

जिसके प्रथम चरण में सगण जगण, सगण और लघु, द्वितीय चरण में नगण, सगण, जगण और गुरु, तृतीय चरण में भगण नगण, जगण, लघु और गुरु तथा चतुर्थ चरण में सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु हों उसे उद्गता छन्द कहते हैं । यह विषम जाति का छन्द है ।

इन विशेषणों से विशिष्ट भगवान् कैसे हुए ? यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(भगवान्) जो विशिष्ट ज्ञानवान् अथवा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य हैं, (ऋषिः) जो परम ऋद्धियों से सम्पन्न हैं, (परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः) उत्कृष्ट शुक्लध्यानरूपी अग्नि में जिन्होंने कर्मरूपी ईंधन को होम दिया है, (बुद्धकमलायतेक्षणः) जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान विशाल हैं, (हरिवंशकेतुः) जो हरिवंश के प्रधान हैं, (अनवद्यविनयदमतीर्थनायकः) जो निर्दोष विनय और इन्द्रियदमन के प्रतिपादक शास्त्र के प्रवर्तक हैं, (शीलजलधिः) जो शील के समुद्र हैं और (अजरः) जो वृद्धावस्था से रहित हैं ऐसे (त्वं) आप (अरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरः) अरिष्टनेमि जिनेन्द्र (ज्ञानविपुलकिरणैः) ज्ञानरूप विस्तृत किरणों के द्वारा (सकलं) समस्त लोकालोक को (प्रतिबुद्ध्य) प्रकाशित कर अथवा जानकर (विभवः) संसार से मुक्त (अभवः) हुए थे ।

भावार्थ—इन श्लोकों में अरिष्टनेमि जिनेन्द्र की शारीरिक, कौलिक तथा आध्यात्मिक विशेषता का वर्णन किया गया है । शारीरिक विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे विकसित कमलदल के समान नेत्रों से युक्त थे तथा उनका शरीर जरा—बुढ़ापा से रहित था । शलाका पुरुषों के शरीर में जरा का असर नहीं होता, उनका शरीर जीवन-पर्यन्त सोलह वर्ष के तरुण के समान रहा करता है, फलतः नेमिजिनेन्द्र का शरीर भी वार्धक्यजनित विकार से रहित था । कौलिक विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि वे उस हरिवंश की पताकास्वरूप प्रधान थे, जिसकी स्थापना कर्मभूमि के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभदेव ने की थी अथवा तात्कालिक हरि—कृष्ण नारायण के वंश के शिरोमणि थे । आध्यात्मिक विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने उत्कृष्ट शुक्लध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी ईंधन को होम दिया था, उसके फलस्वरूप उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं । अष्टप्रातिहार्यरूप उत्कृष्ट ऐश्वर्य से वे युक्त हुए थे । केवलज्ञानरूप विपुल—लोकालोक में प्रसरित होने वाली किरणों से उन्होंने सकल संसार को प्रकाशित किया था अथवा हित का उपदेश दिया था । दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार के भेद से पाँच प्रकार की विनय और पञ्चेन्द्रियों के दमनरूप पाँच प्रकार के दम का प्रतिपादन करने वाले तीर्थ की उन्होंने प्रवृत्ति की थी । वे शील के सागर थे, अठारह हजार शील के भेद उनमें पूर्णता को प्राप्त हुए थे अथवा विवाह के पूर्व ही राजीमति का परित्याग कर जिन्होंने अपने जीवन में ब्रह्मचर्य का परम आदर्श प्राप्त किया था और इन सब विशेषताओं के कारण वे अन्त में भवभ्रमण से छूटकर सदा के लिए मुक्त हो गये थे ।।१-२।।

इत्थंभूतस्य, भगवतः पादयुगलं कीदृशमित्याह—

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् ।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ॥३॥

त्रिदशेन्द्रादि—त्रिदशा देवास्तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तेषां मौलयो मुकुटानि तेषु मणिरत्नानि मणयः पद्मरागादयस्त एव रत्नानि वज्रादीनि वा तेषां किरणास्तेषां विसराः प्रसरास्तैरुपचुम्बितं, किं तत् ? पादयुगलं, कथंभूतं अमलं न विद्यते मलं पापं यस्य, यद्दर्शने भव्यानां वा, कस्य सम्बन्धि तत् ? भवतः अरिष्टनेमितीर्थङ्करदेवस्य, पुनरपि कथंभूतमित्याह—विकसदित्यादि—विकसच्च तत्कुशेशयं च पद्मं तस्य दलं पत्रं तद्वदरुणं रक्तं उदरं पादतलं यस्य तद् विकसत्कुशेशयदलारुणोदरं ॥३॥

पुनरपि किंविशिष्टं पादयुगलमित्याह—

नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ॥४॥

नखेत्यादि—नखा एव चन्द्रास्तेषां रश्मयः तेषां कवचः परिवेषः तेनातिरुचिरं शिखरमग्रभागो यस्य तत्तथाविधमङ्गुलीनां स्थलमुन्नतप्रदेशो यस्य पादयुगलस्य तत् नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलं, तत्किं कुर्वन्ति ? प्रणमन्ति, के ते ? महर्षयः, कथंभूता ? मन्त्रमुखराः मन्त्रेण सप्ताक्षरेण सामान्यस्तुतिरूपेण वा मुखरा वाचालाः, पुनरपि कथंभूताः ? सुधियः शोभना धीर्येषां, अतएव स्वार्थनियतमनसः स्वार्थे मोक्षलक्षणे नियतं नियन्त्रितं मनो यैः ॥४॥

ऐसे भगवान् के चरणयुगल कैसे थे ? यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (स्वार्थनियतमनसः) मोक्षरूप स्वार्थ में जिनके मन नियन्त्रित हैं (सुधियः) जो उत्तमबुद्धि से युक्त हैं और (मन्त्रमुखराः) जो 'णमो णेमिजिणाणं' इस सात अक्षर वाले मन्त्र से अथवा सामान्य स्तुति से वाचाल हैं ऐसे (महर्षयः) गणधरादि बड़े-बड़े ऋषि (भवतः) आपके (तत्) उस (पादयुगलं) चरणयुगल को (प्रणमन्ति) प्रणाम करते हैं (यत्) जो कि (त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम्) इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए मणियों और रत्नों की किरणों के समूह से चुम्बित हैं, (अमलं) निर्मल—उज्ज्वल हैं, (विकसत्कुशेशयदलारुणोदरं) जिनका तलभाग खिले हुए कमलदल के समान लालवर्ण का है तथा (नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम्) जिनकी अंगुलियों का स्थान नखरूपी चन्द्रमा की किरणों के परिवेष से अत्यन्त मनोहर अग्रभाग से सहित है ।

भावार्थ—हे भगवन्! आत्महित के इच्छुक तथा अतिशय बुद्धिमान् महर्षि मन्त्रपाठ अथवा स्तोत्रपाठ करते हुए सदा आपके चरणयुगल को नमस्कार करते रहते हैं। आपके उन चरणों में इन्द्र अपना मस्तक झुकाये हुए है, जिससे उसके मुकुट सम्बन्धी पद्मराग आदि मणियों और हीरा आदि रत्नों की किरणों का समूह उन पर व्याप्त हो रहा है। आपका वह चरणयुगल अत्यन्त निर्मल है, उसकी पगतली खिले हुए कमलदल के समान लाल है और नखरूपी चन्द्रमा की किरणों का परिमण्डल उसकी अंगुलियों के स्थान को अत्यन्त मनोहर बना रहा है ॥३-४॥युग्मं॥

न केवलं त एव भगवतः पादयुगलं प्रणमन्ति किन्त्वन्येऽपीत्याह—

द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः ।
नीलजलदजलराशिवपुः सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥५॥

द्युतीत्यादि—द्युतिरस्यास्तीति द्युतिमत्, तच्च तद्रथाङ्गं च चक्रं तदेव रविबिम्बं रवेरिव बिम्बमाकारो यस्य तस्य किरणास्तैर्जटिलं शबलितं अंशुमण्डलं देहदीप्तिसंघातो यस्य, अंसमण्डल इति च पाठः अंसस्य स्कन्धस्य मण्डलं विस्तारस्तैर्जटिलं यस्य गरुडकेतोः स तथोक्तः, पुनरपि कथंभूत इत्याह—नीलेत्यादि—नीलश्चासौ जलदश्च सजलमेघः स च जलराशिश्च समुद्रः ताविव वपुः शरीरं यस्य, नीलजलजदलराशि—इत्यादिश्च क्वचित् पाठः नीलजलजानि नीलोत्पलानि तेषां दलराशिः पत्रसंघातस्तत्तुल्यं वपुर्यस्य, कोऽसावित्थंभूतः? गरुडकेतुर्गरुडध्वजो वासुदेवः, किंविशिष्टः? ईश्वरः पृथ्वीपतिः, किमेकाकीत्याह—सह बन्धुभिरिति ॥५॥

न केवलं गरुडकेतुः किन्तु—

हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्दयुगलं प्रणेमतुः ॥६॥

हलभृदित्यादि—हलभृच्च बलभद्रोऽपि, तौ द्वौ प्रणेमतुः स्तुतवन्तौ, किं तत्? चरणारविन्दयुगलं चरणावेव अरविन्दे पद्मे तयोर्युगलं, कस्य? ते तव, कथंभूतौ जनेश्वरौ जनस्य लोकस्य ईश्वरौ स्वामिनौ, पुनरपि कथंभूतौ? स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ स्वजने बन्धौ भक्तिरनुरागः तया मुदितं हृष्टं हृदयं ययोः, पुनरपि किंविशिष्टौ? धर्मविनयरसिकौ धर्मार्थो विनयो धर्मविनयस्तत्र रसिकौ अनुरक्तौ, कथं प्रणेमतुः? सुतरामत्यर्थेन ॥६॥

आगे नारायण और बलभद्र आपके चरणों में प्रणाम करते थे, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः) कान्तिमान्

सुदर्शनचक्ररूपी सूर्यबिम्ब की किरणों से जिनकी कान्ति का मण्डल व्याप्त हो रहा है अथवा (जटिलांसमण्डलः—पाठ में) कान्तिमान् सुदर्शनचक्ररूपी सूर्यबिम्ब की किरणों से जिनके कन्धे का प्रदेश व्याप्त हो रहा है (नीलजलदजलराशिवपुः) नीलमेघ और समुद्र के समान जिनका श्याम शरीर है अथवा (नीलजलजदलराशिवपुः—पाठ में) नीलकमल के पत्रों के समान जिनका श्याम शरीर है तथा (ईश्वरः) जो तीन खण्ड पृथिवी के स्वामी हैं ऐसे (गरुडकेतुः) श्रीकृष्ण, (च) और (हलभृत्) बलभद्र इस प्रकार (स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ) आत्मबन्धु की भक्ति से जिनके चित्त प्रसन्न हो रहे थे, (जनेश्वरौ) जो लोक के स्वामी थे और (धर्मविनयरसिकौ) जो धर्मार्थ विनय के रसिक थे—ऐसे दोनों भाइयों ने (बन्धुभिः सह) अपने अन्य भाइयों के साथ (ते) आपके, (चरणारविन्दयुगलं) चरणकमलों के युगल को (सुतरां) बार-बार (प्रणेमतुः) प्रणाम किया था ।

भावार्थ—भगवान् अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दश भाई थे । इनमें समुद्रविजय सबसे बड़े थे और वसुदेव सबसे छोटे थे । वसुदेव के कृष्ण और बलराम ये दो पुत्र थे, इनमें श्रीकृष्ण नारायण थे और बलराम बलभद्र थे । श्रीकृष्ण की ध्वजा में गरुड का चिह्न था, उनका शरीर नीलमेघ और समुद्र अथवा नीलोत्पल की कलिकाओं के समूह के समान श्यामल था, उन्हें सूर्य के मण्डल के समान देदीप्यमान सुदर्शन चक्र प्राप्त था, उसकी उज्ज्वल किरणों से उनके शरीर का कान्तिमण्डल व्याप्त हो रहा था अथवा उस सुदर्शनचक्र की किरणों के समूह से उनका कन्धा देदीप्यमान हो रहा था । बलराम, बलभद्र थे ये हल नामक शस्त्र के धारक थे, ये दोनों ही भाई समस्त जनता के स्वामी थे तथा धर्म की विनय के अत्यन्त रसिक थे । भगवान् अरिष्टनेमि इनके बड़े दादा के पुत्र होने से भाई थे । तीर्थङ्कर के रूप में अपने भाई की प्रतिष्ठा देख, कृष्ण और बलराम के हृदय अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे । ये दोनों ही भाई अपने अन्य भाइयों के साथ मिलकर भगवान् अरिष्टनेमि के चरणकमल-युगल को बार-बार प्रणाम करते थे ।।५-६।।युग्मं।।

यत्र पर्वते गत्वा भगवतश्चरणारविन्दयुगलं तौ प्रणेमतुः स कीदृश इत्याह—

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलङ्कृतः ।
मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ।।७।।

ककुदमित्यादि—ककुदमिव ककुदं, कस्याः? भुवः पृथिव्याः, यथा ककुदं वृषभोपरिस्कन्धप्रदेशस्थं सर्वतः तदवयवानामुपरिवर्ति शोभाकारि च तथा ऊर्जयन्ताचलः सकलभूम्यवयवानामित्यर्थः, पुनरपि किंविशिष्ट इत्याह—खचरेत्यादि—खे चरन्तीति खचरा विद्याधरास्तेषां योषितो विद्याधर्यः ताभिरुषितानि सेवितानि च शिखराणि तैरलङ्कृतः शोभितः, पुनरपि कथंभूतः? मेघपटलपरिवीततटः मेघानां पटलानि तैः परि समन्ताद् वीतानि व्याप्तानि तटानि सानूनि यस्य, पुनरपि कथंभूत इत्याह—तवेत्यादि—तव अरिष्टनेमेः लक्षणानि चिह्नानि लिखितानि उत्कीर्णानि, केन? वज्रिणा इन्द्रेण ॥७॥

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥८॥

वहतीत्यादि—वहति धरति इति हेतोः तीर्थं पुण्यस्थानं अतएव ऋषिभिश्च ऋषिभिरपि सततं सर्वकालं अभिगम्यते समाश्रियते सेव्यते, कदा? अद्य च इदानीमपि, कथंभूतैः? प्रीतिविततहृदयैः प्रीत्या तुष्ट्या विततानि विस्तीर्णानि उल्लसितानि हृदयानि येषां तैः, कथं? परितः समन्तात् अयमेतद्विशेषणविशिष्टोऽचलः पर्वतः कथंभूतो लोके? विश्रुतः प्रख्यातः, कथं? ऊर्जयन्त इत्येवं, भृशमत्यर्थम् ॥८॥

जिस पर्वत पर नारायण और बलभद्र ने प्रणाम किया था, उस ऊर्जयन्तगिरि का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(भुवः ककुदम्) जो पृथिवी का ककुद है—बैल के कन्धे के समान ऊँचा तथा शोभा उत्पन्न करने वाला है, (खचरयोषिदुषितशिखरैः) जो विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों के द्वारा (अलङ्कृतः) सुशोभित है, (मेघपटलपरिवीततटः) जिसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं (वज्रिणा लिखितानि तव लक्षणानि वहति इति तीर्थं) जो इन्द्र के द्वारा लिखे हुए [हे नेमिजिन!] आपके चिह्नों को धारण करता है इसलिए तीर्थस्थान है, (सततं अद्य च) हमेशा तथा आज भी (प्रीतिविततहृदयैः) प्रीति से विस्तृतचित्तवाले (ऋषिभिश्च) ऋषियों के द्वारा जो (परितः) सब ओर से (भृशं) अत्यधिक (अभिगम्यते) सेवित है (इति) ऐसा वह (विश्रुतः) अतिशय प्रसिद्ध (ऊर्जयन्तः अचलः) ऊर्जयन्त नाम का पर्वत है (जिस पर जाकर कृष्ण और बलराम ने आपके चरणकमल-युगल को प्रणाम किया था)।

भावार्थ—सौराष्ट्र देश का ऊर्जयन्त पर्वत जो शास्त्रों में रैवतकगिरि के नाम से प्रसिद्ध है तथा प्रचलित भाषा में जिसे गिरनार कहते हैं। भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण से अनेकों बार पवित्र हुआ है, वह समान-धरातल से बहुत ही ऊँचा है

और ऐसा जान पड़ता है मानों पृथिवी का कांधोल हो। उसके ऊँचे-ऊँचे शिखरों पर विद्याधरों की स्त्रियाँ क्रीडा किया करती हैं। उसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं। इन्द्र ने उस पर भगवान् अरिष्टनेमि के चिह्नों को अथवा यशःप्रशस्तियों को वज्र से उत्कीर्ण किया था, इसलिए वह लोक में तीर्थ समझा जाता है। बड़े-बड़े ऋषि सदा से उस पर्वत की सेवा करते आ रहे हैं और आज भी प्रीति से विस्तृतचित्त होकर आत्मकल्याण के इच्छुक लोग सब ओर से आकर उस पर्वत की सेवा करते हैं। उसी पर्वत पर जब भगवान् अरिष्टनेमि का समवसरण आया, तब द्वारिकापति श्रीकृष्ण और बलराम अपने अन्य अनेक भाइयों के साथ वहाँ पहुँचे। अपने चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ के समवसरण सम्बन्धी वैभव को देखकर दोनों का चित्त प्रसन्नता से भर गया और अपने कुल को धन्य मानते हुए भगवान् के चरणकमलों में बार-बार प्रणाम करने लगे ॥७-८॥

अत्राह मीमांसकः यदुक्तं ज्ञानविपुलकिरणैरिति, तत्र भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवदतः कथं सर्वज्ञता स्यादित्याशङ्क्याह—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।
नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद् विवेदिथ ॥९॥

बहिरन्तरपीत्यादि—बहिः करणं चक्षुरादि, अन्तरपि करणं मनोलक्षणं, तत्प्रत्येकमुभयथा च, अविघाति सर्वज्ञतास्वरूपस्य विघातकं न भवति, उपकारकं तर्हि स्यात् इत्यत्राह—नेत्यादि—नार्थकृत् न स्वकार्यकारि, यत एव मतः हे नाथ! त्वं विवेदिथ ज्ञातवान्, किं तत्? इदं जगत्, किं क्रमेण? युगपदेकहेलया, किं? नियतमखिलं च निरवशेषमेव, किं नियतकालं? सदा सर्वदा कालं, किमिव? तलामलकवत् तले करतले आमलकः स्फटिकमणिः, स इव तद्वत् ॥९॥

यत एवं विवेदिथ त्वम्—

अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१०॥

अत एवेत्यादि—अत एवास्मादेव कारणात्, ते तव, कथंभूतस्य? बुधनुतस्य बुधैर्गणधरदेवादिभिर्नुतः स्तुतस्तस्य, चरितमनुष्ठानं तस्य गुणो निर्विघ्नतः स्वसाध्य-प्रसाधकत्वं, किंविशिष्टं? अद्भुतोदयं अद्भुतः साश्चर्य उदयः समवसरणकेवलज्ञानादि-लक्षणा लक्ष्मीर्यस्य तत्, पुनरपि किंविशिष्टं? न्यायविहितं न्यायेन नीत्या आगमप्रतिपादि-

तोपपत्त्या विहितं कृतमनुष्ठितं, इत्थंभूतं त्वद्गुणमवधार्य संचिन्त्य त्वयि अरिष्टनेमितीर्थङ्करदेवे, कथंभूते ? जिने अशेषकर्मोन्मूलके, स्थिताः प्राञ्जलीभूय व्यवस्थिताः ते के ? वयं स्तोतारः, कथंभूताः ? सुप्रसन्नमनसः सुष्ठु प्रसन्नं विशुद्धं भक्त्यानुगृहीतं मनो येषाम् ।।१०।।

आगे भगवान् नेमिजिनेन्द्र के सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं–

अन्वयार्थ–(हे नाथ) हे स्वामिन् ! (त्वं) आप (इदं अखिलं) इस समस्त संसार को (युगपत् च सदा) एक साथ और सर्वदा (तलामलकवत् विवेदिथ) हस्ततल पर रखे हुए स्फटिक के समान जानते हैं तथा आपके इस जानने में (बहिः) बाह्य (च) और (अन्तरपि) अभ्यन्तर (करणं) इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् (च उभयथा) और दोनों प्रकार से (अविघाति) बाधक नहीं हैं एवं (अर्थकृत् न) उपकारक भी नहीं हैं (अतएव) इसीलिये (बुधनुतस्य) विद्वानों के द्वारा स्तुत (ते) आपके (अद्भुतोदयम्) आश्चर्यकारक अभ्युदय से युक्त तथा (न्यायविहितं) न्यायसिद्ध–आगम ज्ञान से सिद्ध (चरितगुणं) स्वकार्य की प्रसाधकता का (अवधार्य) निश्चय कर (वयं) हम (सुप्रसन्नमनसः) अत्यन्त प्रसन्न चित्त होते हुए (त्वयि जिने) आप जिनेन्द्र में (स्थिताः) स्थित हुए हैं–आपको कार्य का साधक समझ आपकी शरण में आये हैं ।

भावार्थ–मीमांसकों का कहना है कि अस्मदादि के समान भगवान् का ज्ञान भी इन्द्रियजन्य ही है, अतः ज्ञानरूप विपुल किरणों के द्वारा वे समस्त संसार को प्रतिबुद्ध करते हैं–जानते हैं, यह कहना संगत नहीं है । उनके इस कथन का उत्तर देते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों इन्द्रियों की सहायता के बिना ही इस समस्त संसार को हस्तामलकवत् सदा एक साथ स्पष्ट जानते हैं । इन्द्रियाँ आपके ज्ञान में न बाधा करती हैं और न उपकार ही । चूँकि आपका ज्ञान इन्द्रिय-निरपेक्ष होकर आत्म-सापेक्ष ही है, इसलिए वह ज्ञानगुण के चरमविकास स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक-अलोक को जानता है । आपकी इस विशेषता से आकृष्ट होकर समस्त विद्वान् आपकी स्तुति करते हैं । आपके चरित का माहात्म्य समवसरणादिरूप आश्चर्यकारक अभ्युदय से सहित है तथा आगम की प्रतिपत्ति से सिद्ध है यह सब निश्चय कर हम बड़ी प्रसन्नता से आपकी शरण में आये हैं, आपके भक्त बने हैं ।।९-१०।।

इति नेमिजिनस्तवनम्

श्री पार्श्वजिनस्तवनम्

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः ।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥१॥

तमालनीलैरित्यादि—वंशस्थच्छन्दः । न चचाल न चलितवान् कस्मात् ? योगतः परमशुक्लध्यानात्, किंविशिष्टः ? उपद्रुतः पीडितः कैः ? बलाहकैर्मेघैः, कथंभूतैः ? तमालनीलैः तमाला वृक्षविशेषाः तद्वत् नीलैः नीलवर्णैः, पुनरपि कथंभूतैः ? सधनुस्तडिद्गुणैः गुणाः ज्याः तडित एव गुणाः, धनुषामिन्द्रचापानां तडिद्गुणाः धनुस्तडिद्गुणाः तैः सह वर्तन्त इति सधनुस्तडिद्गुणास्तैः, पुनरपि किंविशिष्टैरित्याह—प्रकीर्णेत्यादि—अशनिश्च वायुश्च वृष्टिश्च अशनिवायुवृष्टयः भीमाश्च ता अशनिवायुवृष्टयश्च ताः प्रकीर्णा समन्ततः क्षिप्ता यैस्ते तथोक्तास्तैः पुनरपि किंविशिष्टैः ? वैरिवशैः कमठवशवर्तिभिः, कथंभूतो यः पार्श्वनाथभगवान् ? महामना महत् परीषहेभ्योऽक्षुभितं मनो यस्य ॥१॥

उपसर्ग के समय भगवान् की निश्चलता का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(तमालनीलैः) तमाल वृक्ष के समान नीलवर्ण, (सधनुस्तडिद्गुणैः) इन्द्रधनुषों की बिजलीरूप डोरियों से सहित, (प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः) भयंकर वज्र, आँधी और वर्षा को बिखेरने वाले ऐसे (वैरिवशैः) शत्रु के वशीभूत (बलाहकैः) मेघों के द्वारा (उपद्रुतः) उपद्रुत होने पर भी (महामनाः) उत्कृष्ट धैर्य के धारक (यः) जो पार्श्वनाथ भगवान् (योगतः) शुक्लध्यानरूप योग से (न चचाल) विचलित नहीं हुए थे ।

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ, मुनि अवस्था में अहिक्षेत्र के तपोवन में ध्यानारूढ़ थे। पूर्वभव का वैरी कमठ जो कि अब शम्बर नाम का असुर-देव हुआ था; वहाँ से निकला, भगवान् पार्श्वनाथ को देखते ही उसे पूर्वभव का वैर स्मृत हो गया । वैर के वशीभूत हो उसने उपसर्ग का निश्चय कर विक्रिया से काली घनघटा के द्वारा दिग्दिगन्त को आच्छादित कर दिया, उस घनघटा में इन्द्रधनुष दिखने लगे और बिजलियाँ कौंधने लगीं, वज्रपात हुए, जोरदार आँधी चली और भयंकर वर्षा हुई, परन्तु इस दैविक उपद्रव के होते हुए भी उनका मन रञ्चमात्र भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुआ, वे अपने शुक्लध्यानरूपी योग से जरा भी विचलित नहीं हुए । इसी घटना का चित्रण इस श्लोक में किया गया है ॥१॥

भगवतः उपसर्गोपनिपातं ज्ञात्वा धरणेन्द्रः किं कृतवानित्याह—

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥२॥

बृहत्फणेत्यादि—जुगूह वेष्टितवान्, कोऽसौ ? नागः, किंनामा ? धरणो धरणेन्द्रनामा, केनेत्याह—बृहदित्यादि—बृहत्यश्च ताः फणाश्च तासां मण्डलं चक्रं संघातश्च तस्य मण्डपस्तदेव वा मण्डपस्तेन, कथंभूतेन ? स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा स्फुरन्ती चासौ तडिच्च स्फुरत्तडित् तस्या इव पिङ्गा पीता रुक् दीप्तिर्वर्णो यस्य तेन, कथंभूतं यं पार्श्वनाथं ? उपसर्गिणमुपसर्गवन्तं, क इव कं जुगूहेत्याह—धराधरमित्यादि—धराधरं पर्वतं यथा जुगूह, कोऽसौ ? विरागसंध्या तडिदम्बुदः तडिता उपलक्षितोऽम्बुदस्तडिदम्बुदः, विगतो रागो यस्याः सा चासौ संध्या च कृष्णसंध्या तस्यां तडिदम्बुदः, विविधो वा रागो नीलपीतादिवर्णो यस्याः सा चासौ संध्या च तया तुल्या या तडित् तया उपलक्षितोऽम्बुदः, विरागसंध्यायां वा तडिता उपलक्षितोऽम्बुदः पिङ्गः ॥२॥

आगे धरणेन्द्र के द्वारा उपसर्ग निवारण का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(उपसर्गिणं) उपसर्ग से युक्त (यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (धरणो नागः) धरणेन्द्र नामक नागकुमार देव ने (स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा) चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त (बृहत्फणामण्डलमण्डपेन) बहुत भारी फणामण्डलरूपी मण्डप के द्वारा (तथा) उस तरह (जुगूह) वेष्टित कर लिया था (यथा) जिस तरह कि (विरागसंध्यातडिदम्बुदः[1]) काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ (धराधरं) पर्वत को वेष्टित कर लेता है ।

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ ने मरणोन्मुख नाग-नागिनी के लिए पञ्चनमस्कार मन्त्र दिया था, उसके प्रभाव से नाग, धरणेन्द्र हुआ था और नागिनी, पद्मावती देवी । जब कमठ के जीव—शम्बर ने भगवान् पार्श्वनाथ पर प्रथम श्लोक में प्रतिपादित उपसर्ग किया तब धरणेन्द्र ने आकर विक्रिया से एक नाग का रूप बनाया और बहुत भारी फणामण्डल के द्वारा उन पर छाया कर ली । अपने विशाल फणामण्डल से भगवान् को वेष्टित करता हुआ धरणेन्द्र ऐसा जान पड़ता था; मानो काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ किसी पर्वत को वेष्टित कर रहा हो ॥२॥

१. 'विरागसन्ध्यातडिदम्बुदः' का अर्थ यह भी है—विविध रङ्गों वाली संध्या के समान बिजली से युक्त मेघ, अथवा विविध रङ्गों वाली संध्या के समय बिजली से सहित मेघ ।

उपसर्गनिवारणानन्तरं भगवान् किं कृतवानित्याह—

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्‌भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ।।३।।

स्वयोगेत्यादि—अवापत् प्राप्तवान्, किं तत्? आर्हन्त्यम्, किं कृत्वा? निशात्य विनिपात्य विनाश्य, कं? दुर्जयमोहविद्विषम् मोह एव विद्विट् शत्रुः मोहविद्विट् दुर्जयश्चासौ मोहविद्विट् तं, कयेत्याह—स्वयोगेत्यादि—स्वस्य योगः परमशुक्लध्यानं स एव निस्त्रिंशः खड्‌गः तस्य निशाता तीक्ष्णीकृता या धारा योगाभ्यासपर्यन्तरूपा तया कथंभूतमार्हन्त्यं? अचिन्त्यं [१]चिन्ताया अप्यगोचरं, अद्भुतं साश्चर्यगुणोपेतं, पुनरपि किंविशिष्टं? पदं स्थानं, कथंभूतं पदं? त्रिलोकपूजातिशयास्पदं त्रिलोकानां पूजा तस्या अतिशयः परमप्रकर्षः तस्यास्पदमाश्रयः ।।३।।

उपसर्ग को जीतकर भगवान् अरहन्त पद को प्राप्त हुए, यह कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया) अपने शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्ण धारा के द्वारा (दुर्जयमोहविद्विषम्) मोहरूपी दुर्जय शत्रु को (निशात्य) नष्ट कर (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय (अद्‌भुतं) आश्चर्यकारक गुणों से युक्त (त्रिलोक-पूजातिशयास्पदं) त्रिलोक की पूजा के अतिशय के स्थान (आर्हन्त्यं पदम्) आर्हन्त्य पद को (अवापत्) प्राप्त किया था ।

भावार्थ—उधर शम्बर, भगवान् पार्श्वनाथ पर उपसर्ग कर रहा था, इधर वे शुक्लध्यान में निमग्न हो क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो रहे थे । शम्बर का उपसर्ग, भगवान् को अपने पथ से विचलित नहीं कर सका । उन्होंने शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्णधारा से मोहरूप दुर्जेय शत्रु को नष्टकर अन्तर्मुहूर्त बाद वह आर्हन्त्य पद प्राप्त कर लिया, जिसका छद्मस्थ—अल्पज्ञ प्राणी विचार ही नहीं कर सकते थे, जो समवसरणादि विभूति के कारण आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था तथा त्रिलोकवर्ती शत इन्द्र जिसकी पूजा करते थे ।।३।।

इत्थंभूतं च पार्श्वनाथतीर्थङ्करदेवं दृष्ट्वा वनवासिनस्तापसाः स्वप्रयासे विफलतया भवन्मार्गेण तथा भवितुमिच्छन्तीति दर्शयन्नाह—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ।।४।।

१. ख-प्रतौ इत आरभ्य पाठो नास्त्येव ।

प्रज्ञाश्रमण मुनि

यमित्यादि—यं पार्श्वनाथं, वीक्ष्य विलोक्य, कथंभूतं? ईश्वरं सकललोकप्रभुं, पुनरपि कथंभूतं? विधूतकल्मषं विधूतं विनाशितं कल्मषं घातिकर्मचतुष्टयरूपं पापं येनासौ तथोक्तस्तं, के ते वीक्ष्य? तपोधनाः तापसाः, किंविशिष्टाः? वनौकसो वनेऽटव्यामोको गृहं येषां ते वनौकसो वनवासिनः तेऽपि परदर्शनानुयायिनः न केवलं भवद्दर्शनानुयायिनः शरणं प्रपेदिरे, किं कर्तुमिच्छवः? तथा बुभूषवः तथा भगवत्प्रकारेण बुभूषवो भवितुमिच्छवः, कथंभूताः सन्तः? स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः स्वस्य श्रमः पञ्चाग्निसाधनादिप्रयासस्तस्मिन् वन्ध्या विफला बुद्धिर्येषां ते, इत्थंभूताः सन्तः किं कृतवन्तः? शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे शमस्य सकलसंसारोपरमस्य निखिलरागाद्युपशमस्य वा उपदेशो मोक्षमार्गस्तं, यदि वा शमस्य उपदेशो यस्मादसौ शमोपदेशो भगवान् तं शरणं प्रपेदिरे प्रतिपन्नाः ॥४॥

भगवान् पार्श्वनाथ के प्रभाव से वशीभूत होकर अन्य तापस भी उनकी शरण में आये, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (ईश्वरं) समस्त लोक के प्रभु तथा (विधूतकल्मषं) घातिचतुष्करूप पाप से रहित (वीक्ष्य) देखकर (तथा बुभूषवः) उन्हीं के समान होने के इच्छुक (वनौकसः) वनवासी (ते तपोधनाः अपि) वे तपस्वी भी (स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः) अपने प्रयास में निष्फल बुद्धि होते हुए (शमोपदेशं) मोक्षमार्ग अथवा शान्ति का उपदेश देने वाले भगवान् पार्श्वनाथ की (शरणं प्रपेदिरे) शरण को प्राप्त हुए थे।

भावार्थ—भगवान् अरिष्टनेमि के मोक्ष चले जाने के बाद चौरासी हजार वर्ष का लम्बा अन्तराल बीत चुका था, इस बीच में अन्य मतावलम्बियों का प्रचार भी भारतवर्ष में खूब हो गया था, अपने-अपने सिद्धान्तानुसार अन्य लोग तापस के वेष में आत्मसाधना करने में निमग्न हो रहे थे। कोई पञ्चाग्नि तप तपता था, कोई धूम्रपान करता था, कोई एक हाथ ऊपर उठाकर तप करता था और कोई रात-दिन खड़ा रहकर ही तपश्चरण करता था। इस प्रकार की तपश्चर्या करते हुए उन्हें लम्बा समय बीत गया पर कुछ फल की प्राप्ति नहीं हुई। उधर भगवान् पार्श्वनाथ केवल चार मास की तपश्चर्या के द्वारा चार घातियाकर्मों को नष्टकर तीन लोक के ईश्वर बन गये थे, उनके समवसरण की रचना हो चुकी थी तथा समस्त देव, दानव उनके प्रभाव से नतमस्तक हो गये। भगवान् पार्श्वनाथ की तपस्या के इस प्रत्यक्षसिद्ध-फल को देखकर वनवासी अन्य तपस्वी अपने श्रम को निष्फल समझने लगे, उनके मन में भी यह इच्छा उत्पन्न हुई कि हम भी भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा गृहीत मार्ग पर चलकर उन जैसे बनें।

इसी इच्छा से प्रेरित होकर अन्य अनेक साधु उनकी शरण को प्राप्त हुए—अपने मिथ्या तप को छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी हुए ।।४।।

य एवंविधो भगवान् स किं क्रियते इत्याह—

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ।।५।।

स इत्यादि—स प्रागुक्तविशेषणविशिष्टः पार्श्वजिनः प्रणम्यते, केन? मया समन्तभद्रस्वामिना, किं कदाचित्? सदा सर्वकालं, कथंभूतः स इत्याह—सत्येत्यादि—विद्या च तपांसि च विद्यातपांसि सत्यानि च तानि विद्यातपांसि च तेषां प्रणायकः प्रणेता पुनरपि कथंभूतः समग्रधीः समग्रा सम्पूर्णा केवलज्ञानलक्षणा धीर्यस्य, पुनरपि किंविशिष्टः? उग्रकुलाम्बरांशुमान् उग्रं च तत्कुलं च तदेव अम्बरमाकाशं तस्य अंशुमान् चन्द्रस्तदुद्द्योतकत्वात्, पुनरपि किंविशिष्ट इत्याह—विलीनेत्यादि—मिथ्या चासौ पन्थाश्च मिथ्यादर्शनादिकुमार्गः तन्निबन्धना दृष्टयो मतानि तैर्जनिता विभ्रमाः सर्वथानित्य-क्षणिकाद्वैतवादिसमारोपाः विलीना विनष्टास्ते यस्माद्भव्यानां स तथोक्तः ।।५।।

इस प्रकार भगवान् ने केवलज्ञान होने पर क्या किया? सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सत्यविद्यातपसां प्रणायकः) जो सत्य विद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता थे, (समग्रधीः) जो पूर्ण केवलज्ञान के धारक थे (उग्रकुलाम्बरांशुमान्) जो उग्रवंशरूपी कुल के चन्द्रमा थे, और (विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः) जिन्होंने मिथ्यामार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों से उत्पन्न विभ्रमों को नष्ट कर दिया था (सः) वे (पार्श्वजिनः) पार्श्वजिनेन्द्र (मया) मुझ समन्तभद्र के द्वारा (सदा) हमेशा (प्रणम्यते) प्रणत किये जाते हैं—मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।।५।।

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ उग्रवंश में उत्पन्न हुए थे, उन्होंने अपने आपके द्वारा उस उग्रवंश को उस तरह प्रकाशित किया था, जिस तरह कि चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है । चूँकि भगवान् पार्श्वनाथ पूर्णज्ञानी थे—सर्वज्ञ थे, इसलिए उन्होंने अपने उपदेशों के द्वारा लोगों के मिथ्यामार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों के विभ्रमों को दूरकर उन्हें सम्यग्दृष्टि बनाया था और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्तप—सम्यक्चारित्र की प्रवृत्ति चलाई थी, इस तरह वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग के प्रणेता थे । मैं भी मोक्ष का इच्छुक हूँ, इसीलिए मोक्षमार्ग के प्रकृष्ट नायक भगवान् पार्श्वनाथ को प्रणाम करता हूँ ।

इति पार्श्वजिनस्तवनम्

श्री वीरजिनस्तवनम्

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर ! त्वं गुणसमुच्छ्रया भासितया ।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ।।१।।

कीर्त्येत्यादि—स्कन्धकछन्दः अथवा आर्यागीति छन्दः । हे वीर ! त्वं भासि शोभसे, क्व ? भुवि पृथिव्यां, कया ? कीर्त्या ख्यात्या, कथंभूतया तया कीर्त्या ? गुणसमुच्छ्रया गुणेभ्य आत्मशरीरगतेभ्यः समुच्छ्रा प्रादुर्भावो यस्याः सा तथोक्ता तया, अतएव भासितया शोभितया यदि वा भासितया उज्ज्वलया निर्मलया, अत्र दृष्टान्तमाह—भासेत्यादि—सोम इव यथा सोमश्चन्द्रो व्योम्नि गगने भाति तथा त्वं कीर्त्या भासीति सम्बन्धः, कया सोमो भाति ? भासा दीप्त्या, किंविशिष्टया ? उडुसभासितया उडूनां नक्षत्राणां सभा उडुसभं तत्रासितया स्थितया, पुनरपि किंविशिष्टया ? कुन्दशोभासितया कुन्दानां शोभा कुन्दशोभा तद्वत् आसमन्तात् सितया धवलया ।।१।।

अन्वयार्थ—(हे वीर !) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (त्वं) आप (भुवि) पृथिवी पर (गुणसमुच्छ्रया) आत्मा और शरीर सम्बन्धी गुणों से उत्पन्न (भासितया) सुशोभित अथवा उज्ज्वल (तया) उस (कीर्त्या) ख्याति से (उडुसभासितया) नक्षत्रों की सभा में आसित—स्थित एवं (कुन्दशोभासितया) कुन्दकुसुम की शोभा के समान सफेद (भासा) कान्ति से (व्योम्नि) आकाश में (सोम इव) चन्द्रमा के समान (भासि) सुशोभित होते हैं ।

भावार्थ—भगवान् वर्धमान; 'विशिष्टाम् ईं लक्ष्मीं राति ददातीति वीरस्तत्सम्बुद्धौ' विशिष्ट लक्ष्मी—आत्मीय सम्पत्ति को देने वाले थे, इसलिए वीर कहलाते हैं । उनकी आत्मा सम्यग्दर्शनादि गुणों से तथा शरीर सातिशयरूपता आदि गुणों से युक्त था, इन सब गुणों के कारण उनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही थी । कवि लोग कीर्ति का वर्णन सफेद करते हैं । यहाँ उपमालंकार में उनकी कीर्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आकाश में नक्षत्र समूह में स्थित—व्याप्त तथा कुन्दपुष्प की शोभा के समान सफेद कान्ति से चन्द्रमा सुशोभित होता है, उसी प्रकार; हे वीरजिन ! गुणों से उत्पन्न एवं अतिशय सुशोभित अथवा उज्ज्वल-कीर्ति से आप पृथिवी पर सुशोभित होते हैं ।।१।।

---

१. इसका दूसरा नाम आर्यागीति छन्द है । जिसके पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में १२-२०, १२-२० मात्राएँ हों उसे आर्यागीति कहते हैं ।

के ते भवदीयाः गुणाः येभ्यः सा समुत्थितेत्याह—

तव जिन ! शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ।।२।।

तवेत्यादि—हे जिन ! जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, कोऽसौ ! शासनविभवः, शास्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते हेयोपादेयतत्त्वानि येन तच्छासनं प्रवचनं तस्य विभवो माहात्म्यं यथावस्थिताशेषार्थप्रतिपादनलक्षणः, कदा ? कलावपि कलिकालेऽपि इदानीमपीत्यर्थः, कथंभूतो ? गुणानुशासनविभवः गुणेष्वनुशासनं शिक्षा येषां भव्यानां ते गुणानुशासनाः तेषां विगतो विनष्टो भवः संसारो यस्मात् स गुणानुशासनविभवः, न केवलं जयति किन्तु स्तुवन्ति च एनं शासनविभवं, के ते ! दोषकशासनविभवः दोषा एव कशाः चर्मयष्टिकाः पीडाकरत्वात् तेषामसनं क्षेपणं निराकरणं तस्य विभवः प्रभवः समर्था गणधरदेवादयः, पुनरपि कथंभूताः ? प्रभाकृशासनविभवः आसते लोका यत्र तदासनं त्रिभुवनं तस्य लोकप्रसिद्ध्या विभवो हरिहरादयः, प्रभया ज्ञानादितेजसा कृशास्तनुकृता आसनविभवो यैः, यदि वा प्रभया आकृशान्यासनानि सिंहासनानि येषां ते प्रभाकृशासनाः वर्द्धमानस्वामिनोऽन्ये केवलिनः इन्द्रादयो वा, ते च ते विभवश्च स्वामिनश्च ।।२।।

आपके वे कौन-से गुण हैं, जिनके द्वारा आपकी कीर्ति फैली है ? सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे वीरजिनेन्द्र ! (गुणानुशासनविभवः) भव्यजीवों के भव को नष्ट करने वाला (तव) आपके (शासनविभवः) प्रवचन का यथावस्थित समस्त पदार्थों के प्रतिपादनरूप सामर्थ्य (कलौ अपि) कलिकाल में भी (जयति) जयवन्त है—सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तमान है (च) और (प्रभाकृशासनविभवः) प्रभा—ज्ञानादितेज से आसनविभुओं—लोक के तथाकथित हरि-हरादि स्वामिओं को कृश—महत्त्वहीन करने वाले (दोषकशासनविभवः) दोषरूप चाबुकों के निराकरण करने में समर्थ गणधरादि देव (एनं) आपके इस शासनविभव की—प्रवचन सामर्थ्य की (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं ।

भावार्थ—आपके शासन का विभव पूर्वकाल में तो जयवन्त था ही, किन्तु इस कलिकाल में भी जबकि वक्रपरिणामी जीवों की ही बहुलता है; जयवन्त हो रहा है और जयवन्त होने का कारण यह है कि वह भव्यजीवों के भवभ्रमण को नष्ट करने वाला है । इतना ही नहीं, आपके इस शासन की वे गणधरादिदेव स्तुति भी करते हैं—निरन्तर प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं होते जो कि अज्ञान अथवा रागादि दोषरूपी चाबुकों का निराकरण करने में समर्थ हैं और अपनी प्रभा से जिन्होंने लोक विभुओं—हरिहरादि को कृश—महत्त्वहीन बना दिया है ।।२।।

ते कथं शासनविभवं स्तुवन्तीत्याह—

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो द्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वादः ॥३॥

अनवद्य इति—न विद्यते अवद्यं दोषोऽस्येत्यनवद्यो निर्दोषः, कोऽसौ ? स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, कुतो ? दृष्टेष्टाविरोधतः दृष्टं प्रत्यक्षादि इष्टमागमस्ताभ्यामविरोधतः संवादात्, कथंभूतः सोऽनेकान्तरूपः स्याद्वादः ? स्याद्वादः उद्यते प्रतिपाद्यते येनासौ वादः शब्दः स्यादिति वादो वाचकः शब्दो यस्यानेकान्तवादस्यासौ स्याद्वादः, स्यादस्तीतिरूपः एकान्तवादः कुतोऽनवद्यो न भवतीत्याह—इतर इति—इतर एकान्तः, स्याद् भवेन्न वादो न प्रमाणभूतागमः, हे मुनीश्वर ! गणधरदेवादिमुनिस्वामिन् ! कुतः स तथाभूतो न भवति ? द्वितयविरोधात्, दृष्टेष्टविरोधात्, तद्विरोधोऽप्यस्य कुतः ? अस्याद्वादो यतः स्यादस्तीत्यादिरूपो वादः स्याद्वादः स न विद्यते यत्र ॥३॥

वे इन्द्रादि, जिनशासन की स्तुति कैसे करते हैं ? सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे मुनीश्वर) हे मुनिनाथ ! (स्याद्वादः) 'स्यात्' इस कथञ्चित् अर्थ के वाचक शब्द से सहित (तव) आपका (स्याद्वादः) स्यादस्तीत्यादि अनेकान्तरूप कथन (दृष्टेष्टाविरोधतः) प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध न होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष है इसके विपरीत (इतरः अस्याद्वादः) 'स्यात्' इस शब्द से रहित अन्य जो वाद—एकान्तरूप कथन है (सः) वह (द्वितयविरोधात्) दृष्ट और इष्ट—प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष (न) नहीं है ।

भावार्थ—प्रमाण के दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष । इनमें प्रत्यक्ष को दृष्ट कहते हैं और अनुमान, आगम आदि को इष्ट कहते हैं । हे गणधरादि मुनियों के स्वामी; वीर जिनेन्द्र ! आपने जो स्याद्वाद—अनेकान्तरूप उपदेश दिया है, वह 'स्यात्' इस अव्यय से सहित है तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का विरोध न होने से निर्दोष है—सबको मान्य है । इसके विपरीत 'स्यात्' इस अव्यय से रहित जो अन्य सुगत, कपिल, ईश्वर आदि का उपदेश है, वह प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण निर्दोष नहीं है—सबको मान्य नहीं है ॥३॥

अपरमपि भगवतो गुणं दर्शयन्नाह—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥४॥

त्वमसीत्यादि—त्वं वर्द्धमानस्वामी, असि भवसि, किंविशिष्टः ? सुरासुरमहितः सुरैरसुरैश्च महितः पूजितः, पुनरपि किंविशिष्टः ? ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः ग्रन्थो मिथ्यात्वादिर्विद्यते येषां ते ग्रन्थिका मिथ्यादृष्टयः ते च ते सत्त्वाश्च प्राणिनः तेषामाशयोऽभक्तं चित्तं तेन प्रणामस्तेनामहितोऽपूजितः, यदि वा ग्रन्थिकसत्त्वानामिवाशयो रागादिकलुषितं चित्तं येषां हरिहरादीनां ते ग्रन्थिकसत्त्वाशयाः तेषु प्रणामः 'कंकालमालाकुलितोरुदेह' इत्यादिकस्तस्य अमहिरभूमिस्तस्यास्ततः त्वमसि सुरासुरमहितः, पुनरपि कथंभूतः ? लोकत्रयपरमहितः परमश्चासौ हितश्च परमहितो लोकत्रयस्य परमहितो लोकत्रयपरमहितः, पुनरपि किंविशिष्टः ? अनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः अनावरणं च तज्ज्योतिश्च केवलज्ञानं तेन उज्ज्वलत्प्रकाशमानं तच्च तद्धाम मुक्तिस्थानं तत्र हितो गतः ।।४।।

दूसरे प्रकार से भी भगवान् के गुणों को दर्शाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आप (सुरासुरमहितः) सुरों तथा असुरों से पूजित हैं, किन्तु (ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः) मिथ्यादृष्टि प्राणियों के अभक्त हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं, आप (लोकत्रयपरमहितः) तीनों लोकों के परम हितकारी हैं और (अनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः) केवलज्ञान से प्रकाशमान मुक्तिरूप स्थान को प्राप्त हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि समस्त सुर और असुर आपकी पूजा करते हैं; तथापि मिथ्यादृष्टिजीवों का अभक्त हृदय आपकी पूजा नहीं करता, आप उनके प्रणाम से रहित हैं । आप त्रिलोकवर्ती जीवों के परम हितैषी हैं तथा केवलज्ञानरूप निरावरण ज्योति से प्रकाशमान मोक्ष को प्राप्त हैं ।।४।।

पुनरपि किंविशिष्टस्त्वमित्याह—

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् ।
मग्नं स्वस्यां रुचि तं जयसि च मृगलाञ्छनं स्वकान्त्या रुचितम् ।।५।।

सभ्यानामित्यादि—दधासि धारयसि, किं तद् ? गुणभूषणं गुणानां भूषणमलङ्कारः, तत्कथंभूतं ? अभिरुचितमभीष्टं, केषां ? सभ्यानां समवसरणस्थितभव्यानां, पुनरपि कथंभूतं ? श्रिया चारुचितम् श्रिया विभूत्या चारु शोभनं यथाभवत्येवं चितमुपचितं पुष्टं, न केवलं दधासि जयसि च, कं ? मृगलाञ्छनं चन्द्रं, कया ? स्वकान्त्या स्वशरीरदीप्त्या, किंविशिष्टं ? मग्नं निमग्नं, क्व ? रुचि दीप्तौ, किंविशिष्टायां ? स्वस्यामात्मीयायां, तं मृगलाञ्छनं कथंभूतं ? रुचितं[1] दीप्तं सकलप्राणिनामभीष्टं वा ।।५।।

१. रुचिरं ख-प्रतौ

आपमें और भी क्या विशेषता है ? यह कहते हैं–

अन्वयार्थ–हे भगवन्! आप (सभ्यानां) समवसरण सभा में स्थित भव्यजीवों के (अभिरुचितं) रुचिकर, तथा (श्रिया) अष्टप्रातिहार्यरूप लक्ष्मी से (चारुचितं) सुन्दरतापूर्वक व्याप्त (गुणभूषणं) गुणों के भूषण को अथवा गुणरूप आभूषण को (दधासि) धारण करते हैं, (च) और (स्वकान्त्या) अपनी कान्ति के द्वारा (स्वस्यां रुचि) स्वकीय कान्ति में (मग्नं) निमग्न, (रुचितं) सुन्दर (तं मृगलाञ्छनं) उस चन्द्रमा को (जयसि) जीतते हैं।

भावार्थ–हे वीर जिनेन्द्र! आप सर्वज्ञ, वीतरागतादि गुणों के उस आभूषण को धारण करते हैं, जो समवसरण में स्थित भव्यजनों को अत्यन्त रुचिकर है और अष्टप्रातिहार्यरूप लक्ष्मी से सुन्दरतापूर्वक पुष्ट है–व्याप्त है। इतना ही नहीं आप अपने शरीर की दीप्ति से उस चन्द्रमा को भी जीतते हैं; जो कि अपनी कान्ति में निमग्न है तथा अतिशय सुन्दर या सबका मनभावन है ॥५॥

के पुनर्गुणा यद्भूषणं भगवान्दधातीत्याह—

त्वं जिन! गतमदमायस्तव भावानां मुमुक्षुकामद! मायः ।
श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः ॥६॥

त्वमित्यादि–हे जिन! कथंभूतस्त्वम्? गतमदमायः मदो दर्पो माया वञ्चना गते नष्टे मदमाये यस्य यस्माद्वा भव्यानां स गतमदमायः, यत एवं अत एव हे जिन तव अस्ति, कोऽसौ? मायः प्रमाणं केवलज्ञानलक्षणमागमस्वरूपं वा, केषां सम्बन्धी? भावानां जीवादिपदार्थानां, कथंभूतः? मुमुक्षुकामद मुमुक्षूणां मोक्षप्रकाङ्क्षिणां कामद मोक्षलक्षण-वाञ्छितफलप्रद, किंविशिष्टो मायः? श्रेयान् अतिशयेन प्रशस्यः, सकलबाधकरहितत्वात्, इत्थंभूतेन त्वया किं कृतं? समादेशि कथितः, कोऽसौ श्रीमदमायः श्रियो मदः श्रीमदस्तस्य मायो नाशः मीङ् हिंसायामित्यस्य कृतात्वस्यायं प्रयोगः अथवा श्रीः हेयोपादेयतत्त्व-परिज्ञानादिलक्षणा स्वर्गापवर्गादिप्रापकत्वलक्षणा वास्यास्तीति श्रीमान् स चासौ अमायश्च न विद्यते माया यस्येत्यमायोऽनुष्ठानविशेषः तथा सप्रयामदमायः त्वया समादेशि, यमो व्रतं यम एव यामः स्वार्थिकोऽण् प्रकृष्टो यामः प्रयामः सह प्रयामेन वर्तते इति सप्रयामः स चासौ दमश्च इन्द्रियजयः तस्यायमागमनम् ॥६॥

पुनः वे कौन से गुण हैं, जिन्हें भगवान् भूषण के समान धारण करते हैं? कहते हैं–

अन्वयार्थ–(मुमुक्षुकामद!) हे मोक्षाभिलाषी जीवों के मनोरथ को देने वाले (जिन!) वीर जिनेन्द्र! (त्वं) आप (गतमदमायः) गर्व और माया से रहित हैं तथा

(तव) आपका (भावानां) जीवादिपदार्थविषयक (मायः) केवलज्ञान अथवा आगमरूप प्रमाण (श्रेयान्) अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा प्रशंसनीय है । हे भगवन् ! (त्वया) आपने (श्रीमदमायः) लक्ष्मी के मद को नष्ट करने वाला अथवा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली श्रीलक्ष्मी से युक्त और माया से रहित (सप्रयामदमायः) श्रेष्ठ एवं प्रशस्त इन्द्रिय विजय का (समादेशि) उपदेश दिया है ।

भावार्थ—हे वीर जिन ! आप मद और माया तथा उपलक्षण से समस्त कषायों को नष्ट कर चुके हैं, मोक्ष की इच्छा रखते हुए जो भव्यजीव आपकी शरण में आते हैं, आप उन्हें मोक्ष प्रदान कर उनके मनोरथों को पूर्ण करते हैं । जीवादि पदार्थ विषयक आपका प्रमाण—केवलज्ञान अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा आपने भव्यजीवों को श्रेष्ठ महाव्रत और इन्द्रिय दमन का उत्तम उपदेश दिया है ॥६॥

अपरमपि भगवतो गुणान् स्तोतुमाह—

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः ।
तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥७॥

गिरिभित्यादि—हे जिन ! तव गतं गमनं ऊर्जितमुदारमुत्कृष्टं, किं कुर्वतः ? अवतो रक्षतः, कान् ? शमवादान् शमो दोषाणामुपशमः तस्य वादास्तत्प्रतिपादका आगमास्तान्, पुनरपि कथंभूतस्य ? अपगतप्रमादानवतः प्रकृष्टा मा हिंसा प्रमा, अपगता नष्टा प्रमा अपगतप्रमा अहिंसा, अपगतप्रमाया दानमपगतप्रमादानमभयदानं तदस्यास्तीत्यपगतप्रमादानवांस्तस्य दृष्टान्तमाह—श्रीमत इवेत्यादि—इव-शब्दो भिन्नक्रमो दन्तिन इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः दन्तिन इव हस्तिन इव गतमित्यर्थः, कथंभूतस्य दन्तिनः ? श्रीमतः सर्वलक्षणोपेतस्य भद्रजातेः, पुनरपि कथंभूतस्य ? स्रवद्दानवतः स्रवच्च तद्दानं च मदः स्रवद्दानं तद्विद्यते यस्यासौ स्रवद्दानवांस्तस्य, अनेन स्वायत्तं तस्य गमनं प्रतिपादितं, पुनरपि किंविशिष्टस्य ? गिरिभित्त्यवदानवतः गिरेः पर्वतस्य भित्तयः कटन्यस्तासामवदानं खण्डनं तद्विद्यते यस्यासौ गिरिभित्त्यवदानवांस्तस्य, अनेन महासामर्थ्यं तस्य सूचितम् ॥७॥

दूसरे प्रकार से भी भगवान् के गुणों की स्तुति करते हुए, कहते हैं—

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! (गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमतः स्रवद्दानवतः दन्तिनः इव) जिस प्रकार पहाड़ की कटनियों में पराक्रम से युक्त अर्थात् उनका विदारण करने वाले उत्तम जाति विशिष्ट तथा झरते हुए मद से सहित हाथी का (ऊर्जितं) बलशाली अर्थात् रुकावट से रहित (गतं) गमन होता है उसी तरह (शमवादान् अवतः) दोषों के उपशमन का उपदेश देने वाले शास्त्रों के रक्षक तथा (अपगतप्रमादानवतः) अभयदान

से युक्त (तव) आपका (ऊर्जितं) उत्कृष्ट (गतं) गमन–विहार हुआ था ।

भावार्थ–यहाँ हाथी का दृष्टान्त देते हुए, भगवान् महावीर के विहार का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार हाथी अपने गमन में रुकावट डालने वाले पर्वतों की दीवालों को गण्डस्थल की टक्कर से चूर-चूर कर आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार; हे भगवन्! आप भी अपने गमन में–वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन में रुकावट डालने वाले मिथ्यादृष्टियों को अनेकान्तमतरूप वज्र के प्रहार से पराजित कर आगे बढ़ते जाते थे। जिस प्रकार हाथी श्रीमान् सर्व लक्षण संपन्न अथवा उत्तम जाति का होता है, उसी प्रकार आप भी श्रीमान्–समवसरणरूप लक्ष्मी से युक्त थे। जिस प्रकार हाथी स्रवद्दान-वान्–झरते हुए मदजल से युक्त होता है, उसी प्रकार आप भी स्रवद्दानवान्–दिये जाने वाले दानों से सहित थे। जिस प्रकार हाथी शमवादान् अवतः–प्रेमपूर्ण मधुर शब्द बोलने वाले महावत आदि की रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी शमवादान् अवतः–रागादि दोषों के शमन करने का उपदेश देने वाले शास्त्रों की रक्षा करते थे और जिस प्रकार हाथी अपगतप्रमादान् अवतः–प्रमाद रहित–सावधान रहने वाले मनुष्यों की रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी अपगतप्रमादानवतः–हिंसा रहित–अभयदान से युक्त थे–जहाँ-जहाँ आपका विहार होता था वहाँ-वहाँ जीवों को अभय की प्राप्ति होती थी, कोई किसी को मार नहीं सकता था एवं जिस प्रकार हाथी का गमन ऊर्जित–बलिष्ठ–शक्तिसंपन्न होता है–उसे कोई रोक नहीं सकता है इसी प्रकार आपका गमन–विहार भी ऊर्जित–अत्यन्त उत्कृष्ट तथा स्वाधीन था, किसी की प्रेरणा से आपका विहार नहीं होता था और न किसी के रोकने पर रुकता था ।।७।।

अथ परकीयं मतं भवदीयं च मतं कीदृशमित्याह–-

बहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव! मतं समन्तभद्रं सकलम् ।।८।।

बहुगुणेत्यादि–बहवश्च ते गुणाश्च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वादयः तेषां संपत् संपत्तिस्तया असकलमसंपूर्णं परस्य मतं, अपि-शब्दादितरमपीति सम्बन्धः । पुनरपि कथंभूतं परमतं? मधुरवचनविन्यासकलं मधुराणि श्रुतिरमणीयानि तानि च तानि वचनानि च तेषां विन्यासो रचना तेन कलं मनोज्ञं । भवदीयं मतं कीदृशमित्याह–नयेत्यादि–हे देव तव मतं शासनं समन्तभद्रं समन्ताद् भद्रं निर्बाधत्वेन सर्वतः शोभनं समन्ताद्वा भद्राणि कल्याणानि यस्य यस्माद्वा भव्यानां तत्तथोक्तं किं किञ्चित् तथा भविष्यतीत्याह–सकलं समस्तं, पुनरपि कथंभूतमित्याह–नयभक्त्यवतंसकलं नया नैगमादयः तेषां भक्तयः स्यादस्तीत्यादिभङ्गाः

सेवा वा, ता एवावतंसकं कर्णभूषणं तल्लातीति नयभक्त्यवतंसकलमिति ।

[१]यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैः कृतः,
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
सद्व्याख्यानमदो यथावगमतः किञ्चित्कृतं लेशतः,
स्थेयाच्चन्द्रदिवाकरावधिबुधप्रह्लादिचेतस्यलम्[२] ॥१॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचितायां क्रियाकलाप-टीकायां गौतमादि-समन्तभद्रस्तुतिविवरणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

श्रीरस्तु कल्याणमस्तु

अब पर-मत और आपका-मत कैसा है ? सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हे देव!) हे वीर जिनदेव! (परमतं) अन्य एकान्तवादियों का शासन (मधुर-वचनविन्यासकलम् अपि) कर्णप्रिय वचनों के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी (बहुगुणसम्पदसकलं) अत्यधिक गुणरूप सम्पत्ति से विकल है परन्तु (तव) आपका (मतं) शासन (नयभक्त्यवतंसकलं) नैगमादि नयों से उत्पन्न स्यादस्तीत्यादि भङ्गरूप आभूषणों से मनोज्ञ है अथवा नयों की उपासनारूप कर्णाभरण को देने वाला है, (समन्तभद्रं) सब ओर से कल्याणकारक है और (सकलं) पूर्ण है ।

भावार्थ—यहाँ भगवान् वीर जिनेन्द्र के अनेकान्तमत तथा कपिल, सुगतादि के एकान्तमतों की तुलना करते हुए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! यद्यपि अन्यमत मधुर वचनों के कलापूर्ण विन्यास से प्रिय हैं—श्रवण करने में अच्छे लगते हैं तथापि सत्यशासन के योग्य जो यथार्थवादिता तथा परहितकारिता आदि गुण हैं; उनसे विकल हैं, परन्तु आपका मत, नयों से उत्पन्न सप्तभङ्गीरूप आभूषणों से मनोज्ञ है, नयों के प्रयोग से विभिन्न-विभिन्न अभिप्राय रखने वाले श्रोताओं के लिये प्रिय है अथवा नयों की उपासना से युक्त है, परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादक होने से सकल है—पूर्ण है और समन्तभद्र—सब ओर से कल्याण करने वाला है । यहाँ 'समन्तभद्रं' इस श्लेषात्मक पद द्वारा ग्रन्थकर्ता ने अपने समन्तभद्र नाम की सूचना भी दी है ॥८॥

इति वीरजिनस्तवनम्

॥ श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचितं स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम् ॥

१.यह श्लोक संस्कृत टीकाकार का प्रशस्ति पद्य है । २.चैतस्यदः ख-प्रतौ

ॐ

श्रीमत्समन्तभद्राचार्य-विरचितम्

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्

(मूलपाठः)

श्री वृषभजिनस्तवनम्

वंशस्थ-छन्दः

स्वयम्भुवा भूत-हितेन भूतले, समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः, शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

विहाय यः सागर-वारि-वाससं, वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्, प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा, निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्म-पदाऽमृतेश्वरः ॥४॥

स विश्व-चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्र-विद्याऽऽत्म-वपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनो जित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ॥५॥

श्री अजितजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

यस्य प्रभावात् त्रिदिव-च्युतस्य, क्रीडास्वपि क्षीवमुखाऽरविन्दः।
अजेय-शक्तिर्भुवि बन्धु-वर्गश्चकार नामाऽजित इत्यवन्ध्यम् ॥१॥

अद्याऽपि यस्याऽजित-शासनस्य, सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं, स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥२॥

यः प्रादुरासीत् प्रभु-शक्ति-भूम्ना, भव्याऽऽशयालीन-कलङ्क-शान्त्यै।
महामुनिर्मुक्त-घनोपदेहो, यथाऽरविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान् ॥३॥

येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं, ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन-पङ्क-शीतं, गज-प्रवेका इव घर्म-तप्ताः ॥४॥

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-र्विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः।
लब्धात्मलक्ष्मी-रजितोऽजितात्मा, [1]जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥५॥

---

१. 'जिनः श्रियं' इति पाठान्तरम्।

श्री शम्भवजिनस्तवनम्

इन्द्रवज्रा-छन्दः

त्वं [1]शम्भवः संभव-तर्ष-रोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाऽऽकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

उपेन्द्रवज्रा-छन्दः

अनित्य-मत्राण-महंक्रियाभिः, प्रसक्त-मिथ्याऽध्यवसाय-दोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जराऽन्तकार्त्तं, निरञ्जनां शान्ति-मजीगमस्त्वम् ॥२॥

उपजातिछन्दः

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं, तृष्णाऽऽमयाऽऽप्यायनमात्र-हेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

इन्द्रवज्राछन्दः

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू, बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं, नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

उपजातिछन्दः

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः, स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथाऽपि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो, ममार्य ! देयाः शिवताति-मुच्चैः ॥५॥

श्री अभिनन्दनजिनस्तवनम्

वंशस्थ-छन्दः

गुणाऽभिनन्दादभिनन्दनो भवान्, दया-वधूं क्षान्ति-सखीमशिश्रियत् ।
समाधि-तन्त्रस्तदुपोपपत्तये, द्वयेन नैर्ग्रन्थ्य-गुणेन चाऽयुजत् ॥१॥

अचेतने तत्कृत-बन्धजेऽपि च, ममेद-मित्याभिनिवेशिकग्रहात् ।
प्रभङ्गुरे स्थावर-निश्चयेन च, क्षतं जगत्तत्त्व-मजिग्रहद् भवान् ॥२॥

क्षुदादि-दुःख-प्रतिकारतः स्थिति-र्न चेन्द्रियार्थ-प्रभवाल्प-सौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देह-देहिनो-रितीद-मित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥३॥

जनोऽति-लोलोऽप्यनुबन्ध-दोषतो, भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाऽप्यमुत्राऽप्यनुबन्ध-दोषवित्, कथं सुखे संसजतीति चाऽब्रवीत् ॥४॥

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्, तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं, ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥

---

१. 'संभवः' इति पाठान्तरम् ।

श्री सुमतिजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

अन्वर्थसंज्ञः सुमति-र्मुनिस्त्वं, स्वयं मतं येन सुयुक्ति-नीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति, सर्व-क्रिया-कारक-तत्त्व-सिद्धिः ।।१।।

अनेक-मेकं च तदेव तत्त्वं, भेदाऽन्वय-ज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ।।२।।

सतः कथञ्चित् तदसत्त्व-शक्तिः, खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्व-स्वभाव-च्युत-मप्रमाणं, स्व-वाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ।।३।।

न सर्वथा नित्य-मुदेत्यपैति, न च क्रिया-कारक-मत्र युक्तम् ।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमःपुद्गल-भावतोऽस्ति ।।४।।

विधि-र्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ, विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं, मति-प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ! ।।५।।

श्री पद्मप्रभजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

पद्मप्रभः पद्म-पलाश-लेश्यः, पद्मालयाऽऽलिङ्गित-चारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्य-पयोरुहाणां, पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ।।१।।

बभार पद्मां च सरस्वतीं च, भवान् पुरस्तात् प्रतिमुक्ति-लक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्र-शोभां, सर्वज्ञ-लक्ष्मी-[1]ज्वलितां विमुक्तः ।।२।।

शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते, बालार्क-रश्मिच्छवि-राऽऽलिलेप ।
नराऽमराऽऽकीर्ण-सभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभ-मणेः स्वसानुम् ।।३।।

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं, सहस्रपत्राऽम्बुज-गर्भचारैः ।
पादाऽम्बुजैः पातित-मार-दर्पो, भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ।।४।।

गुणाम्बुधे-र्विप्रुष-मप्यजस्रं[2], नाऽऽखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुताऽतिभक्ति-र्मां बालमालापयतीद-मित्थम् ।।५।।

---

१. 'लक्ष्मीं ज्वलितां' इति पाठान्तरम् । २. 'अजस्य' इति पाठान्तरम् ।

श्री सुपार्श्वजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिक-मेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति-रितीद-माख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ।।१।।

अजङ्गमं जङ्गम-नेय-यन्त्रं, यथा तथा जीव-धृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च, स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ।।२।।

अलङ्घ्य-शक्ति-र्भवितव्यतेयं, हेतु-द्वयाऽऽविष्कृत-कार्य-लिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तु-रहंक्रियार्त्तः, संहत्य-कार्येष्विति साध्ववादीः ।।३।।

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्यं शिवं वाञ्छति नाऽस्य लाभः ।
तथाऽपि बालो भय-काम-वश्यो, वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ।।४।।

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता, मातेव बालस्य हिताऽनुशास्ता ।
गुणाऽवलोकस्य जनस्य नेता, मयाऽपि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ।।५।।

श्री चन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

चन्द्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं, चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं, जिनं जित-स्वान्त-कषाय-बन्धम् ।।१।।

यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेष-भिन्नं, तमस्तमोरे-रिव रश्मि-भिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च, ध्यान-प्रदीपाऽतिशयेन भिन्नम् ।।२।।

स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदावलिप्ता, वाक्-सिंहनादै-र्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा, गजा यथा केसरिणो निनादैः ।।३।।

यः सर्व-लोके परमेष्ठितायाः, पदं बभूवाऽद्भुत-कर्मतेजाः ।
अनन्त-धामाऽक्षर-विश्वचक्षुः, समन्तदुःख-क्षय-शासनश्च ।।४।।

स चन्द्रमा भव्य-कुमुद्वतीनां, विपन्न-दोषाऽभ्र-कलङ्क-लेपः ।
व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः, पूयात् पवित्रो भगवान् मनो मे ।।५।।

श्री सुविधिजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि तत्त्वं, प्रमाण-सिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना, नैतत् समालीढ-पदं त्वदन्यैः ॥१॥

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्, तथा-प्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नाऽत्यन्त-मन्यत्व-मनन्यता च, विधेर्निषेधस्य च शून्य-दोषात् ॥२॥

नित्यं तदेवेद-मिति प्रतीते-र्न नित्य-मन्यत्प्रतिपत्ति-सिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग-निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥३॥

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या ।
आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणाऽनपेक्षेऽनियमेऽपवादः ॥४॥

गुण-प्रधानार्थ-मिदं हि वाक्यं, जिनस्य ते तद् द्विषता-मपथ्यम् ।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां, ममाऽपि साधोस्तव पादपद्मम् ॥५॥

प्रज्ञाश्रमण मुनि

श्री शीतलजिनस्तवनम्

वंशस्थछन्दः

न शीतलाश्चन्दन-चन्द्र-रश्मयो, न गाङ्गमम्भो न च हार-यष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्य-रश्मयः, शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥१॥

सुखाऽभिलाषाऽनल-दाह-मूर्च्छितं, मनो निजं ज्ञान-मयाऽमृताऽम्बुभिः ।
व्यदिध्यपस्त्वं विष-दाह-मोहितं, यथा भिषग् मन्त्र-गुणैः स्व-विग्रहम् ॥२॥

स्व-जीविते काम-सुखे च तृष्णया, दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य ! नक्तंदिव-मप्रमत्तवा-नजागरेवाऽऽत्म-विशुद्ध-वर्त्मनि ॥३॥

अपत्य-वित्तोत्तर-लोक-तृष्णया, तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्म-जरा-जिहासया, त्रयीं प्रवृत्तिं समधी-रवारुणत् ॥४॥

त्वमुत्तम-ज्योति-रजः क्व निर्वृतः, क्व ते परे बुद्धि-लवोद्धव-क्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयस-भावनापरै-र्बुधप्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे ॥५॥

श्री श्रेयोजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः, श्रेयः प्रजाः शास-दजेय-वाक्यः ।
भवांश्चकासे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीत-घनो विवस्वान् ॥१॥

विधि-र्विषक्त-प्रतिषेधरूपः, प्रमाण-मत्राऽन्यतरत्प्रधानम् ।
गुणोऽपरो मुख्य-नियाम-हेतु-र्नयः स दृष्टान्त-समर्थनस्ते ॥२॥

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो, गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथाऽरि-मित्राऽनुभयादि-शक्ति-र्द्वयावधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥३॥

दृष्टान्त-सिद्धावुभयो-र्विवादे, साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति ।
यत्सर्वथैकान्त-नियामि दृष्टं, त्वदीय-दृष्टि-र्विभवत्यशेषे ॥४॥

एकान्त-दृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-र्न्यायेषुभि-र्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्य-विभूति-सम्राट्, ततस्त्व-मर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५॥

श्री वासुपूज्यजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

शिवासु पूज्योऽभ्युदय-क्रियासु, त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्र-पूज्यः ।
मयाऽपि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र, ! दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥१॥

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवान्त-वैरे ।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः, [1]पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥२॥

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य, सावद्य-लेशो बहु-पुण्य-राशौ ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य, न दूषिका शीत-शिवाऽम्बुराशौ ॥३॥

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोष-सूते-र्निमित्त-मभ्यन्तर-मूलहेतोः ।
अध्यात्म-वृत्तस्य तदङ्गभूत-मभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥४॥

बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवाऽन्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां, तेनाऽभिवन्द्यस्त्व-मृषिर्बुधानाम् ॥५॥

१. 'पुनातु' सम्पादन में प्रयुक्त प्रतियों का पाठ

श्री विमलजिनस्तवनम्

वंशस्थछन्दः

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया, मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः, परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥१॥

यथैकशः कारक-मर्थ-सिद्धये, समीक्ष्य शेषं स्व-सहाय-कारकम् ।
तथैव सामान्य-विशेष-मातृका, नयास्तवेष्टा गुण-मुख्य-कल्पतः ॥२॥

परस्परेक्षाऽन्वय-भेद-लिङ्गतः, प्रसिद्ध-सामान्य-विशेषयोस्तव ।
समग्रताऽस्ति स्व-पराऽवभासकं, यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि-लक्षणम् ॥३॥

विशेष्य-वाच्यस्य विशेषणं वचो, यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्य-मतिप्रसज्यते, विवक्षितात् स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥४॥

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लाञ्छिता, रसोपविद्धा इव लोह-धातवः ।
भवन्त्यभिप्रेत-गुणा यतस्ततो, भवन्तमार्याः [1]प्रणता हितैषिणः ॥५॥

श्री अनन्तजिनस्तवनम्

वंशस्थछन्दः

अनन्त-दोषाऽऽशय-विग्रहो ग्रहो, विषङ्गवान् मोह-मयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता, त्वया ततोऽभूर्भगवा-ननन्तजित् ॥१॥

कषाय-नाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-मशेषयन् नाम भवा-नशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं, समाधि-भैषज्य-गुणै-र्व्यलीनयत्[2] ॥२॥

परिश्रमाऽम्बुर्भय-वीचि-मालिनी, त्वया स्वतृष्णा-सरिदार्य ! शोषिता ।
असङ्ग-घर्मार्क-गभस्ति-तेजसा, परं ततो निर्वृति-धाम तावकम् ॥३॥

सुहृत् त्वयि श्री-सुभगत्व-मश्नुते, द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीन-तमस् तयोरपि, प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥४॥

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम, प्रलाप-लेशोऽल्प-मते-र्महामुने ! ।
अशेष-माहात्म्य-मनीरयन्नपि, शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥५॥

---

१. 'प्रणुता' इति पाठान्तरम् २.'विलीनयत्' इति पाठान्तरम्

श्री धर्मजिनस्तवनम्

रथोद्धताछन्दः

धर्म-तीर्थ-मनघं प्रवर्तयन्, धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्म-कक्ष-मदहत् तपोऽग्निभिः, शर्म शाश्वत-मवाप शङ्करः ॥१॥

देव-मानव-निकाय-सत्तमै, रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः ।
तारका-परिवृतोऽतिपुष्कलो, व्योमनीव शश-लाञ्छनोऽमलः ॥२॥

प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो, देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्ग-मशिषन्नरामरान्, नाऽपि शासन-फलैषणाऽऽतुरः ॥३॥

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो, नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो, धीर ! तावक-मचिन्त्य-मीहितम् ॥४॥

मानुषीं प्रकृति-मभ्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ ! परमाऽसि देवता, श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥५॥

श्री शान्तिजिनस्तवनम्

उपजातिछन्दः

विधाय रक्षां परतः प्रजानां, राजा चिरं योऽप्रतिम-प्रतापः ।
व्यधात् पुरस्तात् स्वत एव शान्ति-र्मुनि-र्दयामूर्ति-रिवाघ-शान्तिम् ॥१॥

चक्रेण यः शत्रु-भयङ्करेण, जित्वा नृपः सर्व-नरेन्द्र-चक्रम् ।
समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय, महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम् ॥२॥

राज-श्रिया राजसु राज-सिंहो, रराज यो राज-सुभोग-तन्त्रः ।
आर्हन्त्य-लक्ष्म्या पुनरात्म-तन्त्रो, देवाऽसुरोदार-सभे रराज ॥३॥

यस्मिन्नभूद् राजनि राज-चक्रं, मुनौ दया-दीधिति-धर्म-चक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देव-चक्रं, ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्त-चक्रम् ॥४॥

स्वदोष-शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः, शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै, शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥५॥

श्री कुन्थुजिनस्तवनम्

वसन्ततिलकाछन्दः

कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्त्व-दयैकतानः, कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै।
त्वं धर्म-चक्रमिह वर्तयसिस्म भूत्यै, भूत्वा पुरा क्षिति-पतीश्वर-चक्रपाणिः ॥१॥

तृष्णाऽर्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-मिष्टेन्द्रियार्थ-विभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव काय-परिताप-हरं निमित्त-मित्यात्मवान् विषय-सौख्य-पराङ्मुखोऽभूत् ॥२॥

बाह्यं तपः परम-दुश्चरमाऽऽचरंस्त्व-माऽऽध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुष-द्वयमुत्तरस्मिन्[1], ध्यान-द्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥३॥

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्त्रो, रत्नत्रयाऽतिशय-तेजसि जात-वीर्यः।
बभ्राजिषे सकल-वेद-विधेर्विनेता, व्यभ्रे यथा वियति दीप्त-रुचिर्विवस्वान् ॥४॥

यस्मान्मुनीन्द्र ! तव लोक-पितामहाद्या, विद्या-विभूति-कणिकामपि नाप्नुवन्ति।
तस्माद् भवन्त-मज-मप्रतिमेय-माऽऽर्याः, स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्व-हितैकतानाः ॥५॥

श्री अरजिनस्तवनम्

पथ्यावक्त्र-छन्दः

गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य, तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात् ते गुणा वक्तु-मशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१॥

तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य, यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्ते-र्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥२॥

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं, मुमुक्षोश्चक्र-लाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते, जरत्तृण-मिवाभवत् ॥३॥

तव रूपस्य सौन्दर्यं, दृष्ट्वा तृप्ति-मनापिवान् ।
द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो, बभूव बहु-विस्मयः ॥४॥

मोहरूपो रिपुः पापः, कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-[2]संवि-दुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥५॥

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे, त्वयि प्रतिहतोदयः ॥६॥

---

१. 'उत्तरेऽस्मिन्' इति पाठान्तरम् २. 'संप' सम्पादन में उपयुक्त प्रतियों का पाठ

आयत्यां च तदात्वे च, दुःख-योनि-र्दुरुत्तरा ।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा, विद्या-नावा विविक्तया ॥०७॥
अन्तकः क्रन्दको नृणां, जन्म-ज्वर-सखः सदा ।
त्वामन्तकाऽन्तकं प्राप्य, व्यावृत्तः काम-कारतः ॥०८॥
भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागि, विद्या-दम-दया-परम् ।
रूपमेव तवाऽऽचष्टे, धीर ! दोष-विनिग्रहम् ॥०९॥
समन्ततोऽङ्गभासां ते, परिवेषेण भूयसा ।
तमो बाह्य-मपाकीर्ण-मध्यात्मं ध्यान-तेजसा ॥१०॥
सर्वज्ञ-ज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः ।
कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते, सत्त्वं नाथ ! सचेतनम् ॥११॥
तव वागमृतं श्रीमत्सर्व-भाषा-स्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्, प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१२॥
अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते, सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३॥
ये पर-स्खलितोन्निद्राः, स्व-दोषेभ-निमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्यु-रपात्रं त्वन्मत-श्रियः ॥१४॥
ते तं स्वघातिनं दोषं, शमी-कर्तु-मनीश्वराः ।
त्वद्‌द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वाऽवक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥
सदेक-नित्य-वक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति, पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥१६॥
सर्वथा-नियम-त्यागी, यथादृष्ट-मपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये, नान्येषा-मात्मविद्विषाम् ॥१७॥
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः, प्रमाण-नय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१८॥

अपरवक्त्रछन्दः

इति निरुपम-युक्त-शासनः[1], प्रिय-हित-योग-गुणाऽनुशासनः ।
अरजिन ! दम-तीर्थ-नायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ॥१९॥
मति-गुण-विभवानुरूपत-स्त्वयि वरदाऽऽगम-दृष्टिरूपतः ।
गुण-कृशमपि किञ्चनोदितं, मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥२०॥

---

१. 'युक्ति-शासन' इति ख-प्रतौ पाठान्तरम्

श्री मल्लिजिनस्तवनम्

(सान्द्रपदं छन्दः) अथवा (श्रीछन्दः) अथवा (वानवासिकाछन्दः)

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
साऽमर-मर्त्यं जगदपि सर्वं, प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपततिस्म ॥१॥

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव, स्व-स्फुरदाभा-कृत-परिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितु-कामा, स्यात्पद-पूर्वा रमयति साधून् ॥२॥

यस्य पुरस्ताद् विगलित-माना, न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।
भूरपि रम्या प्रतिपद-मासी-ज्ञात-विकोशाम्बुज-मृदु-हासा ॥३॥

यस्य समन्ताज्जिन-शिशिरांशोः, शिष्यक-साधु-ग्रह-विभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्वं जनन-समुद्र-त्रासित-सत्त्वोत्तरण-पथोऽग्रम् ॥४॥

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-र्ध्यान-मनन्तं दुरित-मधाक्षीत् ।
तं जिन-सिंहं कृत-करणीयं मल्लि-मशल्यं शरण-मितोऽस्मि ॥५॥

प्रशमश्रमण मुनि

श्री मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

वैतालीयं छन्दः

अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थिति-र्मुनि-वृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनि-परिषदि निर्बभौ भवा-नुडु-परिषत्परिवीत-सोमवत् ॥१॥

परिणत-शिखि-कण्ठ-रागया, कृत-मद-निग्रह-विग्रहाऽऽभया ।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया, ग्रह-परिवेष-रुचेव शोभितम् ॥२॥

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहितं, सुरभि-तरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमति-विस्मयं यते !, यदपि च वाङ्मनसीय-मीहितम् ॥३॥

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं, चर-मचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन ! सकलज्ञ-लाञ्छनं, वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

दुरित-मल-कलङ्क-मष्टकं, निरुपम-योग-बलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्, भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥५॥

श्री नमिजिनस्तवनम्

शिखरिणीछन्दः

स्तुतिः स्तोतुः साधोः, कुशल-परिणामाय स तदा ,
भवेन्मा वा स्तुत्यः, फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायस-पथे ,
स्तुयान्न त्वां विद्वान्, सतत-मभिपूज्यं नमि-जिनम् ॥१॥

त्वया धीमन् ! ब्रह्म-प्रणिधि-मनसा जन्म-निगलं ,
समूलं निर्भिन्नं, त्वमसि विदुषां मोक्ष-पदवी ।
त्वयि ज्ञान-ज्योति-र्विभव-किरणैर्भाति भगव-,
न्नभूवन्खद्योता, इव शुचि-रवावन्य-मतयः ॥२॥

विधेयं वार्यं चाऽनुभय-मुभयं मिश्रमपि तद् ,
विशेषैः प्रत्येकं, नियम-विषयैश्चापरिमितैः ।
सदाऽन्योन्यापेक्षैः, सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुणा ,
त्वया गीतं तत्त्वं, बहु-नय-विवक्षेतर-वशात् ॥३॥

अहिंसा भूतानां, जगति विदितं ब्रह्म परमं ,
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राऽऽश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं, परम-करुणो ग्रन्थमुभयं ,
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ॥४॥

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधि-रहितं शान्त-करणं ,
यतस्ते संचष्टे, स्मर-शर-विषाऽऽतङ्क-विजयम् ।
विना भीमैः शस्त्रै-रदय-हृदयाऽमर्ष-विलयं ,
ततस्त्वं निर्मोहः, शरणमसि नः शान्ति-निलयः ॥५॥

श्री अरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

विषमजातौ उद्गतानाम छन्दः

भगवानृषिः परम-योग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः ।
ज्ञान-विपुल-किरणैः सकलं, प्रतिबुद्ध्य बुद्ध-कमलायतेक्षणः ॥१॥

हरिवंश-केतु-रनवद्य-विनय-दम-तीर्थ-नायकः ।
शील-जलधि-रभवो विभव-स्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-किरण-विसरोपचुम्बितम् ।
पाद-युगल-ममलं भवतो, विकसत्कुशेशय-दलाऽरुणोदरम् ।।३।।

नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाऽति-रुचिर-शिखराऽङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः, प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः ।।४।।

द्युति-मद्रथाङ्ग-रवि-बिम्ब-किरण-जटिलांशु-मण्डलः ।
नील-जलद-जल-राशि-वपुः, सह बन्धुभि-र्गरुड-केतु-रीश्वरः ।।५।।

हलभृच्च ते स्वजनभक्ति-मुदित-हृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्म-विनय-रसिकौ सुतरां, चरणाऽरविन्द-युगलं प्रणेमतुः ।।६।।

ककुदं भुवः खचर-योषि-दुषित-शिखरै-रलङ्कृतः ।
मेघ-पटल-परिवीत-तटस् तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ।।७।।

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च, सतत-मभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो, भृश-मूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ।।८।।

बहिरन्त-रप्युभयथा च, करण-मविघाति नाऽर्थकृत् ।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलाऽऽमलकवद् विवेदिथ ।।९।।

अत एव ते बुध-नुतस्य, चरित-गुण-मद्भुतोदयम् ।
न्याय-विहित-मवधार्य जिने, त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम् ।।१०।।

श्री पार्श्वजिनस्तवनम्

वंशस्थच्छन्दः

तमाल-नीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः, प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः ।
बलाहकै-र्वैरि-वशैरुपद्रुतो, महामना यो न चचाल योगतः ।।१।।

बृहत्फणा-मण्डल-मण्डपेन यं, स्फुरत्तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं, विराग-सन्ध्या-तडिदम्बुदो यथा ।।२।।

स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया, निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम् ।
अवापदाऽऽर्हन्त्य-मचिन्त्य-मद्भुतं, त्रि-लोक-पूजाऽतिशयाऽऽस्पदं पदम् ।।३।।

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं, तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्व-श्रम-वन्ध्य-बुद्धयः, शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ।।४।।

स सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः, समग्र-धीरुग्र-कुलाऽम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते, विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः ।।५।।

श्री वीरजिनस्तवनम्

स्कन्धकछन्दः अथवा आर्यागीति छन्दः

कीर्त्या भुवि भासि तया, वीर ! त्वं गुण-समुच्छ्रया भासितया।
भासोडुसभाऽऽसितया, सोम इव व्योम्नि कुन्द-शोभाऽऽसितया ॥१॥

तव जिन ! शासन-विभवो, जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः।
दोष-कशाऽसनविभवः, स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कृशाऽऽसनविभवः ॥२॥

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाऽविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो, द्वितय-विरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥३॥

त्वमसि सुराऽसुर-महितो, ग्रन्थिक-सत्त्वाऽऽशय-प्रणामाऽमहितः।
लोक-त्रय-परम-हितोऽनावरण-ज्योतिरुज्ज्वलद्धाम-हितः ॥४॥

सभ्याना-मभिरुचितं, दधासि गुण-भूषणं श्रिया चारु-चितम्।
मग्नं स्वस्यां रुचि तं, जयसि च मृग-लाञ्छनं स्व-कान्त्या रुचितम् ॥५॥

त्वं जिन ! गत-मद-मायस् तव भावानां मुमुक्षु-कामद ! मायः।
श्रेयान् श्रीमदमायस्, त्वया समादेशि सप्रयाम-दमाऽयः ॥६॥

गिरिभित्त्यवदान-वतः, श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दान-वतः।
तव शम-वादानऽवतो, गत-मूर्जित-मपगतप्रमा-दान-वतः ॥७॥

बहुगुण-सम्प-दसकलं, परमत-मपि मधुर-वचन-विन्यास-कलम्।
नय-भक्त्यवतंसक-लं, तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥८॥

॥ श्री समन्तभद्राचार्यविरचितं स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम् ॥

अकारादिक्रमेण श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ
अ	
अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि	२१
अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं	४२
अत एव ते बुधनुतस्य	१५५
अद्यापि यस्याजितशासनस्य	१०
अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्	१३५
अनन्तदोषाशयविग्रहो	८९
अनवद्यः स्याद्वादस्तव	१६४
अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः	१५
अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं	५८
अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं	२७
अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते	१२१
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः	१२७
अन्तकः क्रन्दको नृणां	११७
अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं	२६
अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया	६५
अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं	४३
अहिंसा भूतानां जगति	१४५
आयत्यां च तदात्वे च	११६
इ	
इति निरुपमयुक्तशासनः	१२८
ए	
एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं	५३
एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः	७२
क	
ककुदं भुवः खचरयोषि	१५३
कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्	११५
कषायनाम्नां द्विषतां	९०
कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो	९८
कीर्त्या भुवि भासि तया	१६२
कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्व	१०६
क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः	२२
ग	
गिरिभित्त्यवदानवतः	१६७
गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं	६०
गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य	११२
गुणाभिनन्दादभिनन्दनो	२०
गुणाम्बुधेर्विप्रुष	३९
च	
चक्रेण यः शत्रुभयङ्करेण	१०१
चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं	४८
ज	
जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्ध	२३
त	
तथापि ते मुनीन्द्रस्य	११२
तदेव च स्यान्न तदेव च	५४
तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः	१५७
तव जिन ! शासनविभवो	१६३
तव रूपस्य सौन्दर्यं	११४
तव वागमृतं श्रीमत्	१२१
तृष्णार्चिषः परिदहन्ति	१०७
ते तं स्वघातिनं दोषं	१२४
त्वमसि सुरासुरमहितो	१६४
त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं	९३
त्वमुत्तमज्योतिरजः„¯	६६
त्वं जिन ! गतमदमायस्तव	१६६
त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः	१४
त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधि	१४२
त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्न	१५१

श्लोक	पृष्ठ
द	
दुरितमलकलङ्कमष्टकं	१३९
दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे	७१
देवमानवनिकायसत्तमै	९६
द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्ब	१५२
ध	
धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्	९५
न	
नखचन्द्ररश्मिकवचाति	१५१
न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे	७५
नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं	३८
नयास्तव स्यात्पदसत्य	८७
न शीतलाश्चन्दनचन्द्र	६२
न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति	३०
नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्	५६
प	
पद्मप्रभः पद्मपलाश	३४
परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः	८४
परिणतशिखिकण्ठरागया	१३६
परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी	९१
पूज्यं जिनं त्वार्चयतो	७६
प्रजापतिर्यः प्रथमं	३
प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो	९७
ब	
बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च	१६
बभार पद्मां च सरस्वतीं	३५
बहिरन्तरप्युभयथा च	१५५
बहुगुणसंपदसकलं	१६८
बाह्यं तपः परमदुश्चर	१०८
बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं	७८
बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति	४५
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन	१५८
भ	
भगवानृषिः परमयोग	१४९
भूषावेषायुधत्यागि	११८
म	
मतिगुणविभवानुरूपतस्	१२९
मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्	९९
मोहरूपो रिपुः पापः	११४
य	
यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः	७७
य एव नित्यक्षणिकादयो	८१
यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्ति	१०
यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः	५०
यथैकशः कारकमर्थसिद्धये	८२
यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत	१५९
यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि	१३३
यस्य च मूर्तिः कनकमयीव	१३१
यस्य पुरस्ताद् विगलितमाना	१३१
यस्य प्रभावात्त्रिदिवच्युतस्य	९
यस्य महर्षेः सकलपदार्थ	१३०
यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः	१३२
यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेष	४९
यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपिता	१११
यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं	१०३
ये परस्खलितोन्निद्राः	१२३
येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं	११
र	
राजश्रिया राजसु राजसिंहो	१०२

श्लोक	पृष्ठ
ल	
लक्ष्मीविभवसर्वस्वं	११३
व	
वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं	१४७
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च	१५४
विधाय रक्षां परतः प्रजानां	१००
विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः	६९
विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ	३२
विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं	१४४
विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो	७०
विशेषवाच्यस्य विशेषणं वचो	८६
विहायः यः सागरवारि	४
श	
शक्रोऽप्यशक्तस्तव	१८
शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं	१६
शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते	३७
शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं	१३७
शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु	७४
श्रेयान् जिनः श्रेयसि	६८
स	
स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां	५१
स चानुबन्धोऽस्य जनस्य	२४
सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः	२८
सदेकनित्यवक्तव्यास्	१२५

श्लोक	पृष्ठ
स ब्रह्मनिष्ठः सममित्र	१२
सभ्यानामभिरुचितं	१६५
समन्ततोऽङ्गभासां ते	११९
सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्	४६
सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्	१२०
सर्वथानियमत्यागी	१२६
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः	७
स सत्यविद्यातपसां	१६१
सुखाभिलाषानलदाह	६३
सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते	९२
स्तुतिः स्तोतुः साधोः	१४१
स्थितिजननिरोधलक्षणं	१३८
स्वजीविते कामसुखे च	६४
स्वदोषशान्त्या विहितात्म	१०४
स्वदोषमूलं स्वसमाधि	५
स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता	५०
स्वयोगनिस्त्रिंशनिशात	१५९
स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले	१
स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष	४१
ह	
हरिवंशकेतुरनवद्य	१४९
हलभृच्च ते स्वजन	१५२
हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृती	१०९